भक्त-चरितावली

(पहला भाग)

लेखक

श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक

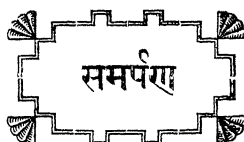
हिन्दी प्रेस, प्रयाग

प्रथम बार १५०० | सन् १६२६ | मूल्य २ रुपये

मुद्रक और प्रकाशक
रघुनन्दन शर्म्मा, हिन्दी प्रेस, प्रयाग

विषय-सूची

समर्पण और भूमिका



नाथ ! इस अधम को नर्मदा किनारे से यहाँ पकड़ कर ले आये। इस निर्जन, शान्त, एकान्त स्थान में मनोरम और रम्य कुटिया प्रदान की। दवात, क़लम और काग़ज़ भी लाकर जुटा दिये। इस घोर निर्जन प्रदेश में सैकड़ों आवश्यकीय पुस्तकें एकत्रित कर दीं। इस पामर प्राणी का हाथ पकड़ कर तुम लिखवाते गये।

कृपालो ! सभी कुछ तो तुमने कराया, सभी वस्तुओं के विधाता होने के कारण, संसार की सभी वस्तु तो आपकी है, मेरा इसमें क्या है? जब सभी वस्तु तुम्हारी है, तो फिर तुम्हारी चीज़ को तुम्हें किस प्रकार अर्पण करूँ ?

दयानिधे ! भले ही आप सब वस्तुओं के स्वामी हों, परन्तु इस क्षुद्र प्राणी की भी एक वस्तु है। वह है इस अधम का "अभिमान" 'यह मैंने किया' यह अहङ्कृतिभाव इस पापात्मा का निजी है।

अशरणशरण ! मैं अपनी इस प्यारी सम्पत्ति को आपके श्रीचरणों में सर्वतोभावेन समर्पित करके सम्पत्तिहीन होना चाहता हूँ। सर्वाधार ! क्या इस पापी की यह भेंट स्वीकृत हो सकेगी ?

जगत्पते ! यदि इस अहंकाराधिपति की यह भेंट स्वीकृत करली गई, तो यह दीन, हीन, कंगाल सदा आपकी कृतज्ञता के गीत गाता रहेगा।

स्वामिन्! इस भेंट के स्वीकृत होने पर यह अधम सदा के लिए आपका क्रीतदास बन जायगा। फिर तो यह कंगाल सम्पत्तिहीन होकर सदा आपके पाद-पद्मों में लोट लगाता रहेगा और अपने अश्रुओं से आपके चरण-कमलों को निरन्तर पखारता रहेगा। दीनबन्धो! क्या इस दीन की यह भेंट स्वीकृत होगी?

हंस-तीर्थ, झूसी, प्रयाग
फाल्गुन-शुक्ला, षष्ठी, ८४

चरण-रज-रञ्जनेच्छुक
"प्रभु"

पुस्तक की भूमिका

(विशेष वक्तव्य)

बाजीगर जिस प्रकार मर्कट को अपनी इच्छा के अनुसार जैसे नचाना चाहता है वैसे ही नचाता है, लाख प्रयत्न करने पर भी वह अपनी मनमानी नहीं कर सकता, उसी प्रकार प्रकृति-नटी की इस रंगस्थली में सर्व-नियन्ता जगदाधार इन असंख्य जीवों को अपने इच्छानुसार ही सर्वदा नचाता रहता है। अभिमान के वशीभूत होकर यह अल्पज्ञ प्राणी असंख्य बातें सोचता रहता है, परन्तु उसका सोचना वृथा है, उसके सोचने से होता ही क्या है ? उसने जिसके नृत्य का, जितने समय तक, जो नियम निर्धारित कर दिया है, वह उसके विरुद्ध तिल भर भी इधर-उधर नही जा सकता। मनमोदक कोई कितने ही खाता रहे, किन्तु उनका खाना व्यर्थ है, भला उनसे कभी बुभुक्षा शान्त हो सकती है ?

महाव्याधि से निवृत्त होकर इच्छा थी कि अबके कुछ भी झंझट न पालूँगा। न तो किसी से मिलूँगा, न किसी को पत्र लिखूँगा, न पुस्तकों तथा पत्रो का ही संग्रह करूँगा। बस, नर्मदाजी के किनारे जाकर घोर जंगलों मे वास करूँगा। किसी से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखने का। बस, आँख मूँद कर गाँव में गये, दो, चार, छै, दस घरों से आवश्यकतानुसार मधुकरी

माँग लाये। रेवाजी के रम्य तट पर बैठ कर उन्हें पा लिया, जल पिया और निर्द्वन्द्व होकर भगवच्चिन्तन करते रहे। 'न ऊधो का लेना न माधो का देना' जब भगवान् इस यन्त्र से जो काम लेना चाहेंगे, योग्य बनाकर वे ले लेंगे।

ये इस बेहूदे मन के विचार थे, जो अपने को सर्वेसर्वा माने बैठा है। अहंकार की सहायता से जो सैकड़ों ख़याली क़िले बनाता रहता है। नर्मदाजी के किनारे पहुँच कर चित्त में नाना प्रकार की वासनाओं का प्रादुर्भाव हुआ। मस्तिष्क से किसी बात को सोच लेना तो सहज है, किन्तु उसे कार्य्यरूप में परिणत करना जरा टेढ़ी खीर है। बिना वासनाओं के क्षय हुए हम भगवत्-कृपा का अनुभव नहीं कर सकते और भगवत्-कृपा के बिना कोई कार्य्य हो नहीं सकता। वासनाओं के क्षय होने के पूर्व भावुकता अथवा अज्ञता में जो निश्चय कर लिया जाता है, वह स्थायी नहीं होता। भर्तृहरिजी का निम्न-लिखित श्लोक उन्हीं लोगों के लिए आनन्दप्रद हो सकता है, जिनकी सांसारिक वासनायें क्षय हो गई हों—

महीरम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता,
वितानं चाकाशो व्यजनमनुकूलोऽयमनलः।
स्फुरद्दीपश्चन्द्रो विरतिवनितासंगमुदिता।
सुखं शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव॥

किन्तु जिनकी गांठ में अभी वासनाओं की पुटलियाँ बँधी हुई हैं, उनके लिए तो उपर्युक्त वस्तुएँ भयावनी सी ही

मालूम पड़ेंगी। एकान्त में जाकर वासनाओं की पुटलियाँ नष्ट थोड़े ही हो जाती है, किन्तु वहाँ जाकर वे अपना जादू और अच्छी तरह से दिखाती हैं। नर्मदाजी के किनारे जाकर मुझे अनुभव हुआ कि अभी मान, प्रतिष्ठा आदि की बड़ी बड़ी वासनायें तेरे अंदर भर रही हैं। इनके रहते हुए, इस प्रकार का जीवन व्यतीत करना एक प्रकार से तेरी अनधिकार चेष्टा ही है। उनकी ऐसी ही इच्छा। हुशंगाबाद से लौटकर मैं यहाँ आ गया।

यहाँ आने पर भी यह इच्छा नहीं थी, कि कुछ लिखूँ-पढ़ूँ, परन्तु मेरी कोरी इच्छा ही से तो काम नहीं चलता। इच्छाओं का जो उद्गम है, वहाँ से जैसी इच्छाओं का प्रादुर्भाव होगा, अन्त तक वैसी ही इच्छायें बहेंगी। उस उद्गम को रोकने की किसमें सामर्थ्य है ?

"कुछ नही लिखूँगा पढ़ूँगा" यह भी अभिमानजन्य विचार था। अभिमान का आश्रय लेकर मनुष्य चाहे भी जैसी बात सोचे, प्रकृति को जो जिससे कार्य्य कराना होगा, उसे तो वह अवश्य ही करालेगी। उसमें फिर मनुष्य का खाली विचार कुछ भी नही कर सकता। भगवान् ने स्वयं कहा है—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्षति॥

इस कार्य्य में नियुक्त करने के लिए अब के इस विचार ने सहारा दिया कि, "साधक को व्यवसाय के लिए सासारिक

कार्य्य न करने चाहिएँ, केवल शरीर निर्वाह के निमित्त कार्य्य करने में कुछ भी पाप नहीं है। तुमसे अधिक कुछ करने के लिए कौन कहता है, किन्तु समय के सदुपयोग और शरीर-निर्वाह के निमित्त कुछ न कुछ तो करना ही चाहिए। भगवान् ने भी कहा है—

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रह ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥

बस, इसी विचार का यह कारण है कि पाठक आज भगवत्भक्तों के सम्बन्ध में कुछ पढ़ रहे है।

मुझे इस पुस्तक के सम्पादन के निमित्त बहुत से ग्रन्थों के अध्ययन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। उन ग्रन्थों के निरन्तर अध्ययन तथा मनन करने से मुझे बहुत अधिक आत्मिक शान्ति मिली है। इन महात्माओं के चरित्रों से मेरा बहुत कुछ अज्ञान दूर हुआ है। कल्याण के मार्ग की ओर बढ़ने के लिए मुझे इन महात्माओं की वाणियो ने बहुत अधिक प्रोत्साहन दिया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ मेरी आधिभौतिक और आध्यात्मिक दोनो ही प्रकार की बुभुक्षा को शान्त करने का कारण हुआ है।

अब दो-चार बातें इस पुस्तक के सम्बन्ध में बता देना भी अनुचित न होगा, कारण कि सिवाय "भूमिका" के उनके लिए हमें और स्थान ही कहाँ मिलेगा। इस पुस्तक में जिन जिन महात्माओं के चरित्रों का वर्णन किया गया है, वे प्रायः

सभी लोकप्रसिद्ध तथा किसी न किसी सम्प्रदाय के आचार्य अथवा प्रवर्त्तक हैं। सभी सम्प्रदायों के अनुयायीगण प्रायः अपने अपने आचार्यों को सर्वश्रेष्ठ और ईश्वरतुल्य मानते हैं। कोई कोई तो उन्हें साक्षात् भगवान् का अवतार ही समझते हैं। यह उन लोगों की अपने आचार्य के प्रति अनन्य श्रद्धा ही है, इस सम्बन्ध में हमें कुछ भी नहीं कहना है। यहाँ पर हमारा उद्देश न तो किसी की श्रद्धा को कम ही करने का है और न किसी का महत्त्व ही घटाना है, किन्तु हमने अपनी पुस्तक मे सभी को महापुरुष ही समझा है और इसीलिए अमुक महापुरुष किसका अवतार है, इस बात का उल्लेख नहीं किया है।

हमने प्रत्येक चरित्र के पहले एक छोटी सी भूमिका दी है, फिर वंशपरिचय और जन्म का उल्लेख करके कुछ बाल्यकाल के सम्बन्ध मे भी लिखा है। जो महात्मा पहले पारिवारिक जीवन व्यतीत कर चुके हैं, उनका पारिवारिक जीवन कैसा रहा, इस बात को बताकर फिर उनके वैराग्य तथा तप के सम्बन्ध में कुछ लिखा है। इसके अनन्तर हमने उनके योग-क्षेम के निमित्त की जानेवाली वृत्ति के सम्बन्ध में कुछ विचार किया है। यद्यपि इस पुस्तक में जिन जिन महात्माओं का उल्लेख किया गया है, वे सभो विरक्त थे और प्रायः सभी भिक्षा-वृत्ति से ही अपना निर्वाह करते थे, किन्तु किन्हीं किन्ही महापुरुषों ने केवल शरीर-निर्वाह के निमित्त दूसरे सांसारिक धन्धों

का भी आश्रय लिया है। सिद्धों को भी निर्वाह के निमित्त कुछ न कुछ करना ही पड़ता है। कबीरदास जी कहते है—

कबीर क्षुधा कूकरी, करत भजन में भंग।
याकूँ टुकड़ा डार कर, सुमिरन करौ निसंग॥

किन्तु, उन्होंने भी विरक्त के लिए मधुकरी-वृत्ति को ही उत्तम बताया है—

सब से भली मधूकरी, भाँति भाँति का नाज।
दावा काहू का नहीं, बिना बिलायत राज॥

इन बिना बिलायत राजवाले महाराजाओ की वृत्तियो से भी हम बहुत कुछ सीख सकते है।

इन सभो महात्माओ के सम्बन्ध मे बहुत सी चमत्कारिक बातें तथा करामातें जन-साधारण में प्रसिद्ध हैं। हमने उनमें से सभी के सम्बन्ध की कुछ किवदन्तियाँ लिख दी है। उनके सम्बन्ध में हमने वहाँ पर अपना कुछ भी मत प्रकट नहीं किया है कि यह संभव है अथवा असंभव। हमे जो भी कहानी अच्छी तथा रोचक प्रतीत हुई, वही बिना किसी उलट-फेर के उद्धृत कर दी। इन करामातों के सम्बन्ध में हमें यहाँ पर इतना ही कहना है कि इन महात्माओं का महत्त्व बढ़ाने के लिए उनके सम्बन्ध में ऐसी चमत्कारिक बात कहना उसी के सदृश है, जैसे किसी बड़े भारी धुरन्धर पंडित के लिए यह कहना कि ये श्रीगणेशाय नमः' लिखना भी जानते हैं। जिन महात्माओं ने उस लासानी चीज़ का पता लगा लिया और उस अमृतानन्द

का यत्किंचित् भी पान कर लिया, उनके लिए मुर्दा जिला देना और मेह वर्षा देना ये तो सब बहुत ही छोटी छोटी बातें है, किन्तु सर्वसाधारण लोगो का ऐसी ही बातों से विश्वास बढ़ता है। पढ़े-लिखे लोग भी ऐसी बातों को कौतूहल के साथ पढ़ते हैं। पढ़ते समय उन्हें आनन्द आता है और उनका मनोरंजन भी होता है। पढ़ लेने के अनन्तर जब वे मस्तिष्क द्वारा विचार करने लगते है, तब भले ही उन्हें गप्प समझें। पढ़ते समय तो उनका हृदय इन बातों को मान ही लेता है और फिर जिन्हें ब्रह्म का अनुभव हो गया है, उनके लिए संसार मे कोई बात असंभव भी नहीं है। सभव और असभव तो हम संसारी लोगों के लिए हैं। जो इन दोनो से पार हो गया उसके लिए सभी संभव है। इससे हमारे मस्तिष्क-प्रधान पाठक यह न समझें कि हम इन सभी किंवदन्तियों को सत्य मानने की उनसे सिफारिश कर रहे है, ऐसी बात नही है। वे अपने मस्तिष्क से जिसे सत्य समझें उसे ही सत्य मानें और फिर ये सभी कहानियाँ असंभव भी नही हैं, विचारवान् पाठक उनके द्वारा बहुत कुछ शिक्षायें भी ग्रहण कर सकते हैं।

कहानियों के अनन्तर हमने इन महात्माओं के पारमार्थिक विचार और उपदेशों के सम्बन्ध में भी कुछ लिखा है। यदि इन महात्माओं के पूरे सिद्धान्तों का उल्लेख किया जाय, तो हम समझते हैं कि खाली कबीरदासजी के ही सिद्धान्तो को समझाने में इससे भी मोटी मोटी बहुत सी पुस्तके बन जायँ।

फिर सभी के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या, अतः हमने उन मूल सिद्धान्तों का उल्लेख भर कर दिया है जिन्हें हमने भगवत् भक्त के साथ ही साथ सुधारक भी समझा है, उनके कुछ व्यावहारिक उपदेश भी उद्धृत कर दिये हैं। अन्त में उपसंहार में इनके सम्बन्ध में जो विशेष बाते हैं उनका उल्लेख कर दिया है। हम जन्म, संवत्, तिथि, बार के चक्कर में विशेष नही पड़े हैं। जिनका सही संवत् विदित होगया है, उसका तो उल्लेख कर दिया है और जो अभी विवादास्पद है, उसे हमने छोड़ दिया है। इस विषय में अमुक क्या कहते हैं, अमुक का क्या मत है, ये सब बातें हमने नहीं लिखीं। इस विवाद को इतिहासप्रेमी विद्वान् उठाते रहें। हमें इस झगड़े से न तो कोई सरोकार ही है, न ऐसा कुछ विशेष प्रयोजन ही। हमतो फूल की महक ही से मस्त होना चाहते है। यह पेड कहाँ से आया, इसका बीज बोया जाता है या पोध लगाई जाती है, इसका कली किस महीने मे खिलो, इसमें कितनी पँखुड़ियाँ होती हैं, इत्यादि बातों का पता कोई अर्थशास्त्री महाशय लगावे। अपने राम को तो इसकी भीनी भीनी सुगन्ध ही पर्याप्त है। अन्य सभी बाते हमने अन्य लोगों के ही लिए छोड़ रक्खी हैं।

सब से अन्त में हमने सभी महात्माओं के कुछ थोड़े से उपदेश तथा भजन भी नमूना के तौर पर दिये हैं। यह कार्य्य हमारे लिए बड़ा दुष्कर था। इन महात्माओं के उपदेश एक से एक बढ़कर हैं, उनमे से अच्छे अच्छे छाँटने का काम उतना ही

कठिन है, जितना कि हीरा, पन्ना की खानि मे रक्खे हुए असंख्य अनमोल हीरों में से सब से बढ़िया छाँटने का है। यह आपत्ति उस समय और भी बढ़ जाती है, जब छाँटनेवाला जन्म का कंगाल हो और लाने के लिए उसके पास एक छोटा सा थैला ही हो। इस लालची लेखक की भी ठीक ऐसी ही दशा होगई। किसी प्रेमी ने मानों इस लेखक को ही लक्ष्य करके यह दोहा कहा है—

कागज थोड़ो, हित घनो, कैसे लिखूँ बनाय।
सागर में जल बहुत है, गागर में न समाय॥

इन महात्माओं के उपदेशामृत-सागर में बुड़की लगाते समय कभी कभो तो अपने को भूल जाना पड़ा है। ओह, सर्वत्र ही एक सा आनन्द! वही बहार, वही शान्ति, सुखदायिनी मस्ती!

लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मै भी होगई लाल॥

किन्तु, यह उक्ति इस लेखक पर कुछ अधूरी ही घटती है। मेरे लाल की लाली वाली बात तो ठीक है, सर्वत्र लाल ही लाल है, यह भी ठीक ही है। किन्तु "मैं" जो लाली देखने गई, वहाँ मेरी यह "मैं" लाल नहीं हुई। यह वहाँ जाकर भी पत्थर ही बनी रही। यदि यह लाल हो जाती तो फिर उन लालों में ही रल-घुल कर मिल जाती। उन्हींमें मस्त होकर पड़ी रहती।

किन्तु, यह हतभागिनी इतनी भाग्यहीन निकली कि फिर लौट कर आ गई। तभी तो पाठक इसके सम्बन्ध मे कुछ जान रहे है। यदि यह "मैं" मिटकर लाल हो जाती, तो फिर उस आनन्द का कहना ही क्या है? उस आनन्द का वर्णन फिर भला कौन करता? बर्फ़ के टुकडे ने कभी लौटकर बताया है कि समुद्र की थाह इतनी है? अस्तु—उन लालों की जो थोड़ी बहुत झलक इस "मैं" पर पडी है, उससे पाठक भी थोडा बहुत आनन्द उठावें। कारण कि आनन्दी जीवों के संसर्गियों के ससर्गियो से संसर्ग रखने में भी कुछ न कुछ आनन्द तो मिलता ही है।

एक बात और है। मै निरभिमान होकर इस बात को कहता हूँ, कि मेरा इस ग्रन्थ मे कुछ भी नहीं है। मेरी तो अपनी इच्छा तक नहीं है। भगवत्-प्रेरणा ही से जो भी कुछ हुआ है, सो हुआ है। इस ग्रन्थ के सम्पादन में बहुत से ग्रन्थों की सहायता लेनी पड़ी है। इस जंगल में बिना भगवत्-कृपा के इतने ग्रन्थो का प्राप्त होना कठिन ही नही, किन्तु असंभव था। जिन सत्त्वगुण-प्रधान महानुभावो के हृदय में भगवान् ने विराज कर उन्हें मेरे पास ग्रन्थ भेजने को शुभ प्रेरणा की, उन श्रद्धेय और पूज्य महानुभावों को मैं अत्यन्त ही सौभाग्यशाली समझता हूँ और इसीलिए मैं उन्हें धन्यवादार्ह भी मानता हूँ, कि भगवान् के परम अनुग्रह के कारण वे सबसे उत्तम सत्त्व गुण को प्राप्त कर सके हैं। पुस्तक

के अन्त में सहायक पुस्तको की सूची के साथ उन सब महानुभावों के कृतज्ञतापूर्वक नाम प्रकाशित कर दिये गये हैं।

इस पुस्तक में जिन जिन महापुरुषो के चरित्रो का वर्णन है, वे सभी देश मे परम प्रसिद्ध हैं। आशा है कि यह पुस्तक पाठको को लाभप्रद तथा रुचिकर होगी। इस बात से पाठक यह न समझें कि इसमे मेरी कुछ चतुरता तथा कारीगरी है, किन्तु इन महात्माओ के चरित्र ही इतने दिव्य तथा चित्ताकर्षक है कि फिर चाहे वे कितनी भी भद्दी भाषा मे क्यो न लिखे गये हो, तो भी भगवद्भक्तो के हृदय मे वे शान्ति का कारण होगे। इस पुस्तक मे जहाँ कही कोई अच्छाई दीख पड़े, उसका श्रेय मुझे नही है, किन्तु उन पूर्ववर्त्ती चरित्र-लेखकों को है जिनकी पुस्तको की सहायता से मैने ये सब बातें लिखी हैं। और जहाँ कहीं अशुद्धि, त्रुटि अथवा दोष दृष्टिगोचर हो, तो उसका पूरा पूरा दोष इस अहकारी प्राणी के ही ऊपर है। और इसका एकमात्र कारण इसकी अल्पज्ञता, अहकार और अज्ञता ही है।

इन चरित्रों के अतिरिक्त जो मेरे 'हृदयोद्गार' उठे है, उन्हें मैने पुस्तक के आदि मे लिख दिया है। मुझे पूर्ण आशा है कि प्रेमी पाठक उन हृदयोद्गारो को उदारता और अनुग्रह के साथ पढ़ने की कृपा करेंगे।

अन्त में उस परम पिता परमात्मा की कृपा का पूर्ण भरोसा करते हुए और अपने उन उदारमना महानुभावों को

कि जिन्होंने इस पुस्तक के सम्बन्ध में विचार, बाद, तर्क, सम्मति और पुस्तकों द्वारा सहायता पहुँचाई है, कृतज्ञता-पूर्वक स्मरण करते हुए हम अपने इस क्षुद्र वक्तव्य को समाप्त करते हैं।

हंस-तीर्थ, भूसी, प्रयाग
फाल्गुन-शु० ६-८४

विनीत-
ब्रह्मचारी प्रभुदत्त शर्म्मा




प्राक्कथन (हृदयोद्गार)

प्राक्कथन

(हृदयोद्गगार)

व्रजे प्रसिद्धं नवनीतचौरं, गोपाङ्गनानां च दुकूलचौरम् ।
अनेकजन्मार्जितपापचौरं, चौराग्रगण्यं शिरसा नमामि ॥१॥
यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या, तपोदानक्रियादिषु ।
न्यून सम्पूर्णतां याति, सद्यो वन्दे तमच्युतम् ॥

हे प्रभो ! क्या कह कर तुम्हारी कीर्ति का कथन करें ? करुणानिधे ! किस सुन्दर सम्बोधन से तुम्हें सम्बोधित करें ? सुना है, नाथ ! तुम 'अवाङ्मनसगोचर' हो । फिर बताओ तो सही, बेचारी वाणी तुम्हारी अवर्णनीय विरदावली का किस प्रकार बखान कर सकती है ?

नाथ ! जब कोई नास्तिक नामधारी जन्तु मेरे ढिग आकर पूछता है, कि "भगवान है, इसमे क्या प्रमाण है ?" तो हे विश्व-ब्रह्माण्ड के विधाता ! मैं उसे क्या उत्तर दूँ ? प्रभो ! तुम्हीं बताओ न, मैं उसके लिए प्रमाण कहाँ से खोज कर लाऊँ ?

हे अप्रत्यक्ष ! यदि मैं कहूँ कि तू प्रत्यक्ष है, तो इस अधम से यह भी कहते नहीं बनता, कारण कि तुम इस पापी की

आँखों से सदा ओझल रहते हो। जब इस पामर को तुम दीखते ही नही हो, तो फिर झूठ बोल कर पाप का भागी क्यों बनूँ ?

हे अच्युत ! अनुमान और उपमान से भी तू सिद्ध नहीं होता। कारण कि तू कारणरहित है, फिर अनुमान किया किसका जाय ?

हे सर्वज्ञ ! मुझे आप्त पुरुषों की भी पूरी पहचान नहीं है, कि जिनके बल भरोसे मैं निर्भीकतापूर्वक तेरे सम्बन्ध में कुछ कह सकूँ ?

हे केशव ! मैंने सुना था कि मननशील दार्शनिकों ने तेरा पूरा पता पाया है। सुनते ही मैं उनके द्वार पर दौड़ा गया। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा और योग सभी के द्वारों पर घूमता रहा। किन्तु हे भेदातीत ! किसीने भी तेरा सच्चा भेद न बताया। सत्य बात कहने मे यदि कोई पाप नहीं है तो नाथ ! इन्होंने मुझे और जकड़ कर बाँध लिया।

सुना था, वेदान्त-सिद्धान्त बडा अकाट्य है। सब बातें वहाँ युक्तिपूर्वक सिद्ध की जाती है। मैंने उनका भी पल्ला पकड़ा। परन्तु वहाँ मैंने जो भी कुछ सुना उसे सुनकर मैं भौचक्का सा रह गया। वेदान्त-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक भगवान् शंकराचार्य्य को वहाँ यह कहते पाया—

"अचिन्त्या खलु ये भावा न तान् तर्केण योजयेत्"

अब बतलाइए प्रभो ! किस प्रकार मैं तुम्हारी सिद्धि कर सकता हूँ ? फिर मैंने सोचा, कोई कुछ कहो, मैं तो तुम्हारी तलाश करूँगा ही। मुझे विद्वानों ने बताया कि वेदों ने भी उसे "नेति" "नेति" करके कथन किया है। तब तो कृपालो ! मैं और भी अधिक भयभीत हुआ।

सुना था, तुम्हारे सर्वज्ञ, सर्वाधार, सर्वान्तर्यामी, आदि नाम है। तुम अनुपम, अनन्त, अव्यक्त, अजर, अमर, अतीन्द्रिय अगोचर और अच्युत हो। तुम निराकार, निर्गुण और निरिन्द्रिय हो।

किन्तु फिर सुना कि तुम सगुण हो, कर्त्ता हो, विधाना हो, व्यक्त हो, चिन्त्य हो और तुम्हारे अनन्त नाम हैं।

विश्वम्भर ! तुम्हें कैसे ध्यावें ? तुम्हारा गुणानुवाद किस प्रकार गावें ? सत्संगियों को तुम्हारे सम्बन्ध में क्या बतावें ? नाथ ! तुम्हे निर्गुण कहते भी नहीं बनता, कारण कि जब तुम्हें निर्गुण कहें, तब गुणों का अध्यारोप फिर किसमें करें ? यदि तुम्हें सगुण कहें, तोभी कहते नहीं बनता; कारण कि इस बात से आप साफ़ इनकार करते हैं कि मैं उन गुणों में नहीं हूँ।

ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥

कभी तो प्रभो ! आप कह देते हैं कि "संभवामि युगे युगे" और कभी आप कहते हैं "अविजानन्ति मां मूढ़ा मानुषीं तनु-

मास्थिताः" अब हम कैसे निर्णय करें कि आप क्या है? अतः हमने तो यही सोचा है कि आप सगुण भी है और निर्गुण भी हैं और सगुण निर्गुण दोनो से परे भी है।

हे मुकुन्द! नामरूपात्मक इस नित्य परिवर्त्तनशील संसार में पुरुष का परम पुरुषार्थ क्या है? इसे कैसे जानें? सभी प्राणी त्रस्त हैं। नाना प्रकार की आधिव्याधियो से आच्छादित इन सभी प्राणियों का जीवन एक निश्चित पथ की ओर किसी अज्ञात शक्ति द्वारा परिचालित हो रहा है। प्रभो, उस पन्थ का भी कहीं अन्त है? इस दुर्गम घाटी को पार करने का भी कोई सुगम उपाय है?

लक्ष्मीपते! क्या सचमुच तुम्हारा नाम "सुख" है? यदि हाँ, तो नाथ, तुम्हें कहाँ खोजूँ? किन चक्षुओं से निहारूँ? क्या कह कर पुकारूँ? कहाँ जाने से तुम मिल सकते हो? कैसे तुमसे साक्षात्कार हो सकता है? कैसे तुम्हें जान सकूँगा?

जल की उत्ताल तरंगों मे, प्रकृति नटी की रम्य रंगस्थली में, सुन्दर, सुमधुर फलों मे, कामिनी के कमनीय अधरों मे, कोकिल की कूक में, वीणा की झनकार में, पंडितों की पोथी-पत्रा की पुकार में, कही भी तो तुम्हें पाता नही। फिर स्वामिन्, क्या करने से तुम मिलोगे?

हे अज्ञेय! न जाने क्यों, मुझे कोई बरबस तुम्हारी ओर खींचे ले जा रहा है। पथ अज्ञात है, गन्तव्य स्थान दूर है, साथ

के बटोही विलक्षण हैं, न उनका कोई निश्चित पथ और न परस्पर समता। कोई किसी ओर चलने को कह रहा है और कोई किसी ओर। ये मेरे साथी क्या हैं प्रबल शत्रु हैं, इन छैओं ने मिलकर मेरे नाकों दम कर रक्खा है, अब, अब बस एक-मात्र तुम्हारा ही सहारा है।

विश्वम्भर ! हमारी तरी जीर्ण है, मल्लाह मतवाले हैं, डाँड़ टूटा, पतवार फटा और चारों ओर से उठते हुए इस भयंकर बवंडर ने इस तनिक सी पुरानी किश्ती को घेर लिया है। कैसे पार होंगे प्रभो ? किस प्रकार तुम्हारे पास तक पहुँच सकेंगे ? नाथ ! पार्थ से तुमने महाभारत की युद्ध-भूमि में कहा था—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

"भक्ति से मेरा तात्त्विक ज्ञान हो जाता है कि मैं कितना हूँ और कौन हूँ। इस प्रकार मेरी तात्त्विक पहचान होने पर वह मुझ में ही प्रवेश करता है।" तुम्हारी भक्ति क्या है, इसे जानना भी तो कठिन काम है।

(भक्ति)

"भक्ति हृदय के उस अन्तरतम भाव को कहते हैं, जो हमें किसी वस्तु विशेष के गुणों की ओर स्वतः ही आकर्षित कर सके।"

अब देखना यह है कि उस वस्तु विशेष की ओर हम आकर्षित किस प्रकार होते हैं ? उसकी ओर आकर्षित होने की प्रक्रिया क्या है ?

सबसे पहले हम किसी चीज़ के सम्बन्ध में किसी से सुनते है या किसी पुस्तक में पढ़ते हैं अथवा उसके सदृश ही किसी वस्तु को देखते है, तो हमें उसकी ओर अनुराग होता है। अनुराग होने से हम उसका ध्यान करते है और यदा-कदा उसके सम्बन्ध में लोगों से बात-चीत भी करते हैं। अवसर पड़ने पर एकान्त मे हम ज़ोर ज़ोर से उसके सम्बन्ध में कुछ कहने भी लगते हैं। ऐसा करने से वह विषय हमारी स्मृति में धँस जाता है, अथवा उससे हमें मोह सा हो जाता है।

हर समय उसी वस्तु के स्मरण करने से हमारे मन मे उसके प्रति आशक्ति का भाव आने लगता है और इच्छा होती है, कि निरन्तर इसीके पैरों के पास पड़े रहें। जब हमारी इच्छा के अनुसार पूर्णरीत्या, जैसा कि हम चाहते है—नहीं होता, तब हमे इससे कुछ क्षोभ सा होता है या यों कह लीजिये कि अहर्निश उसकी ही अर्चना करने की इच्छा बनी रहती है। क्षोभ या लगन का परिणाम यह होता है कि हम उसे ही बड़ा मानने लगते हैं और सदा उसीके लिए मस्तक नवाये रहते है। मस्तक नवाते नवाते हम अपने आपे को भूल जाते है, अर्थात् हम अपनी स्मृति को अब अपनी नहीं समझते, सोलहों आना उसी के ग़ुलाम बन जाते हैं।

इतने दिन की दासता का परिणाम यह होता है कि हमारे अपनेपन का नाश हो जाता है। हम अपने विचारों को, इन्द्रियो को, मन को, यहाँतक कि बुद्धि को भी, उसीके हाथों बेंच डालते हैं। अब वह सब प्रकार से हमारा सखा बन गया, हमारी अपनी कुछ इच्छा रही ही नही। उसने जैसी आज्ञा की, उसका पालन किया। ऐसी अवस्था के बाद फिर क्या होता है? बस, अब अन्तिम अवस्था है, इसके बाद फिर कोई अवस्था ही शेष नहीं रह जाती। हम अपने व्यक्तित्व का नाश कर देते हैं। हमारा 'अपना' कहने को कुछ रह ही नहीं जाता। सब तरह से उसीके ऊपर निर्भर होजाते हैं। इसका नाम है "आत्म-निवेदन"। दृष्टान्त लीजिए।

सांसारिक भक्ति

हमने किसी पुस्तक में पढ़ा, या किसी से सुना अथवा देखा कि अमुक आदमी बड़े मज़े से रहता है। उसके खाने के लिए हर समय नाना प्रकार के पदार्थ तैयार रहते हैं। जब वह बाहर निकलता है तब अच्छी से अच्छी सवारी में बैठ कर निकलता है, उसके रहने के लिए अच्छे अच्छे भवन हैं, सोने के लिए मुलायम मुलायम गद्दे है, टहलने के लिए सुन्दर सुन्दर बग़ीचे है। सारांश कि उसके पास आराम के सभी सामान है, तो हम उसके सम्बन्ध में विचार करने लगते हैं। विचार करते करते हमारी भी इच्छा उन पदार्थों के उपभोग करने की होती है। हम सोचते हैं कि ये सब द्रव्य-साध्य हैं

इसलिए धनोपार्जन करने के लिए प्रयत्न करने लगते हैं। जब धन हमारी इच्छा के अनुसार नहीं मिलता, अथवा थोड़ा मिलता है, तब हमें क्रोध उत्पन्न होता है और हम फिर अधिक तत्परता के साथ उसकी प्राप्ति के अर्थ अग्रसर होते है। ऐसा करने से हमें उसके प्रति सम्मोह उत्पन्न होता है। दिन-रात्रि उसीकी चिन्ता, उसीका विचार और उसीके सम्बन्ध की बातें करने से हमारी पुरानी सभो स्मृतियाँ मिट सी जाती है, या यों कह लीजिए कि हमारी स्मृति में एक प्रकार का विभ्रम सा उत्पन्न होजाता है। अब फिर क्या रहा ? जब पुराने सभी संस्कार एक एक करके नष्ट हो गये, जब द्रव्योपार्जन ही हमारे जीवन का एकमात्र लक्ष्य बनगया, तब मानों हमारा जीवन द्रव्योपार्जन के ही लिए हो गया या दूसरे शब्दो मे यो कह लीजिए कि हम द्रव्य के हाथो बिक गये। अब हमें दूसरी कोई भी वस्तु अच्छी नही लगेगी। द्रव्य का नाम सुनते ही हम फड़क उठेंगे। रुपयों की झंझनाहट सुनते ही हमारे रोमांच होंगे, रुपयो के दर्शन मात्र से ही हम मरते हुए जी उठेंगे। सारांश यह है कि रुपया ही हमारा सब कुछ हो जायगा। हमारा जीवन और द्रव्य दो वस्तु न रह कर एक ही अथवा एक सा हो जायँगी। इस प्रकार एक वस्तु को चरम सीमा तक पहुँचने की नौ सीढ़ियाँ हुईं। (१) सुनना—देखना या पढ़ना—(२) ध्यान (३) आशक्ति (४) काम या वासना (५) क्रोध या उद्रेक (६) सम्मोह (७) अन्य सब वस्तुओं के विषय में उदासीनता (८)

बुद्धिनाश, अर्थात् भले-बुरे का विचार न करना। (६) आत्म-समर्पण अर्थात् पूरी तरह से अपने को उस पर न्योछावर कर देना।

भगवद्गीता में भगवान् ने इसी प्रकार ससार की पंक में सर्वतोभावेन फँसकर प्राणियों के नष्ट हो जाने का वर्णन किया है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

अर्थ (पहले मनुष्य इन्द्रियों के द्वारा विषयों को देखता अथवा श्रवण करता है) फिर उन विषयों का ध्यान करता है। विषय-भोगों का चिन्तन करने से उसमें आशक्ति आती है। आशक्ति से पाने की इच्छा उत्पन्न होती है, और (न मिलने पर) इच्छा से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से संमोह अर्थात् अविवेक होता है, अविवेक से स्मृतिभ्रंश और स्मृतिभ्रंश से बुद्धिनाश, बुद्धिनाश होने से मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है।

शुद्ध भक्ति

यह तो हुई संसार के विषयों की बात। अब ठीक इसी प्रकार परमात्मा की प्राप्ति के लिए भी मनुष्य को इन्ही नौ सीढियों को पार करना होता है। इन दोनों में इतना ही अन्तर है कि संसारवाली सीढ़ियाँ नीचे की ओर ले जाती हैं और परमात्मा

वाली सीढ़ियाँ ऊपर की ओर। शास्त्रकारों ने भक्ति के भी ९ प्रकार बताये हैं—

श्रवण कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वंदन दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम्॥

अर्थ (१) श्रवण (२) कीर्तन (३) विष्णु-स्मरण (४) पाद-सेवन (५) अर्चन (६) बंदन (७) दास्य (८) सख्य (९) आत्मनिवेदन। इस तरह ९ प्रकार की भक्ति है।

संसारी पदार्थों के साथ इन भावों का सम्बन्ध होने से वह 'मोह' कहाता है और ये ही भाव भगवान् के साथ होने से भक्ति के नाम से पुकारे जाते हैं। दोनो का ही उद्देश आनन्द प्राप्त करना है। दोनों ही अपने अपने उद्देश की सिद्धि के लिए प्राणपन से चेष्टा करते हैं। दोनों ही सफलता में बाधा होने पर आँसू बहाते हैं। एक के रोने को 'रुदन' और दूसरे के रुदन को 'विरह' या 'भाव' कहते है।

किन्तु, सिद्धि मे बहुत बड़ा अन्तर है। जो भगवान् की भक्ति के द्वारा आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं, वे तो असली आनन्द तक पहुँच भी गये हैं। इसका प्रमाण यही है कि बहुत से पुरुष जीवन्मुक्त हो गये हैं। बहुत से महात्माओं ने, जिन्होंने इस रस का आस्वादन किया है, इसका थोड़ा बहुत—जितना कि वे कर सके हैं—वर्णन भी किया है, किन्तु संसारी भोगों के ही द्वारा आनन्द का उपभोग

दोनो की सिद्धि में अन्तर

करनेवाले सभी पुरुषों ने चिल्ला चिल्ला कर कहा है कि अरे! हमें कुछ भी नहीं मिला। हज़ारों वर्ष विषय-भोगों में लिप्त होकर जो बुड्ढा हुआ, वृद्धावस्था में भी जिसकी शान्ति विषय-भोगों से नहीं हुई और अन्त में अपने पुत्र की युवावस्था लेकर फिर जिसने हजार वर्ष तक संसारी सुख भोगे, तिस पर भी असली सुख को प्राप्त करनेवाले राजा ययाति ने हार कर कहा था—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

अर्थ—विषयों के उपभोग से शान्ति प्राप्त नहीं होती, प्रत्युत जिस प्रकार जलती हुई अग्नि में घी डालने से वह बुझने के स्थान में और भी अधिक बढ़ती है, उसी प्रकार विषयोप-भोगों से दिन दूनी अशान्ति ही बढ़ती है।

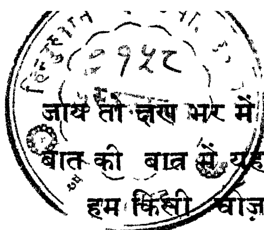
संसार में सबसे अधिक सुखी 'इन्द्र' माना जाता है। संसारी भोगो की वहाँ जाकर पराकाष्ठा हो जाती है। इन्द्रत्व प्राप्त करना संसारी लोगों का चर्म लक्ष्य है, किन्तु पुराणों के पढ़ने से मालूम पड़ता है कि उस बेचारे को कितनी मुसीबतें झेलनी पडती हैं। दिन रात्रि उसे इसी बात की चिन्ता लगी रहती है कि कोई मुझसे तप में बढ़ने न पावे। किसी को उग्र तप करते देख, उसके होश-हवास उड़ जाते हैं और उसके तप को खंडित करने के लिए वह प्राणपन से चेष्टा करता रहता है। जबतक उसे भ्रष्ट नहीं बना देता, तबतक उसे चैन नहीं मिलता।

इसी प्रकार उसे नित्य नई चिन्ताएँ लगी रहती हैं। जहाँ चिन्ताएँ आ-आकर सताती हैं, वहाँ फिर आनन्द-चैन कहाँ रहा ? वह साधारण लोगो से भी दुःखी हुआ। उसकी तृष्णा तो संसार में सबसे बढ़ी-चढ़ी है। तभी तो भर्तृहरिजी ने कहा है "सतु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला।" अर्थात् संसार में वह उतना ही अधिक दरिद्रो है, जिसकी जितनी अधिक तृष्णा बढ़ी-चढ़ी हो।

परमात्मा और संसार का पारस्परिक सम्बन्ध

यह जगत् और परमात्मा दोनों एक दूसरे से बिलकुल भिन्न होते हुए भी एक दूसरे के आश्रय में ठहरे हुए हैं। यदि थोड़ी देर के लिए मान लें कि यह जगत न होता, तो फिर परमात्मा को कौन पूछता ? भले ही वे सर्वज्ञ क्यो न हों, उनकी सर्वज्ञता के गीत ही कौन गाता ? इसी प्रकार यदि परमात्मा का अस्तित्व न होता तो लोग संसार का नाम तक न जानते। एक के होने से दूसरे का बोध होता है।

संसार के प्राणियों को संसार और परमात्मा दोनों ही अपनी अपनी ओर खींच रहे है, इन दोनों के बीच में पड़ा हुआ प्राणी किंकर्त्तव्यविमूढ़ बना हुआ है। जैसे सूर्य्य पृथ्वी को अपनी ओर खींच रहा है और पृथ्वी सूर्य्य को अपनी ओर खींच रही है। इन दोनों के खिंचाव के कारण ही यह जगत् रुका हुआ है, यदि इन दोनों मे से एक का भी खिंचाव कम हो



जाय तो क्षण भर में महा प्रलय आकर उपस्थित हो जाय, और बात की बात में यह सभी खेल चौपट हो जाय।

हम किसी चीज़ को नीचे से ऊपर को फेंकते हैं, तो वह थोड़ी दूर तक तो ऊपर की ओर जाती है, परन्तु फिर उसे पृथ्वी का आकर्षण अपनी ओर खींच लेता है और वह नीचे गिर पड़ती है। कुछ दूर तक तो पृथ्वी का खिंचाव रहता है, वहाँ तक की वस्तुओं को तो पृथ्वी अपनी ओर खींचती है और उसके आगे सूर्य्य का आकर्षण होता है, पृथ्वी की परिधि को जो पार गया, फिर उसे लाख प्रयत्न करने पर भी पृथ्वी अपनी ओर नहीं खींच सकती, फिर तो वह सूर्य्य के आकर्षण की सीमा में पहुँच गया। अब उसे सूर्य्य के पास तक जाने में देर नहीं लगेगी। थोड़ी ही देर में वह सूर्य्य के पास जाकर उसमें तल्लीन हो जायगा।

जिस प्रकार सूर्य्य स्थिर है, उसी प्रकार परमात्मा भी सदा एक रस रहता है, इसीलिए उसे "रसानां रसः" अर्थात् रसों का भी रस कहा है। उसमें विकार होना संभव नहीं। जिस प्रकार पृथ्वी सदा घूमती रहती है, ऐसे ही यह संसार भी घूमता ही हुआ है। संसार की एक भी वस्तु स्थिर नहीं। इसके सभी पदार्थ नाशवान् हैं। ये सदा परिवर्तित होते रहते है, कभी एकसे रहते ही नहीं। इसीलिए इसे "संसरतीति संसारः" अर्थात् परिवर्तित होनेवाला कहा गया है।

जो सदा संसारी भोगों में ही लिप्त रहते हैं, जिनका उद्देश ही संसार को प्राप्त करना है, वे लाख समझाने पर भी परमात्मा की ओर नही बढ़ते। संसार से दुःखी होकर अथवा किसी प्रबल शक्ति वाले महात्मा की प्रेरणा से यदि इस ओर बढ़े भी, तो जहाँ वह शक्ति समाप्त हुई, वहाँ धड़ाम से फिर नीचे गिर पड़ते हैं, कारण कि उनकी हार्दिक इच्छा तो प्रभु को प्राप्त करने की थी ही नही। जहाँ तनिक सा भी संसारी लोभ सामने आया, जहाँ लक्ष्मीदेवी ने तनिक भी अपना स्वरूप दिखाया कि वे झट से उसे लेने के लिए दौड़ते हैं, और बुरी तरह से फँस जाते है, फिर उन्हें ब्रह्मा भी नहीं समझा सकते। यदि एक बार भगवान् भी आकर उनसे कहें कि मैं भगवान् हूँ, तो वे सहसा विश्वास नहीं करेंगे। वे मोह-पंक में इस तरह से फँस जाते हैं कि उन्हें सद्-असद् का भान ही नही रहता। ऐसे ही मोह मे फँसे हुए जगत् के बद्ध प्राणियों को लक्ष्य करके भर्तृहरिजी ने कहा है—

> आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवनम्
> व्यापारैर्बहुकार्य्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते॥
> दृष्ट्वा जन्मजराविपत्ति मरणं त्रासश्च नोत्पद्यते।
> पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्॥

अर्थ—सूर्य्य नारायण के उदय होने और अस्त होने से संसार के प्राणियों की आयु दिन दिन क्षीण होती चली जा

रही है। संसारी धंधों में ये इस तरह से फँस गये हैं कि उनकी गुरुता के कारण इन्हें इस बात का भी होश नहीं रहता कि हमारी आयु का कितना समय चला गया और कितना शेष रहा है । महान् आश्चर्य की बात ता यह है कि नित्य सैकड़ों प्राणियों के जन्म, मृत्यु और विपत्ति को देखता है, फिर भी इसे भय उत्पन्न नहीं होता कि एक दिन मुझे भी ऐसा ही होना है। इसका कारण क्या है? इसका उत्तर कवि देता है कि जगत् के सभी प्राणियों ने मोह-रूपी मदिरा ख़ूब गहरी पीली है। उसीके नशे में ये पागल बने हुए हैं।

जिन्होंने संसार का आश्रय नहीं पकड़ा है, जो प्रभु के पाद-पद्मों को ही अपना लक्ष्य मानकर आगे बढ़े हैं, उनकी बात ही निराली है, उन्हें संसार की कोई वस्तु भी विचलित नहीं कर सकती। वे चाहे दिखावे के लिए संसार में भले ही रहें, किन्तु उन्हें संसार की व्याधियाँ यन्त्रणा नहीं पहुँचा सकतीं। उनके सामने चाहे साक्षात् लक्ष्मी ही आकर क्यों न खड़ी हो जाय, किन्तु वे उसे भी हँसकर कोरा ही जवाब दे देंगे। ऐसे ही एक भगवान् के पथ के निस्पृह पथिक के सामने आकर लक्ष्मी हाथ जोड़ कर खड़ी हो गई और बड़ी दीनता के साथ कहने लगी—"हे बटोही, तू मुझे अपना ले, मैं संसार के सब ही सुखों की जननी हूँ, मेरे साथ सम्बन्ध करके फिर तुझे किसी प्रकार का भी कष्ट नहीं हो सकता।" उसकी ऐसी

प्रार्थना सुनकर वह निस्पृह पथिक बड़ी नम्रता के साथ उत्तर देता है—

मातर्लक्ष्मि भजस्व कञ्चिदपरं मत्काङ्क्षिणी मास्म भूः
भोगेभ्य. स्पृहयालवो नहि वयं का निस्पृहाणामसि ॥
सद्यःस्यूतपलाशपत्रपुटिकापात्रे पवित्रीकृते ।
भिक्षावृत्तिभिरेव संप्रति वयं वृत्तिं समीहामहे ॥

अर्थ—हे माता लक्ष्मी ! तुम किसी दूसरे का आसरा टटोलो, मेरी इच्छा स्वप्न मे भी नही करना । जब हमारा ससारो भोगो में स्पृहा ही नही रही, तब फिर हमारे सामने तुम्हारा महत्त्व ही क्या रहा ? हमे तो पलास के पवित्र पत्तो मे भिक्षा से लाये हुए सत्तू ही अच्छे लगते हैं। जो तुम्हें ही सर्वस्व समझे उन्हीं के पास जाओ, वहीं तुम्हारा ख़ूब आदर होगा। यहाँ तुम्हारी दाल नहीं गलने की ।

यह उन लोगों के वाक्य हैं, जिन्होंने उस महान् आनन्द का यत्किञ्चित् भी रसास्वाद कर लिया है। जिन्होंने परमात्मा के अनुग्रह का अणुमात्र भी अनुभव कर लिया है। तभी तो इसके सम्बन्ध में भगवान् ने कहा है—"स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।"

जो संसार के आकर्षण को पार कर गये हैं, जो भगवद्-चरणारविन्दों की ओर सच्ची और अच्छी भावना से बढ़ चुके हैं, उन्हें संसार का कोई भी पदार्थ अपनी ओर आकर्षित नहीं

कर सकता। वे तो अपने प्यारे के पैरों की धूलि को ही प्राप्त करके धन्य होंगे। उन्हें संसारी भोगों की क्या परवा ?

यहाँ तक तो केवल इसी बात का वर्णन हुआ कि किसी वस्तु विशेष के चाहने को भक्ति कहते हैं।

भक्ति के भेद

यदि वह चाह सांसारिक हुई तो उसे 'मोह' कहते हैं और वही चाह भगवत्प्राप्ति की हुई तो उसका नाम 'भक्ति' हो जाता है। अब यहाँ विचार इस बात पर करना है कि 'भक्ति' के कितने भेद हो सकते हैं ?

हम संसार में देखते है कि चाहना कई प्रकार की होती है। पिता पुत्र को, गुरु शिष्य को चाहता है, इसके विपरीत पुत्र पिता को, शिष्य गुरु को भी चाहता है। मित्र मित्र को और पति पत्नी को चाहता है, इसी प्रकार पत्नी पति को भी चाहती है। ये सब चाहें एक ही प्रकार की है या इनमें कुछ भिन्नता भी है ? यदि ध्यानपूर्वक इस बात पर विचार करें, तो हमें मालूम होगा कि ये चाहें एक होती हुई भी भिन्न भिन्न हैं। जैसे मैं अपने गुरुदेव को भी चाहता हूँ और अपने मित्र को भी। परन्तु मित्र के सामने मैं जैसी घुल घुल कर मीठी मीठी बतो-ड़ियाँ लडाता रहता हूँ, गुरुजी के सामने उन्हें कहने तक की हिम्मत नही होती। यह बात भी नहीं है कि मैं मित्र की अपेक्षा अपने गुरुदेव को कम चाहता हूँ, किन्तु तो भी न जाने क्यों उनके सामने आते ही मेरी सभी सिटिल्लो भूल जाती है और मैं एक दम गम्भीर बन जाता हूँ। इससे मालूम पड़ता है कि

मित्र के चाहने में और गुरुदेव के चाहने में कुछ भेद अवश्य है। फिर चाहे वह थोड़ा ही क्यों न हो, परन्तु है अवश्य।

श्रद्धा और प्रेम

जिन्हें हम बड़ा मानते हैं, उन्हें श्रद्धा के सहित चाहते हैं और जिन्हें अपने बराबर का या अपने से छोटा समझते है, उन्हें हम प्रेमपूर्वक चाहते हैं। अतः साधारण रीति से चाहना दो प्रकार का हुआ, एक तो श्रद्धामूलक चाहना या भक्ति, और दूसरा प्रेममूलक चाहना। इसी प्रकार यहाँ हम भक्ति के भी दो भेद मानते हैं। जो भक्त कि परमात्मा को सर्वाधार, सर्व-कर्ता, विश्वम्भर आदि कहते हैं और उन्हें सदा बड़ा मान कर श्रद्धापूर्वक भक्ति करते हैं, वे श्रद्धामूलक भक्ति के उपासक भक्त हैं, उनके उपास्यदेव परमपिता, जगज्जननी के रूप में हैं। और जिनके भगवान् सखा हैं, मित्र हैं, उनके साथ वे हँसी ठट्ठा दिल्लगी आदि करते हैं। वे प्रेममूलक भक्तिवाले भक्त हैं। इन दोनों में कौन छोटा है और कौन बड़ा है, यह हमारी शक्ति के बाहर का प्रश्न है। हमारे तो ये दोनों ही प्रकार के भक्त वन्द्य, श्रद्धेय और पूजनीय हैं। इन दोनों प्रकार की भक्तियों के अतिरिक्त एक और प्रकार की भक्ति भी है, जिसका उदाहरण हम संसारी किसी वस्तु के साथ नहीं दे सकते, न उसका किसी प्रकार से स्वरूप ही बना सकते हैं इसलिए हम उसे "शुद्धा भक्ति", केवला भक्ति अथवा परा भक्ति

कह सकते हैं। सब प्रकार की भक्ति इसी भक्ति में जाकर मिल जाती हैं। उसका वर्णन करना असम्भव है।

अच्छा जिस प्रकार हम अपने बड़ों के साथ श्रद्धापूर्वक भक्ति करते हैं उसी प्रकार उसके बदले में वे हमारे ऊपर कृपा, अनुग्रह, अनुकम्पा आदि करते हैं। हमारी प्राप्य वस्तु को वे अनुग्रह करके हमें देते हैं और हमारे ऊपर सदा कृपा रखते है। वे सदा इस बात का ध्यान रखते है कि हमारे कृपापात्र को कोई कष्ट न होने पावे। जिनके साथ हम प्रेम करते है, बदले में वे भी हमसे प्रेम ही करते हैं। हमारे दुःख को वे अपना ही दुःख समझते हैं। हम पर यदि तनिक भी दुःख आकर पड़े तो वे उसे हटाने का प्रयत्न करते हैं और जबतक उसे हटा नहीं देते तबतक उन्हें चैन नही पड़ता।

काम, मोह और दम्भ तथा स्वार्थ

श्रद्धा और प्रेम के साथ यदि भगवान् का सम्बन्ध न हो, खाली संसार के ही सम्बन्ध में हम इनका प्रयोग करें, तो हम प्रेम को काम अथवा मोह कह सकते हैं और श्रद्धा को स्वार्थ अथवा दम्भ कहेंगे। केवल संसारी सम्बन्धों में प्रेम और श्रद्धा का प्रयोग नहीं हो सकता। संसारी विषयों को लक्ष्य में रखकर जो प्रेम किया जाता है, असल में वह प्रेम न होकर मोह है और वासनाओं की तृप्ति के ही हेतु वह किया जाता है। इसी प्रकार भगवान् को छोड़ कर कोरी श्रद्धा दिखावे के लिए होती है और उसका मतलब होता है स्वार्थ-साधन।

जब इन दोनों का लक्ष्य संसारी विषयभोग न होकर परमात्मा की प्राप्ति हो जाता है, तभी इन्हें श्रद्धा और प्रेम कहते हैं। केवल लक्ष्य को बदल देने मात्र से ही काम चल जाता है।

पंजाब में बुल्लेशाह नाम के एक बड़े ऊँचे फ़कीर हो गये हैं। आप जाति के सैयद थे। जन्मस्थान तो आपका रूम था, किन्तु पंजाब के कुसूर नामक ग्राम में रहते थे। मुसलमान होने पर भी आप बड़े स्वतन्त्र विचार के सन्त थे। सत्य के सम्मुख वे क़ुरान आदि किसी की परवाह नहीं करते थे। एक दिन आप अपने यहाँ ऊख की पेड़ी लगा रहे थे, इधर से उठा उठा कर वे उधर खेत मे लगाते जाते थे। इतने ही में एक भक्त आया। उसने उनसे पूछा—"बुल्लेशाह! ख़ुदा की पाव दाँ?" अर्थात् हे बुल्लेशाह! भगवान् को किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं? इसका उन्होंने उत्तर दिया—"ख़ुदा की पाव दाँ? इधर से मन पट्ट कर उधर रख दाँ"। उन्होंने कहा—यह भी कोई कठिन काम है? मन को संसार की ओर से घुमा कर भगवान् की ओर लगा दो, झट भगवान् प्राप्त हो जायँगे।

कितना अच्छा उपदेश है। जहाँ तुम विषय-भोगों की पूर्ति के निमित्त दूसरी वस्तुओं से मोह करते हो, उसे भगवान् की ओर पलट दो। तुम्हें सब प्रकार के सुख प्राप्त हो जायँगे। इन भोगों की प्राप्ति के लिए तो तुम्हें दूसरों को धोखा भी देना पड़ता है, अनेक प्रकार के पाप करने पड़ते हैं, परन्तु अपनी सांसारिक इच्छा को प्रेम के रूप में परिणत करते ही तुम्हें

सब पापों से छुटकारा मिल जायगा। ऐसे ही पुरुष को भगवान् उपदेश करते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः॥

यदि तुम स्वार्थ सिद्धि के लिये, अपने खाने, पहनने के लिए किसी की जाकर ख़ुशामद करते हो, उसके सामने जाकर झूठी श्रद्धा दिखाते हो, तो तुम भूल कर रहे हो। वह बेचारा तुम्हारा कुछ भी उपकार नहीं कर सकेगा। इस दम्भ को बदल दो, खाली इसे श्रद्धा के साँचे में ढाल लो, फिर देखना, तुम्हें किसी बात की भी चिन्ता न करनी पड़ेगी। भगवान् प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

अर्थ—जो अनन्यनिष्ठ लोग मेरा ही चिन्तन कर मुझे भजते है, उन नित्ययुक्त पुरुषों का योग-क्षेम (सांसारिक निर्वाह का प्रबन्ध) मैं स्वयं करता हूँ।

इस बात को भी सुन कर जो भगवान् के प्रति श्रद्धा नहीं करते उनके सदृश मूढ़ संसार में दूसरा कौन होगा? प्रेम के द्वारा, अथवा श्रद्धा के द्वारा जिन्होंने "शुद्धा भक्ति" अथवा परा भक्ति को प्राप्त कर लिया है, असल में वे ही धन्य हैं, संसार में उन्हीं का जन्म लेना सार्थक हुआ।

यहाँ तक तो संक्षेप में यह बताया गया कि 'भक्ति' कहते किसे हैं। परमात्मा के सम्बन्ध में जो चाह होती है, उसे भक्ति, श्रद्धा अथवा प्रेम कहते हैं। वही चाह यदि सांसारिक पदार्थों की हुई तो उसे तृष्णा, लोभ, मोह, अथवा दम्भ कहते हैं। अब आगे इस बात पर विचार करना है कि भक्ति का उद्गम-स्थान कहाँ है? भक्ति पैदा कहाँ होती है? भाव या वेदना उत्पन्न होने के तीन ही स्थान हैं, मस्तिष्क हृदय और इन्द्रियाँ तथा मन। सभी भावों की उत्पत्ति इन तीनों ही स्थानों से होती है। इसलिए मनुष्य तीन ही काम करता है, विचार, अनुभव और क्रिया। मस्तिष्क से मनुष्य विचारता है, हृदय से अनुभव करता है और मन तथा इन्द्रियों के द्वारा क्रिया करता है। इन तीनों को हम ज्ञान-शक्ति, इच्छा-शक्ति और क्रिया-शक्ति कहते हैं। मनुष्यों में वैसे तो कुछ न कुछ अंश में ये तीनों शक्तियाँ होती हैं, किन्तु किसी का मस्तिष्क बहुत अधिक विकसित होता है, किन्हीं का हृदय बहुत उच्च होता है और बहुतों में कार्य्य करने की शक्ति अधिक होती है।

भक्ति का उद्गम-स्थान

मस्तिष्क का काम है प्रत्येक बात पर तर्क-वितर्क करना, सत्य-झूठ का पता लगाना। यथार्थ और अयथार्थ के विषय में अन्वेषण करना। जिनकी ज्ञान-शक्ति प्रबल है उनकी बुद्धि

मस्तिष्क

कुशाग्र होती है। वे लोग समाज में बुद्धिमान् समझे जाते हैं और उन्हें दार्शनिक कहते हैं। उन्हें प्रायः प्रत्येक घटना और बात के सम्बन्ध में ख़ूब सोच-विचार करने मे ही आनन्द मिलता है। वे सदा कार्य्य-कारण-भाव का पता लगाने के लिए ही व्यग्र रहते हैं। बिना तर्क के तराज़ू पर तोले वे किसो बात को सहसा ठीक मानने के लिए तैयार हो नहीं होते। वे प्रत्येक बात के सम्बन्ध में "ऐसा क्यों हुआ?" यही सोचने लगते हैं। ऐसे लोग प्रायः प्रत्येक सभ्य समाज में होते हैं, किन्तु उनकी संख्या बहुत ही थोड़ी होतो है। ऐसे तत्त्वदर्शी समाज के बहुमूल्य भूषण हैं।

हृदय

हृदय का काम है, अनुभव करना। जिनकी इच्छाशक्ति प्रबल होती है, वे सोचते बहुत कम हैं, किन्तु अनुभव बहुत अधिक करते हैं। वाटिका में जाने पर हमें पुष्पों की सुगन्ध क्यों प्यारी लगती है, वे इस बात पर विचार नहीं करेंगे, किन्तु उस गन्ध का अनुभव करते ही वे लोग उस पर लट्टू हो जायेंगे। बिना कार्य्य-कारण का विचार किये वे उसके आनन्द में तन्मय हो जायँगे। ऐसे लोगों को कवि, चित्रकार, उपन्यासकार और भक्त कहते है। तत्त्वज्ञानियों की अपेक्षा ऐसे लोगों की संख्या बहुत अधिक होती है।

इन्द्रियाँ अथवा मन

इन्द्रियों का व्यापार है कार्य्य करना। जो लोग दिन-रात्रि काम में ही लगे रहते हैं, न तो जो विशेष सोचते ही है, न जिन्हें अधिक अनूभूति ही होती है, उन्हें साधारण जन संसारी मनुष्य कहते हैं। समाज में ऐसे ही लोगों की संख्या अधिक होती है। लोग किसी बात की सचाई-झुठाई को स्वयं न सोचकर वे समाज के आप्त पुरुषों के ही वाक्यों को मानने के लिए विवश होते हैं। संसार में मानों उन्हें परमात्मा ने दिन-रात्रि सांसारिक विषयों को जुटाने ही के लिए पैदा किया है। वे सांसारिक सुखों की इच्छा से अथवा अपने अभावों की पूर्त्ति करने के लिए दिन-रात्रि काम में ही जुटे रहते है। उन्हे परमार्थ, परलोक और आध्यात्मिक विषयों से कुछ विशेष सम्बन्ध नहीं।

केवल इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्ति

एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। जो केवल विचार ही विचार करते है, जो हृदय की आवाज़ को एक दम दबा देते है, उन्हें हम नास्तिक कहते हैं। जो केवल अनुभव ही कर सकते हैं, कुछ भी नही विचारते, उन्हें अंधविश्वासी कहते हैं, और जो केवल यन्त्र की भाँति काम ही कर सकते हैं, उन्हें कर्मसंगी अज्ञानी कहते हैं। सारांश यह है कि केवल मस्तिष्क हमें नास्तिकता की ओर ले जाता है। केवल हृदय हमें अंधविश्वासी

बनाता है और केवल कर्म हमे जड़ता के गड्ढे में जाकर पटकता है।

दार्शनिक, भक्त और सुधारक

जो क्रियाशक्ति और अनुभूति के साथ विचार करते हैं, किन्तु विचार-शक्ति को प्राधान्य देने से वे ज्ञानी कहलाते हैं। जो विचार और क्रिया के साथ अनुभूति करते हैं, उन्हें हम 'भक्त' कहते हैं और जो अनुभूति तथा विचार-पूर्वक निरन्तर कार्य्य करते रहते हैं, उन्हें हम 'सुधारक', 'प्रचारक' या 'उपदेशक' कहते हैं। जिनमें इन तीनों ही शक्तियों का जितना ही अधिक अंश होगा वे उतने ही अधिक उच्च पुरुष समझे जायँगे।

त्रिवर्गीकरण

सम्पूर्ण सृष्टि इन तीनों ही शक्तियों से निर्माण हुई है। प्रकृति स्वयं सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों से युक्त है। रजोगुण से सृष्टि की उत्पत्ति होती है, सत्त्वमें स्थिर रहती है और तम में जाकर लय हो जाती है। मनुष्य की विचार-धारा भी इसी प्रकार है। मनुष्य रजोगुण की प्रधानता से विचार करता है, सत्त्व गुण की प्रधानता से अनुभव करता है और तमोगुण की प्रधानता से क्रिया करता है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सत्, चित्, आनन्द, सत्यं शिवं सुन्दरं, ऋक्, साम, यजु, देव, नर, राक्षस, ब्रह्माणी, रुद्राणी, वैष्णवी, इन सभी का सम्बन्ध मस्तिष्क, हृदय और इन्द्रियों के साथ है।

हमारे यहाँ परलोक के लिए तीन पुरुषार्थ बताये गये हैं। अर्थ, धर्म और काम। मस्तिष्क का काम है अर्थ के विषय में चिन्तन करना। हृदय का काम है धर्म के विषय में जानकारी प्राप्त करना और इन्द्रियों का काम है कामोपभोग करना। जो अपने जीवन का प्रधान लक्ष्य अर्थोपार्जन ही बना लेगा, उसका मस्तिष्क तो अच्छा होगा। वह सोच तो बहुत सकेगा, किन्तु वह पूर्ण धार्मिक नहीं बन सकता। जिसका जीवन धर्म-प्रधान होगा, वह अर्थ की कुछ भी परवा न करेगा और धर्म के विषय में अधिक अनुभव करेगा। जो पुरुष कामी होगा, वह न तो विशेष विचारवान् हो और न अधिक धार्मिक ही होगा। वह इन्द्रिय-सुख में ही सदा लगा रहेगा। हृदय से अनुभव करके मस्तिष्क के द्वारा उसे पुष्ट करके जो कार्य करेगा, वही संसार में रहकर भी धार्मिक बना रहेगा। इन सब में हृदय का प्रधान स्थान है। व्यास जी कहते हैं—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष नैव कश्चिच्छृणोति मे
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।

अर्थात् मैं लोगों से हाथ उठा उठाकर कहता हूँ, परन्तु मेरी कोई सुनता ही नहीं। अरे, यदि तुम्हें द्रव्योपार्जन करना हो तो धर्मपूर्वक करो। अर्थात् जिस काम में तुम्हारा हृदय गवाही देता हो, उसे करो और यदि तुम्हें इन्द्रिय सुख भी भोगना हो, तो उसे भी धर्मपूर्वक ही भोगो।

यह तो हुई संसार में रह कर परमार्थ साधन की बात, किन्तु जो घोर संसारी हैं, वे भी तीन ही काम अच्छे समझते हैं। अर्थात् खाओ, पीओ, मौज करो।

संसारी त्रिवर्गीक ण खाना, पाना और मौज करना

खाने की सभी बातें मस्तिष्क से ही सोची जाती हैं। जो संसारी पुरुष जितना ही अधिक विचारता है, वह अनेक प्रकार की खाने की वस्तुओं के सम्बन्ध में सोचता है और उनकी प्राप्ति के लिए उद्योग करता है। लोग 'पीते' इसलिये है कि हम विचार करना भूलजायँ। अच्छे अच्छे वकील, बैरिस्टर और सम्पादकों को हमने 'पीते' देखा है। वे दिन भर तो बेचारे अपनी रोज़ी कमाने में लगे रहते हैं। कार्यालय में सम्पूर्ण समय तो उनका विचार करने में कटता है, अब थोड़ी देर के लिए वे अपने मस्तिष्क से छुट्टी पाना चाहते हैं। उनकी इच्छा होती है कि थोडी देर मस्तिष्क से कुछ भी काम न लेकर हृदय के साथ खेलें। इसलिए विचारों के प्रवाह को रोकने के लिए वे पीते है। मौज हमेशा इन्द्रियों ही से की जाती है। अतः घोर संसारी आदमी भी तीन ही काम करते हैं।

सम्पूर्ण विश्व का काम मस्तिष्क, हृदय और इन्द्रिय के ही द्वारा हो रहा है, किन्तु इस में हृदय ही प्रधान है और भक्ति का उद्गम-स्थान हृदय ही है।

यह बात तो सिद्ध हो चुकी कि "भक्ति" का उद्गम-स्थान हृदय है और हृदय-प्रधान पुरुष ही भक्त कहे जा सकते हैं। संसारी हृदय-प्रधान पुरुष नक़ली शराब का पान करके प्रसन्न होते हैं और उसकी मस्ती मे घर बार आदि सभी को भूल जाते है और जो परमार्थी हृदय-प्रधान भक्त हैं वे प्रभु-प्रेम का लबालब प्याला पीकर पागल हो जाते हैं, उसके नशे में वे घर-बार, स्त्री, पुत्र और परिजनों की तो बात ही क्या, संसार को भी बिलकुल भूल जाते हैं। ऐसे ही भक्त धन्य हैं और उनका ही पीना यथार्थ में पीना कहा जा सकता है। आज पीकर जो नशा कल उतर गया वह नशा क्या हुआ ? नशा तो उसीका नाम है, जो एक बार पीने से जन्म-जन्मान्तरों तक न उतरे। ऐसे ही प्रेमी पागलों का संसार में होना सार्थक है।

नक़ली और असली प्याला

अब संक्षेप में इस बात पर विचार करना है कि भक्त कितने प्रकार के होते हैं। यहाँ भक्त से हमारा तात्पर्य असली भक्त से है, जो परमात्मा के अनिर्वचनीय आनन्द को प्राप्त करने के लिए अधीर हो रहा हो, जिसे सांसारिक कामनायें बिलकुल भी न रही हों, जो केवल एकमात्र प्रभु को ही प्राप्त करना चाहता हो और दिन-रात्रि उसके हृदय में उसी असीम, आनन्द-सागर में डुबकी लगाने के लिए वेदना होती रहती हो।

भक्त

भक्तों के भेद बताने के पूर्व पहले हम संक्षेप में इस बात के ऊपर विचार करेंगे कि उस अमृत-सागर तक पहुँचने के पूर्वाचार्यों ने कितने मार्ग बताये हैं। हमारे शास्त्रों में परमात्मा की प्राप्ति के मुख्यतया चार ही उपाय बताये

ज्ञान, उपासना, योग और कर्म

है ज्ञान, उपासना, योग और कर्म। ज्ञान से मतलब है, विचार के द्वारा सत्पदार्थ को जानना। योग चित्त की वृत्तियों के ऊपर पूर्ण रीति से अधिकार करने को कहते है। उपासना में उपास्य और उपासक भाव से परमात्मा की पूजा की जाती है। वेद-विहित कर्मों के अनुष्ठान को कर्म-मार्ग कहते हैं। योग (पातञ्जल से मतलब है) और ज्ञान का सम्बन्ध मस्तिष्क से है। उपासना और कर्म का सम्बन्ध हृदय से है। इन चारों ही मार्गों के लिए श्रद्धा की आवश्यकता है। श्रद्धा के बिना इन चारों ही मार्गों से किसी से भी सिद्धि प्राप्त नही हो सकती। श्रद्धा-युक्त उपासना को ही भक्ति कहते है। भक्त में जितनी ही अधिक श्रद्धा होगी वह उतना ही ऊँचा भक्त समझा जावेगा। यहाँ श्रद्धा से तात्पर्य अपने लक्ष्य मे पूर्ण विश्वास से है।

भक्तों के भी दो भेद हैं। एक तो वे, जो भगवान् को बड़ा अथवा पूज्य समझ कर श्रद्धा के साथ उसकी उपासना करते हैं और दूसरे वे, जो भगवान् को बिलकुल अपना ही समझ

भक्त के भेद

कर सभी काम उसीके ऊपर छोड़ देते हैं। परमहंस रामकृष्णदेव कहा करते थे "भक्त दो प्रकार के होते हैं। एक भक्त तो बन्दर के बच्चे के समान होते हैं, वे बलपूर्वक अपनी माता की छाती से चिपटे रहते हैं। माता यदि उन्हें छोड़कर चली भी जाय तो वे अपने पुरुषार्थ से दौड़कर उसके अंक में जाकर चिपट जायँगे। वे सदा इस बात का ध्यान रखते है कि माता मुझसे विलग न होने पावे। दूसरे भक्त बिल्ली के बच्चे के समान होते है। वे अपनी निजकी कुछ भी चेष्टा नही करते। माता उन्हें जहाँ चाहे उठाकर रख दे, वही रखे रहते है।" सारांश यही हुआ कि जो भगवान् की भक्ति के साथ ही साथ पुरुषार्थ को भी स्थान देते है उन्हें तो हम विचारवान् भक्त कहेंगे और जो खाली परमात्मा का ही पल्ला पकड़े रहते है उन्हें हम भावुक भक्त कह सकते है। वे अपना संघ बना सकते हैं और अपनी भक्ति का प्रचार कर सकते है। किन्तु भावुक भक्तों से ऐसा नही हो सकता। वे स्वयं चाहें तो असीम आनन्द की उपलब्धि कर लें, किन्तु संघबद्ध होकर वे उसका प्रचार नहीं कर सकते। उनकी भावुकता से चाहे भले ही लोग लाभ उठालें, किन्तु स्वयं वे कोई संघ खडा नही कर सकते। जैसे सूरदास, नंददास, नरसी मेहता, मीराबाई, रामप्रसाद इत्यादि। हाँ, भावुक भक्त यदि पहले ज्ञान की उपलब्धि कर चुका है, और महान् भावुकता की झोंक में भी जिसके मुख से ज्ञान की ऊँची से ऊँची बात आप ही आप निकल पड़ती है, वह स्वयं

तो उपदेश करने और संघ बनाने में असमर्थ होता है, किन्तु उसके भावुक विचारवान् शिष्य उसके नाम से अन्त मे संघ बना सकते है। यदि शिष्य स्वयं शक्तिशाली हुआ तो वह अपने ढँग से जिस प्रकार चाहे प्रचार कर सकता है और संघ को जिधर चाहे लेजा सकता है। यदि उसमें विशेष शक्ति नही हुई तो वह अपने आचार्य्य के ही गीत गाया करता है। इस प्रकार के भावुक भक्तो का दर्जा बहुत ऊँचा है। महाप्रभु गौराङ्गदेव, श्रीरामकृष्ण परमहंस आदि भक्तों की गणना इसी प्रकार के उच्च कोटि के भक्तो में की जा सकती है।

निर्गुण और सगुणोपासक भक्त

अब भक्तों की दो श्रेणियाँ हो गईं। एक तो विचारवान् भक्त और दूसरे भावुक भक्त। विचारवान् भक्तों का साध्य निर्गुण ईश्वर है। उनमे से बहुत से भक्त साधन के रूप में सगुणोपासना को स्थान देते हैं। बहुत से ख़ाली। निर्गुण उपासना को ही सब कुछ मानते है। कबीरदास, नानकदास, चरनदास, पलटूदास आदि इसी प्रकार के भक्तों में से हैं। जो निर्गुण उपासना के साथ ही साथ सगुणोपासना को भी स्थान देते है, उनमें रैदास, प्रीतमदास, आदि भक्तों की गणना की जा सकती है।

भावुक भक्त सदा सगुणोपासक ही होते हैं। सगुणोपासना ही उनका प्रधान कर्तव्य है। वे पुरुषार्थ पर बहुत भरोसा नहीं रखते। विद्या, तप, जप, योग, आचार उनके लिए एक-

मात्र भगवान् की कृपा ही है। बाधा या भय होने पर जैसे बालक पुरुषार्थ न करके अपनी माता की गोदी में ही आकर छिप जाता है, उसीप्रकार ये अपने सम्पूर्ण कर्मों का भार परमात्मा के ही ऊपर छोड़ देते है। अब यहाँ बहुत ही संक्षेप मे दोनों प्रकार के भक्तो के सिद्धान्तों के विषय में विचार किया जावेगा।

विचारवान् भक्तों के सिद्धान्त

विचारवान् भक्तो ने विशेष कर चार बातो पर अधिक ज़ोर दिया है। (१) श्रीगुरु-महिमा। (२) नाम-महिमा (३) सत्संग-महिमा। (४) अजपा जाप-महिमा। श्रीगुरु से मतलब उन लोगों का परमात्मा से है। अथवा ऐसे महापुरुष से है, जिसमें हम परमात्मा के सदृश गुण देख सके। गुरु में और परमात्मा में कोई अन्तर नही। गुरु की महिमा भी परमात्मा के ही सदृश है। जिन्होने अभी परमात्मा को प्राप्त नहीं किया है उनके लिए तो गुरु परमात्मा से भी बड़ा है। महात्माओ ने गुरु को वंदना में कैसी अच्छी अच्छी युक्तियाँ दी हैं।

गुरुदेव

गुरु हैं बड़े गोविंद ते, मन में देखु विचार।
हरि सिरजे ते वार है, गुरु सिरजे ते पार॥

गुरु गोविंद दोनों खड़े, किसके लागों पाय ।
बलिहारी गुरुदेव की, जिन गोविंद दिया बताय ॥

(कबीर)

बन्दौं गुरु-पद-कंज, कृपासिन्धु नररूप हरि ।
महा मोह तम पुंज, जासु वचन रविकर निकर ॥

(तुलसीदास)

भवसागर मैं डूबतां, सतगुरु काढ़े आय ।
दादू खेवट गुरु मिल्या, लीये नाव चढ़ाय ॥

(दादूदयाल)

पलटू सतगुरु पाय के, दास भया निरबार ।
परस्वारथ के कारने, संत लिया औतार ।

(पलटूदास)

गुरु समान तिहुँ लोक में, और न दीखै कोय ।
नाम लिये पातक नसै, ध्यान किये हरि होय ॥

(चरनदास)

तत्त्व सार त्रिलोक मां, गुरु गोविंदज रूप ।
आद्य अंत्य मध्य अेह छे, हरि गुरु संत स्वरूप ॥

(प्रीतमदास)

सतगुर सम कोउ है नहीं, या जग में दातार ।
देत दान उपदेश सों, करैं जीव भव पार ॥
(दयाबाई)

सब परबत स्याही करूँ, घोलूँ समुंदर जाय ।
धरती का कागद करूँ, गुरु अस्तुति न समाय ॥
(सहजोबाई)

गुरु के बिना ज्ञान नहीं हो सकता । गुरु ही सब ज्ञान के भंडार है । जो लोग कमजोर है, जिन्हें अभी उत्कट वैराग्य नहीं है, उन्हें स्थूल रूप से ही गुरु बनाना चाहिए और गुरु के पार्थिव शरीर की पूजा-अर्चा करनी चाहिए, किन्तु जिन्हें उत्कट वैराग्य है उनके परमगुरु तो भगवान् ही हैं । उनकी अर्चना, पूजा से ही सब कार्य्य सिद्ध हो सकते है । जो हमे ज्ञान का उपदेश करें, वे ही गुरु हैं । अतः इन संतो ने गुरु की महिमा बहुत अधिक गाई है ।

नाम-महिमा

गुरु के पश्चात् इन सभी महात्माओं ने नाम-जप पर बड़ा ज़ोर दिया है । नाम के जप से क्या होता है ? नाम-जप में कौन सा वैज्ञानिक तत्त्व है ? इन प्रश्नों का उत्तर दिया ही नही जा सकता । असल में नाम की उपयोगिता मस्तिष्क से विचार द्वारा कभी भी सिद्ध नही हो सकती । नाम-जप केवल शुद्ध

श्रद्धामूलक है। "विश्वास के साथ नाम-जप करते चले जाओ, तुम्हारा कल्याण होगा।" गोस्वामी तुलसीदासजी ने तो नाम का महात्म्य वर्णन करते हुए यहाँ तक कह डाला है—"भाव कुभाव अनख आलसहू, नाम जपत मंगल दिसि दसहू"। नाम के लिए यह बात नही है कि अमुक ही नाम जपो। जिसकी जिस नाम पर श्रद्धा हो। जिन्हें राम-नाम पर श्रद्धा हो वे राम-नाम का का जाप करें, जिन्हें कृष्ण-नाम में विश्वास हो वे कृष्ण नाम का स्मरण करें। जिन्हें ॐ पर अथवा गायत्री आदि किसी वैदिक मंत्र पर विश्वास हो वे उसी का जाप करें। श्रद्धा के साथ जप की आवश्यकता है। जप की महिमा प्राचीन ग्रन्थों मे भी बहुत वर्णन की गई है। जप-यज्ञ को सब यज्ञों में श्रेष्ठ कहा गया है। कारण कि अन्य यज्ञों मे तो थोड़ी बहुत हिंसा होती है, किन्तु जप-यज्ञ में हिसा की सम्भावना ही नहीं। इसीलिए जप के महात्म्य मे कहा गया है—

समस्त सप्त तन्तुभ्यो जपयज्ञः परः स्मृतः।
हिंसयाऽन्ये प्रवर्तन्ते जपयज्ञो न हिंसया॥
यावन्त· कर्मयज्ञाश्च दानानि च सपांसि च।
ते सर्वे जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशोम्॥

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी भी गीता में अपनी उत्तम उत्तम विभूतियों को गिनाते हुए कहते हैं "यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि"। अर्थात् सम्पूर्ण यज्ञों में जो श्रेष्ठ यज्ञ जप है सो मैं हूँ। पूर्वाचार्यों ने गायत्री-जप की महिमा बहुत अधिक वर्णन की है,

किन्तु आज-कल के सभी लोग गायत्री-जाप के लिए जितनी पवित्रता की आवश्यकता है, न तो उतनी पवित्रता ही रख सकते हैं, न शास्त्रोक्त सभी विधानों का ही पालन कर सकते है। अतः सर्वसाधारण के लिए राम-नाम-जप ही सर्वश्रेष्ठ है। जो गायत्री मंत्र का जप कर सकें, वे करें। बहुत ही उत्तम है, किन्तु सर्वसाधारण का श्रद्धापूर्वक राम-नाम-जप से ही उद्धार हो सकता है। महात्माओं ने नाम की महिमा में बहुत अधिक कथन किया है। कुछ थोड़े से उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

राम नाम मणि दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरौ, जो चाहसि उजियार॥
(तुलसीदास)

राम जपत कोढ़ी भला, चुइ चुइ परै जो चाम।
कंचन देह किस काम की, जा मुख नाहीं राम॥
राम नाम को सुमिरता, हँसिकर भावै खीज।
उलटा सुलटा नीपजै, ज्यों खेतन में बीज॥
(कबीरदास)

अट्ठे पहर मचंदड़ा, कच्चे कूड़े कंम।
नाम अराधन नामिले, नानक हीन करंम॥
(नानक)

दादू नीका नाम है, तीन लोक ततसार।
राति दिवस रटवो करी, रे मन इहै विचार॥
(दादूदयाल)

राम नाम एक रती, पाप के कोटि पहाड़।
ऐसी महिमा नाम की, जारि करै सब छार॥
(मलूकदास)

सकल सिरोमनि नाम है, सब धरमन के माहिं।
अनन्य भक्त वह जानिये, सुमिरन भूलै नाहिं॥
(चरनदास)

राम नाम अमुलख रतन, जतन करे जे कोय।
सुखी रहे संसार माँ, दीन दुखी नव होय॥
(प्रीतमदास)

राम नाम के लेत ही पातक झरैं अनेक।
रे नर हरि के नाम की, राखो मन में टेक॥
(दयाबाई)

सहजो जा घट नाम है, सो घट मंगल रूप।
नाम बिना धिरकार है, सुन्दर धनवँत भूप॥
(सहजोबाई)

तुलसीदासजी ने तो नाम की महिमा में यहाँ तक कह डाला है कि "राम न सकहिं नाम गुण गाई"। राम-नाम की महिमा का वर्णन स्वयं रामचन्द्रजी नहीं कर सकते।

सत्संग-महिमा

नाम-महिमा के पश्चात् इन सभी महात्माओं ने सत्संगति की महिमा गाई है। सत्संगति से जो सुख और आनन्द प्राप्त होता है, उसे सभी लोग जानते हैं। मनुष्य जो भी कुछ सीखता है, सगति से ही सीखता है। नवजात बालक को आप जन-हीन अरण्य में रख दीजिए। जंगली जानवरों के संग से उसकी प्रकृति भी जंगली जानवरों की सी ही हो जायगी। वह न तो मनुष्यों की भाँति बोल सकेगा, न पारिवारिक जीवन में ही अभिज्ञता प्राप्त कर सकेगा। मनुष्य जो भी कुछ सीखता है, संगति से ही सीखता है। एक आदमी व्यवहार में निपुण होना चाहता है, तो उसका कर्तव्य है, कि वह व्यवहारकुशल पुरुषों का संग करे। उनके संसर्ग से धीरे धीरे वह भी व्यवहारपटु हो जायगा। यद्यपि जिन लोगों ने अपने कार्यों में पटुता प्राप्त करली है, उन्हें संगति की उतनी आवश्यकता नहीं रहती, किन्तु जो अभी नये सीखतर ही हैं, जिन्होंने इस कार्य्य में थोड़े ही दिन से प्रवेश किया है उन्हें तो संगति की नितान्त आवश्यकता है। संसार में कोई भी कार्य संगति के बिना नहीं हो सकता। सृष्टि का कार्य्य ही संग से चल रहा है। पति-पत्नी के संग के बिना सन्तान का होना

कभी सम्भव ही नहीं। उसी संग को पलट दीजिये, उसके साथ 'सत' शब्द और जोड़ दीजिये, बस परमात्मा की प्राप्ति का साधन बन जायगा। जैसे यहाँ पति-पत्नी के संग से इस लोक की सबसे उत्तम वस्तु पुत्र की प्राप्ति होती है, वैसे ही साधु, महात्मा तथा संतों के सत्संग से परलोक की दिव्य से दिव्य वस्तु परमात्मा की प्राप्ति होती है। खाली लौट देने से ही काम चल जायगा। जैसा अनुराग कि पुरुष स्त्री में रखता है, उसी प्रकार का प्रेम सत्पुरुषों में रखने से हमारा परलोक बन सकता है।

कुसंग से जहाँ मनुष्य पतित होता है, वही सत्संगति के कारण दिव्य बन सकता है। सत्संगति को पाकर शठ भी सुधर जाता है। तुलसीदासजी कहते हैं—"शठ सुधरहिँ सत्संगति पाई, पारस परस कुधातु सुहाई।" सत्संगति मनुष्य को जाने क्या बना देती है। भर्तृहरिजी सत्संगति की महिमा वर्णन करते हुए कहते है——

जाड्यं धियो हरति सिंचति वाचिसत्य।
मानोन्नति दिशति पापमपाकरोति॥
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं।
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्॥

सत्संगति के प्रभाव से मुमुक्षु शीघ्र ही मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। सत्संग से कितने दिन में मुक्ति मिलती है? इस सम्बन्ध में समर्थ गुरु रामदासजी कहते हैं—"जैसे लोह

पारस के छूने से उसी क्षण सोना हो जाता है, जलबिन्दु सागर में तत्काल मिल जाता है और जैसे कोई नदी गंगा में मिलते ही गंगा का रूप हो जाती है, उसीप्रकार जो पुरुष सावधान, उद्योगी और दक्ष हैं उन्हें तत्काल ही सत्संग से मोक्ष मिलता है। और दूसरों के लिए तो वह अलक्ष है—उसे देख ही नहीं सकते।"

सत्संग में सबसे प्रथम स्थान तो है गुरु के साथ परमार्थ विषय का संग करना। दूसरा स्थान है ज्ञानी और संत महात्माओं के उपदेश श्रवण करना। तीसरा स्थान है शास्त्रचिंतन करना और चौथा स्थान है तीर्थों में भ्रमण करना। तीर्थों का माहात्म्य इसीलिए विशेष रक्खा गया है कि वहाँ जाने पर अच्छे अच्छे महात्माओं के साथ सत्संग करने का सुयोग प्राप्त होता है। तुलसीदासजी कहते हैं—"सुतदारा अरु संपदा सब काहू के होय। सत्संगति अरु हरिकथा तुलसी दुरलभ दोय"। सत्संगति का बड़ा माहात्म्य है। हम इन महात्माओं के सत्संगति के कुछ वाक्य नीचे उद्धृत करते है—

तात ! स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अंग।
तुलै न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग॥
(तुलसीदास)

कबिरा मन पंछी भया, भावै तहवाँ जाय।
जो जैसी संगति करै, सो तैसा फल खाय॥

मथुरा भावैं द्वारिका, भावैं जा जगनाथ।
साध संग हरि भजन बिनु, कछू न आवै हाथ॥
(कबीरदास)

साध मिलै तब ऊपजै, हिरदे हरि का हेत।
दादू संगति साध की, कृपा करै तब देत॥
(दादूदयाल)

करो नर हरिभक्तन को संग।
(चरनदास)

नाम निरंतर लीजिये, वाणी कीजे सत्संग।
संत संग सुख ऊपजे, होय भरमणा भंग॥
(प्रीतमदास)

सुरति शब्द-योग

सत्संगति के पश्चात् इन महात्माओं ने सुरति शब्द-योग की महिमा वर्णन की है। यहाँ हम संक्षेप में सुरति शब्द-योग के विषय में कुछ बता देना चाहते है।

वैसे तो हमारे शास्त्र-कारों ने भक्ति-योग, राजयोग, हठयोग, मंत्रयोग, जपयोग, क्रियायोग आदि बहुत से योगों का वर्णन किया है, किन्तु मुख्यतया चार ही योगों का वर्णन अधिकता से पाया जाता है। योगशिखोपनिषद् में लिखा है—

मन्त्रो लयो हठो राजयोगोऽन्तर्भूमिका क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते॥

ये चारों असल में नाम के लिए ही अलग रहें, वैसे इन चारो में से किसी एक को भी करने से वही अन्तिम स्थिति प्राप्त होती है और वहाँ जाकर चारो ही एक हो जाते है। सुरति शब्द-योग का सम्बन्ध मन्त्र-योग से है। "मन्त्रजपान्मनो लयो मन्त्रयोगः" अर्थात् मन्त्र-जप के द्वारा जो मनोलय किया जाता है उसे मन्त्र-योग कहते हैं। मन्त्र के निरन्तर जाप से जब सुप्त हुई कुंडलिनी जाग्रत हो जाती है तब सभी चक्र-भेदन हो जाते हैं और शक्ति शिव से मिल कर परम सन्तुष्ट हो जाती है। जीव ब्रह्मरूप हो जाता है और उसके सभी दुःख-द्वन्द्व दूर हो जाते हैं। वह नित्य शुद्ध-बुद्ध, सच्चिदानन्द के रूप में निमग्न हो जाता है।

शास्त्रकारों का यह एक प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि जो वस्तु पिंड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। पिंड के ज्ञान से सम्पूर्ण विश्व, ब्रह्माण्ड और उसके बाहर-भीतर का ज्ञान हो जाता है। मनुष्य का शरीर सृष्टि का एक छोटा सा नमूना ही है। योग के द्वारा ही इसका पूर्णरीत्या ज्ञान हो सकता है। जबतक प्राणो की गति नीचे की ओर है, तबतक इसका ज्ञान होना कठिन ही नहीं, किन्तु असम्भव है। जब प्राणों की गति ऊपर की ओर हो जायगी तब सम्पूर्ण ज्ञान हस्तगत हो जायगा। बिना सुषुम्ना में प्राणों का संचार हुए प्राण ऊपर चढ़ नहीं सकते। अतः सब से

पहले आवश्यकता इस बात की है कि सुषुम्ना का शोधन किया जाय।

मनुष्य के शरीर में मुख्यतया तीन नाड़ी है। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना। इड़ा और पिंगला के द्वारा हम श्वास-प्रश्वास लेते है। सुषुम्ना सब से बड़ी और मुख्य नाड़ी है। सभी नाड़ियाँ इसीमें से निकली है। पीठ के पीछे हम छोटी छोटी बहुत सी गाँठें देखते है, जिन्हें हम मेरुदंड कहते है। उसका सम्बन्ध मस्तिष्क से लेकर गुदा तक है। असल मे यह एक हड्डी नही है। छोटी छोटी बहुत सी कसेरुकाओ को मिलाकर यह एक दड बन गया है। ये सब कसेरुकाएँ २८ के लगभग है। ये हाथ की मुट्ठी की भाँति एक के ऊपर एक रक्खी हुई है। प्रत्येक कसेरुका मे दाईं और बाईं तरफ छोटे छोटे दो छिद्र हैं। बीच में यह पोली है। एक के ऊपर एक रखने से इनके बीच में एक नली सी बन गई है। उसी नली मे होकर सुषुम्ना नाड़ी गई है। प्रत्येक के बीच मे जो दो दो छिद्र है, उनमे से छोटी छोटी नाड़ियाँ निकल कर सम्पूर्ण शरीर मे फैला हुई हैं। यह मेरुदड असल मे सीधा नही है, किन्तु टेढ़ा-मेड़ा और कई जगह से मुड़ा हुआ सा है, इस नाड़ी मे ६ स्थानो मे ग्रन्थि सा पड़ गई है, उन्हे ही हम 'षट् चक्र' कहते है।

सबसे पहला चक्र गुदा में है। जहाँ पर कि अपान वायु का स्थान है। इसका नाम है मूलाधार चक्र। यह चक्र चार दल वाला है। यहाँ बहुत से देव-देवियों का निवास है। दूसरा

चक्र नाभि और गुदा के बीच में है उसका नाम "स्वाधिष्ठान चक्र" है। यहाँ कदर्पवायु का स्थान है, कई देव-देवी यहाँ विराजमान है और यह ६ दल वाला कमल है। तीसरा चक्र नाभि में है, इसका नाम "मणिपूरक चक्र" है। यहाँ प्राण-वायु का स्थान है आर यह १० दल का कमल है।

चौथा चक्र हृदय मे है। यहाँ भी देवी-देवता है और जीवात्मा इसी स्थान मे रहता है। इसका नाम "अनहद चक्र" है और यह १२ दल वाला कमल है। इसके ऊपर कंठ-प्रदेश में पाँचवा चक्र है, इसका नाम "विशुद्ध चक्र" है और यह १६ दल वाला कमल है। इसके ऊपर दोनो भ्रकुटियों के पास छुठा चक्र है, इसका नाम "आज्ञा चक्र" है। यह दो दलवाला कमल है। इन सब चक्रो में अलग अलग देवी-देवता निवास करते हैं। पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश इन पंचभूतों का भी क्रमशः इन चक्रो के साथ सम्बन्ध है और ये अपने अपने बाहनों के सहित उन स्थानो मे विराजमान है। इन दलों में अलग अलग मात्रिक वर्ण भी है। यथा आज्ञाचक्र के दोनों दलो. मे 'ह' और 'क्ष' मात्रिक वर्ण है। कंठ के १६ दलो में १६ व्यंजन है। हृदय के १२ दलो में 'क' से लेकर 'ठ' तक १२ मात्रिक वर्ण हैं। नाभि के १० दलों मे 'ड' से लेकर 'फ' तक १० मात्रिक वर्ण है। लिग के ६ दलों मे 'ब' से लेकर 'ल' तक ६ मात्रिक वर्ण है और इसी प्रकार गुदा के चार दल वाले चक्र में 'व' से लेकर कर 'स' तक चार मात्रिक वर्ण हैं।

सबसे नीचे के चक्र मे सर्प की भाँति कुंडलिनी शक्ति है। वह साढ़े तीन चक्कर लगाकर सुषुम्ना के मुख को रोके हुए सुप्त पड़ी है। इसी कारण सुषुम्ना में होकर प्राण आ-जा नही सकते। जब सोई हुई कुंडलिनी शक्ति जागृत हो और वह सुषुम्ना के रास्ते को खोल दे, तो उसमे प्राण प्रवेश कर सकते है। कुंडलिनी जाग्रत कैसे हो? इसके लिए सभी पृथक् पृथक् बहुत से उपाय बताते है। अजपा जाप से भी सुप्त कुंडलिनी जाग्रत हो सकती है। अजपा जाप क्या है? मनुष्य जो स्वाभाविक रूप से सास लेता है, उसके साथ ओम्, सोह, हंस अथा, ओअं आदि मन्त्रो का जाप करना। इसका सम्बन्ध प्राण और अपान वायु से है। यथा—

> हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः।
> हंसेति परमं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥

हस, सोहं इस मन्त्र को जीव सदा जपता रहता है। मुसलमान सूफ़ियो ने भी इस साधन को स्वीकार किया है और वे हस की जगह अल्ला, हू इस महामत्र का जाप करते है। गुरु के बताये हुए जिस किसी उपाय से भी जब कुंडलिनी-शक्ति जाग्रत हो जाती है, तब फिर साधक को प्राणो को ऊपर ले जाने में देर नहीं लगती। कुंडलिनी जाग्रत होते ही वह स्वयं सुषुम्ना के मुख मे घुसने लगती है। उसके जाग्रत होते ही उलटे कमल सीधे हो जाते है। जिस रास्ते से

कुंडलिनी प्रवेश करती है, उसे बंकनाल कहते हैं। कुंडलिनी के प्रवेश करने से उसमें प्राणों को प्रवेश करने का भी स्थान मिल जाता है। कुंडलिनी जब ऊपर को चढ़ती है, तब सभी चक्रों के देवी देवता, मात्रिक वर्ण उन उन स्थानों के भूतों को अपने में मिलाती जाती है। हृदय-चक्र में से वह जीवात्मा को भी साथ ले जाती है। आज्ञाचक्र के पास 'त्रिवेणी' स्थान है; जहाँ जाकर इड़ा पिंगला और सुषुम्ना का संयोग होता है। उसके ऊपर सहस्रदल कमल है। उसमे मानसरोवर, भ्रमर गुफा, उभटपीठ, आदि स्थान है। उससे ऊपर शून्य महल तथा शून्य शिखर आदि स्थान है। वहाँ बहुत से लोक हैं। वही पर दसवाँ द्वार है। शिवजी वहाँ विराजमान हैं। बिना शक्ति के शिवजी अब तक 'शव' बने हुए पड़े थे, शक्ति के मिलने से वे जाग्रत हो जाते है और परमानन्द को प्राप्त हाते हैं। हंस रूपी जो जीव है, वह मानसरोवर में जाकर परम सुखी हो जाता है। वह सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त होकर सच्चिदानन्द के स्वरूप में निमग्न हो जाता है। वहाँ पर गुरुस्थान, हंस-स्थान, आदि बहुत से स्थान है। योगी को वहाँ पहुँच कर कैसा आनन्द प्राप्त होता है? इसका वर्णन करना असम्भव है। उस सहस्र दल कमल के विषय में चरनदासजी लिखते है—

दल असख को कमल रूप जहँ सस विराजै।
अनंत भानु परकास जहाँ अनहद धुनि गाजै॥

सुन्दर छबि अति हंस संत जन आगे ठाड़े ।
जहँ पहुँचै कोइ सूरवीर नीसान जो गाड़े ॥
कमल मध्य जो तख्त है शोभा अपार बरनूं कहा ।
कहै चरनदास उस तख्त पर आदि पुरुष अद्भुत महा ॥

जबतक कि कुंडलिनी जाग्रत नहीं होती तबतक चक्रो का भेदन होना असम्भव है और जबतक चक्र-भेदन नही होता तबतक प्राणो की गति पलटी नही जा सकती। प्राणो की गति पलटने से बिन्दु दृढ होना है और तभी यथार्थ अनुभव भी होता है। अतः जबतक कुंडलिनी जाग्रत न हो—चाहे वह किन्ही उपायो से क्यों न हो—तबतक अनुभव की बातें कहना निरी बकवाद ही है। हठयोग-प्रदीपिका में एक स्थान पर लिखा है—

यावन्नैव प्रविशति चरन्मारुतो ध्यमार्गे
यावद् विन्दुर्न भवति दृढ़ः प्राणवातप्रबन्धात् ।
यावद् ध्याने सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वं
तावद् ज्ञान वदति तदिदं तत्त्वमिथ्याप्रलाप॰ ॥

अत्यन्त भक्ति से, अत्यत ध्यान से, निरन्तर के जाप से भी कुंडलिनी स्वय जाग्रत हो जाती है। जब प्राणों की गति उलट जाती है, तभी साधक को सच्चे सुख का अनुभव होता है। फिर सम्पूर्ण द्वैधीभाव मिट जाता है। उस सुख का वर्णन भला कौन कर सकता है? वहाँ पहुँच कर सर्वत्र आनन्द ही आनन्द दीखता है। आनन्द के अतिरिक्त वहाँ कुछ दिखाई ही

नहीं पड़ता। कबीर साहब ने नीचे के दोहों में कैसा अद्भुत वर्णन किया है—

लाली मेरे लाल की, जित देखों तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥
उलटि समाना आप में, प्रकटी जोति अनंत।
साहब सेवक एक संग, खेलैं सदा बसंत॥
नोन गला पानी मिला, बहुरि न भरिहै गौन।
सुरत शब्द मेला भया, काल रहा गहि मौन॥

परमात्मा प्राप्त होने पर जीव को जो सुख मिलता है उसे सत महात्माओं ने अवर्णनीय बताया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने भाँति भाँति के दृष्टान्त दिये है। किसी ने "गूँगे के गुण" का दृष्टान्त दिया है। किसी ने नव-बधू के प्रथम मिलन का दृष्टान्त देकर समझाया है। उस आनन्द का अनुभव तो वही कर सकता है जिसने उसका रसास्वादन किया हो। "गूँगे आदमी के इशारे को गूँगा ही भली भाँति समझ सकता है।" वासनाओं में आबद्ध हुए हम पामर प्राणी उस आनन्द के विषय में भला क्या जान सकते है? हमने तो जो इधर-उधर पुस्तकों में पढ़ा उसे ही लिख दिया। सद्गुरु के बिना, इस योग के जटिल रहस्य को क्या कोई पुस्तको के द्वारा समझ सकता है? या कोई उसका वर्णन कर सकता है? आत्मानुभव कहीं लिखा जा सकता है? कागज़ लिखते लिखते हमे हरेक विषय के लिखने की आदत पड़ गई है, अतः हम 'कागजी' जीव

इसे समझ ही क्या सकते है? कबीर साहब ने ठीक ही कहा है—

कागद लिखै सो काग ही, की ब्योहारी जीव।
आतम द्रृष्टि कहाँ लिखै, जित देखै तित पीव॥
लिखा लिखी की है नहीं, देखा देखी बात।
दुलहा दुलहिन मिल गये, फीकी पड़ी बरात॥

योग का विषय ऐसा है कि यह बिना सद्‌गुरु की कृपा के जाना ही नही जा सकता। हमने यहाॅ इसका उल्लेख इसीलिए कर दिया कि आजकल साधारणतया सभो विषयों को लोग मस्तिष्क के द्वारा जानना चाहते है। सब विषयो में थोड़ी बहुत जानकारी प्राप्त करने की लोगो को आदत सी पड गई है। इधर इन सभी महात्माओं ने विशद रूप से अपनी अपनी बानियों मे इस विषय का उल्लेख किया है। स्थान-स्थान पर दसवाँ द्वार, भ्रमर, गुफा, सुन्नमहल, सुरति, निरति, अनहद शब्द, बंकनाल, मेरुदड आदि योग के शब्द आते है। अजपा का नाम तो बहुत ही अधिकता से आता है। इसलिए साधारणतया लोगो की जानकारी के लिए यह आवश्यक था कि अनुभव ज्ञान के न सही तो मस्तिष्क के ज्ञान के लिए तो इनका उल्लेख कर ही देना चाहिए।

सातवें चक्र में बहुत से स्थान है। उन स्थानो का ऊपर के लोकों के साथ सम्बन्ध है। कबीर साहब ने अपने एक भजन में इन सबका बहुत ही स्पष्ट उल्लेख किया है। उन्होंने प्रत्येक

कमल के वर्ण, देवता, दलों तथा अन्यान्य सभी विषयों का वर्णन बड़ी ही उत्तमता से किया है। यद्यपि भजन बहुत बड़ा है, पाठक पढ़ते पढ़ते अकुला जायँगे, किन्तु इस विषय की जानकारी के लिए उस भजन का यहाँ उद्धृत कर देना आवश्यक ही जान पड़ता है। विषय गूढ है, साधारणतया समझ में नहीं आ सकता, किन्तु वह इतनी सरल भाषा में है कि उसका अर्थ पाठक स्वयं ही समझ लेंगे। अतः हम उस भजन को यहाँ उद्धृत करके इस विषय को यहीं समाप्त कर देंगे—

कर नैनो दीदार महल मे प्यारा है।
काम क्रोध मद लोभ बिसारो, सील संतोख छमा सत धारो।
मद्य मांस मिथ्या तजि डारो, हो ज्ञानघोड़े असवार भरम से न्यारा है॥
धोती नेती वस्ती पाओ, आसन पदम जुगुत से लाओ।
कुंभक कर रेचक करवाओ, पहिले मूल सुधार कार्य्य हो सारा है॥
मूल कँवल दल चतुर बखानो, जाप कलिंग लाल रंग मानो।
देव गनेस तहँ रोपा थानो, ऋधि सिधि चवँर ढुलारा है॥
स्वाद चक्र षट दल विस्तारो, ब्रह्म सवित्री रूप निहारो।
उलटि नागिनी का सिर मारो, तहाँ शब्द ओंकारा है॥
नाभी अष्ट कँवल दल साजा, सेत सिंहासन विष्णु विराजा।
जाप हरिंग तासु मुख गाजा, लछमी शिव आधारा है॥
द्वादश कँवल हृदय के माँही, संग गौरि शिव ध्यान लगाई।
सोह शब्द तहाँ धुन छाई, गन कर जै जै कारा है॥
दो दल कँवल कंठ के माँही, तेहि मध बसे अविद्या बाई।
हरि हर ब्रह्मा चँवर ढुलाई, श्रृंग नाम उच्चारा है॥

तापर कज कँवल है भाई, बग भौंरा दुइ रूप लखाई ।
निज मन करत तहाँ ठकुराई, सो नैनन पिछवारा है॥

कँवलन भेद किया निरवारा, यह सब रचना पिंड मँझारा ।
सतसंग कर सतगुरु सिर धारा, वह सत नाम उचारा है ॥
आँख कान मुख बंद कराओ, अनहद झिंगा शब्द सुनाओ ।
दोनों तिल इक तार मिलाओ, तब देखो गुलजारा है ॥
चन्द सूर एकै घर लाओ, सुषमन सेती ध्यान लगाओ ।
तिरबेनी के संघ समाओ, भोर उतर चल पारा है ॥

घंटा संख सुनो धुन दोई, सहस कँवल दल जगमग होई ।
ता मध करता निरखो सोई, बंकनाल धँस पारा है ॥
डाकिनी साकिनी बहु किलकारे, जम किंकर धर्मदूत हँकारे ।
सत्त नाम सुन भागे मारे, सतगुरु नाम उचारा है ॥

गगन मँडल बिच उर्ध मुख कुइयाँ, गुरुमुख साधू भर भर पीया ।
निगुरे प्यास मरे बिन कीया, जाके हिय अँधियारा है ॥
त्रिकुटि महल मे विद्या सारा, घनहरगरजे बजे नगारा ।
लाल बरन सूरज उँजियारा, चतुर कँवल मँझार शब्द ओंकारा है ॥

साध सोई जिन यह गढ लीन्हा, नौ दरवाजे परगट चीन्हा ।
दसवाँ जाय खोल जिन दीन्हा, जहाँ कुलुफ रहा मारा है ॥
आगे सेत सुन्न है भाई, मान सरोवर पैठि अन्हाई ।
हंसन मिलि हंसा होइ जाई, मिलै जो अमी अहारा है ॥
किंगरी सारँग बजै सितारा, अच्छर ब्रह्म सुन्न दरबारा ।
द्वादस भानु हंस उजियारा, षटदल कँवल मँझार शब्द ररंकारा है ॥

महा सुन्न सिध विषमी घाटी, बिन सतगुरु पावै नहि बाटी ।
व्याघर सिंघ सरप बहु काटी, सहज अचिंत पसारा है ॥

अठ-दल कँवल पारब्रह्म भाई, दहिने द्वादस अचिंत रहाई ।
बाये दस दल सहज समाई, यों कँवलन निरबारा है ।

पाँच ब्रह्म पाँचो अंड बीनो, पाँच ब्रह्म नि· अच्छर चीनो ।
चार मुकाम गुप्त तहँ कीना, जा मध बंदीवान पुरुष दरबारा है ।

दो पर्बत के सध निहारो, भँवर गुफा में सत पुकारो ।
हंसा करते केल अपारो, तहाँ गुरन दरबारा है ॥

सहस्र अठासी दीप रचाये, हीरे पन्ने महल जड़ाये ।
मुरली बजत अखंड सदाये, तहँ सोहं झनकारा है ॥

सोहं हद तजी तब भाई, सत्त लोक की हद पुनि आई ।
उठत सुगंध महा अधिकाई, जाको वार न पारा है ॥

खोडस भानु हंस को रूपा, बीना सत धुन बजै अनूपा ।
हंसा करे चँवर सिर भूपा, सत्त पुरुष दरबारा है ॥

कोटिन भानु उदय जो होई, ऐते ही पुन चन्द्र लखोई ।
पुरुष रोम सम एक न होई, ऐसा पुरुष दीदारा है ॥

आगे अलख लोक है भाई, अलख पुरुष को तहँ ठकुराई ।
अरबन सूर रोम सम नाँहीं, ऐसा अलख निहारा है ॥

तापर अगम महल इक साजा, अगम पुरुष ताही को राजा ।
खरबन सूर रोम इक लाजा, ऐसा अगम अपारा है ॥

तापर अकह लोक हैं भाई, पुरुष अनामी तहाँ रहाई ।
जो पहुँचा जानेगा वाही, कहन सुननते न्यारा है ॥

काया भेद किया निरबारा, यह सब रचना पिंड मँझारा ।
माया अवगति जाल पसारा, सो कारीगर भारा है ॥
आदि माया कीन्ही चतुराई, झूठी बाजी पिंड दिखाई ।
अवगति रचन रची अँड माहीं, ताका प्रतिबिंब डारा है ॥
शब्द विहंगम चाल हमारी, कह कबीर सतगुरु दइ तारी ।
खुले कपाट शब्द झनकारी, पिंड अंड के पार सो देश हमारा है ॥

इन विषयों के अतिरिक्त इन सभी महात्माओं ने नवधा भक्ति, प्रेम और वियोग, अनुभव-ज्ञान, संसार की नश्वरता, सृष्टि की उत्पत्ति, आदि सभी विषयो पर कुछ न कुछ कहा है। ये सभी विषय शास्त्रानुकूल होने से प्राचीन ग्रन्थों से मिलते-जुलते हैं, किन्तु इनके वर्णन करने का ढँग अद्भुत है। कबीरदासजी इन सभी महात्माओ से बढ़े-चढ़े हैं। उन्होंने सभी विषयो का बहुत ही सुन्दर और सजीव वर्णन किया है। इनके वर्णन मे "किताबीपन" की गन्ध तक नही। सम्भवतया किताबें वे देखते भी न रहे होंगे। इन्होंने अपने निज के अनुभव से ही इन बातो को जाना है। कबीरदासजी के पश्चात् जितने भी इस प्रकार के संत, महात्मा हुए है, उनपर कबीरदासजी के उपदेशो का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा है। सभी पन्थों के आचार्यों ने इन्हें श्रेष्ठ माना है और अपने ग्रन्थों में आदर के साथ इनका उल्लेख किया है। संत मन के तो कबीरदासजी आदि आचार्य्य ही माने जाते है। कबीरदासजी ने बडी ही निर्भीकता के साथ उस समय की प्रचलित

रूढ़ियो का खंडन किया है। इसका कारण यही जान पड़ता है कि लोग उन रूढियो ही को धर्म्म समझे बैठे थे। वेदान्ती खाली ब्रह्म ब्रह्म कहदेने ही में कल्याण समझे बैठे थे। भक्त लोग खाली घंटा बजा देने को ही मोक्ष-मार्ग समझने लग गये थे। ऐसे समय मे कबीरदासजी ने लोगो से आगे बढ़ने के लिये कहा। उन्होंने अपने तीव्र उपदेशो द्वारा लोगो को कुछ विचार करने और सत्य बात की खोज करने के लिए विवश किया। यही कारण था कि उस समय के कुछ पडितमानी महापुरुष इनके विरुद्ध हो गये और अन्त तक इनका खंडन करते रहे। उसका असर लोगो मे कुछ न कुछ अभी तक बना हुआ है। कुछ विषय ऐसे ही है जिनके सम्बन्ध मे अभी तक लोगो मे मतभेद फैला हुआ है। नीचे बहुत ही संक्षेप मे हम उन विषयो की चर्चा करेंगे।

जाति-भेद

सबसे पहली बात तो इन महात्माओ के सम्बन्ध में यह कही जाती है कि ये लोग जाति-पाँति को नही मानते थे। किन्तु ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो पता चलेगा कि इसमें यथार्थता कितनी है। यह बात तो निश्चित ही है कि आज-कल जिस रूप मे जातियाँ बनी हुई हैं, पहले इस रूप में इतनी जातियाँ कभी नहीं थी। पहले

सभी लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन्हीं चार वर्णों में अन्तर्भुक्त थे। बहुत पहले ये भेद-भाव भी इतनी जटिलता से नहीं थे। जब समाज की रक्षा के लिए इन वर्णों का पृथक् पृथक् करना अनिवार्य्य हो गया तब ये सब अलग अलग श्रेणियाँ करनी पड़ी। इससे यही सिद्ध होता है कि समाज-रक्षा के निमित्त ही जातिभेद किये गये। सदा से हमारा धर्म्म समाज से मिला-जुला ही रहा है। हमारे धर्म्म का आधार ही समाज है। हमारे यहाँ समाज से अलग धर्म्म की कोई सत्ता ही नही, अतः ये सब बाते भी धर्म्म में सम्मिलित करली गईं। धीरे धीरे हम धर्म्म के असली सिद्धान्तों को भूलते गये और सामाजिक नियमों को ही धर्म समझने लग गये। इसका परिणाम क्या हुआ? हमारे सामाजिक नियम कठिन और संकुचित होते गये। समाज नियम और उपनियमों के बन्धन से इतना जकड़ गया कि उसे साँस लेने का भी सुभीता न रहा। एक ब्राह्मण—चाहे वह बिलकुल मूर्ख ही क्यों न हो—वह समझने लगा कि मोक्ष तो मेरी बपौती है। धर्म का अधिकार खाली हमें ही है, और सब लोगों को इससे क्या सम्बन्ध? वैश्य, क्षत्रिय धर्म्म को ब्राह्मणो की ही बपौती समझ कर उससे उदासीन हो गये। बेचारे शूद्र समझने लगे, हमें धर्म से क्या मतलब? हमे तो परमात्मा ने नीच बनाया ही है। उसकी ऐसी ही मर्ज़ी है। भला नीच भी कभी परमात्मा का भजन कर सकता है?

उनकी इस बुरी धारणा से स्वार्थी पंडित और पुरोहितो ने नाजायज फ़ायदा उठाया। धर्म का ठेका अब ब्राह्मणों और पुरोहितों ही ने ले लिया। ये लोग धर्म के स्वयंसिद्ध दलाल बन गये। जिन्हे परमात्मा से कुछ भी कहलाना हो, वे इनके द्वारा कहलावें। मानो परमात्मा उच्च वर्णवालों की ही बातों को सुनता है, निम्न श्रेणी के लोगो को उससे प्रार्थना करने का अधिकार ही नही? इस प्रकार धर्म के नाम से खुल्लमखुल्ला दुकानदारी होने लगी और उच्च और नीचता के भाव दिन पर दिन बढ़ने लगे। अन्त मे ऐसा समय भी आगया जब निम्न श्रेणी के लोगों के मुख से धर्म्म का बात सुनना पाप समझा जाने लगा। ऐसे ही समय में इन संत महात्माओ का प्रादुर्भाव हुआ। सबसे पहले श्रीस्वामी रामानन्दजी ने इस सिद्धान्त-वाक्य का प्रचार किया कि "जाति पाति पूछे ना कोई, हरि का भजे सो हरि का होई।" बस फिर क्या था, सैकडों नीच कहलानेवाले शूद्र दूर दूर से उनके पास आ-आकर दीक्षा लेने लगे और सभी जातियों में धर्म्म का प्रचार करने लगे। उनके १२ शूद्र शिष्य हुए। उनमें रैदास, पीपा, धना, नामदेव आदि भक्त बहुत प्रसिद्ध हुए। कबीरदास-जी भी इन्हीं महात्मा के शिष्य थे, अतः इन्होंने भी अपने गुरु की भाँति भगवद्-भक्ति में जाति-पाँति का भेद नहीं रक्खा।

वर्णधर्म का दुरुपयोग

असल में भगवान् के भजन में सभी श्रेणी के लोगों का समान अधिकार है। परमात्मा तो विश्वम्भर है न? वे भला किसी एक जाति विशेष की बपौती कैसे बन सकते हैं? उन्हें तो, जो भी प्रेम से स्मरण करे, उसे ही वे अपनाते हैं। फिर चाहे वह किसी भी जाति का क्यो न हो। अजामेल, सदना, गणिका, भीलनी, बाल्मीकि ये इस बात के पुराने उदाहरण हैं। भगवान् के यहाँ जाति-भेद नही। जाति-भेद तो इसी लोक के लिए है। परलोक के निमित्त किसी प्रकार की जाति की ज़रूरत नही। वहाँ सभी लोग बिना किसी रोक-टोक के जा सकते हैं। यहाँ तक कि घोर पापी भी यदि वे अपने किये पर पश्चात्ताप करें तो वे भी वहाँ जाने के अधिकारी हो सकते हैं। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी गीता मे कहते है—

भगवान के भजन में सब का समानाधिकार

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येपि स्युः पापयोनय·।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परांगतिम्॥

अर्थ—हे अर्जुन, मेरा आश्रय ग्रहण करके स्त्री, वैश्य, शूद्र अथवा कैसे भी पापयोनिवाले पुरुष क्यों न हों, वे भी परम गति पाते हैं।

अब पाठको को समझ में यह बात आ जावेगी कि भगवान् की भक्ति में जाति-भेद की कोई आवश्यकता नहीं। हाँ, व्यवहार मे जाति-भेद बिना माने काम नहीं चलेगा। संसार का

व्यवहार चलाने के लिए जाति-भेद मानना आवश्यक है। इस बात के लिए ये महात्मा भी मना नही करते। कबीरदासजी जब ब्रह्म ज्ञान की बात करते है तब अपने को ऊँचे से ऊँचा बताते है, किन्तु व्यवहार मे उन्होने इस बात से कही भी इनकार नही किया कि वे जुलाहे नही है। उन्होने स्थान स्थान पर अपने को जुलाहा होना स्वीकार किया है। एक स्थान पर वे लिखते है—

जाति जुलाहा क्या करै, हिरदे वसे गोपाल।
कबिर रमैया कंठ मिलु, चुकै सरब जंजाल॥

इसी प्रकार रैदास, पलटू, मलूकदास आदि महात्माओं ने अपनी अपनी जाति स्वीकार की है। इन्होंने कभी भी ब्राह्मण बनने का दावा नहीं किया। स्वयं इन सभी महात्माओं ने ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के कर्तव्य भी बताये है। इससे पाठक समझ गये होगे कि जाति न मानने से इनका क्या अभिप्राय था।

वेद और पुराण

दूसरा सबसे बडा मतभेद इस बात पर है कि इन सभी महात्माओं ने वेद, पुराणों का खंडन किया है। यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय, तो यह आक्षेप भी निर्मूल ही जान पड़ता है। वेद, पुराणों की आवश्यकता हमें तभी तक है, जबतक कि हमें पूर्ण ज्ञान नहीं होता। ज्ञान हो जाने पर फिर वेदों की

आवश्यकता नहीं रहती। नदी पार हो गये फिर हमे नाव की क्या आवश्यकता ? भगवान् गीता में कहते है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वंद्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

अर्थ—हे अर्जुन, वेद त्रैगुण्य की बातों से भरे पड़े है, इसलिए तू इन तीनों गुणों से अतीत, नित्य सत्त्वस्थ और सुख-दुःख आदि द्वन्द्वो से अलिप्त हो, एवं योग-क्षेम आदि स्वार्थो मे न पड़ कर आत्मनिष्ठ बन।

भगवान् के इस कथन से वेद-शास्त्रो का खडन नही हुआ, किन्तु उनके उपदेश का यही अभिप्राय है, जिस वेदो ने भी नेति नेति कह कर कथन किया है। उसकी प्राप्ति के लिए तुझे वेदो में कथित त्रिगुणात्मक उपायो से भी बहुत ऊँचे जाना पड़ेगा। इन्ही सब अर्थों मे इन महात्माओ ने वेद, पुराण, कुरान आदि का खडन किया है। यह दूसरी बात है कि अपने को इन महात्माओ का अनुयायी कहलानेवाले पुरुषो ने इन वाक्यो का उलटा अर्थ लगा कर पठन-पाठन तक से मुँह मोड लिया है। इन पंक्तियो के लेखक ने एक प्रतिष्ठित कबीरपन्थी के मुँह से यह बात सुनी थी कि कबीर साहब ने संस्कृत भाषा का खंडन किया है, अतः कबीरपंथियों को संस्कृत-पाठशाला कभी भी न खोलनी चाहिए। पाठक इस बात से ... पता लगा सकते हैं कि इन महात्माओं के उपदेश ... पुरुषो

के पास जाकर कैसा रूप धारण कर लेते है। गुरु गोविन्दसिह-जी ने अपने कुछ योग्य शिष्यो को संसारी व्यवहारो से पृथक् रख कर और उन्हें 'निर्मले' बना कर काशीजी में वेदशास्त्र पढ़ने के लिए स्वय भेजा था। क्या वे इस बात से अनभिज्ञ थे कि गुरु नानकदेवजी ने वेद पुराणों का खंडन किया है?

वेद-शास्त्रो के सम्बन्ध में निर्मूल धारणा,

बहुत स लोग कहते हैं, जब हम वेदो को समझते ही नही तब उन्हे क्यो माने? यह सबसे भारी मूर्खता का काम है कि जिस बात को समझें नहीं, उसका खंडन कर देना। कबीर-दासजी तथा नानकजी के ऐसे अनेकों वाक्य है जिन्हे उस पंथ के दो चार आदमियों को छोड़कर शायद ही अन्य समझते होंगे। फिर भी किसी पन्थी को अपने आचार्यों के ग्रन्थो का खंडन करते हुए हमने आजतक नहीं देखा। इसका यही कारण है कि वे वाक्य उनके गुरु के कहे हुए है। जब श्रद्धा ही के ऊपर बात है, तब फिर हम उन वेदो को, जो कि त्रिकालज्ञ ऋषियो के द्वारा रचे गये हैं और उनके हृदय में उस ज्ञान को स्वयं ईश्वर ने उत्पन्न किया था, क्यो न माने? यह दूसरी बात है कि इन महात्माओ ने इस जन्म में वेद-शास्त्रों का अध्ययन नही किया, किन्तु इनके पूर्वजन्म के संस्कार इतने प्रवल थे कि इस जन्म में बिना ही परिश्रम किये इन्हें ज्ञान प्राप्त हो गया। हम देखते हैं कि इन महात्माओं के सभी वाक्य वेदशास्त्र-सम्मत

है। वेद-शास्त्रों से अलग या उसके प्रतिकूल किसी ने भी एक बात नहीं कही है।

केवल शास्त्र-ज्ञान

एक तो इन महात्माओं ने ज्ञानी पुरुष के लिए वेद-शास्त्रों की आवश्यकता नहीं बताई है। दूसरे जो लोग खाली पठन-पाठन को ही धर्म समझे बैठे है, उनके लिए भी इन महात्माओं ने पठन-पाठन का खंडन किया है। उनका कथन है, बिना सच्ची भक्ति के कोरे पठन-पाठन से कुछ भी काम नहीं चलने का। सच्ची लगन, दृढ़ विश्वास, अनन्य श्रद्धा के बिना चाहे तुम चारो वेदों को भी कंठस्थ कर लो, तब भी परमात्मा नहीं मिलने का। नीतिकारों ने भी कहा है "शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्"। इसका अभिप्राय यह नहीं कि जिन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया है वे सभी मूर्ख है किन्तु इसका अभिप्राय केवल इतना ही है, कि बिना क्रियावान् हुए खाली शास्त्र पढ़ना निरर्थक है। इसमें क्रिया को प्रधानता दी गई है। यथा—

आराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किम्,
नाराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किम्।
अन्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम्,
नान्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम्॥

इस श्लोक के द्वारा तप को निरर्थक नहीं बताया गया है। इसका केवल अभिप्राय यही है कि तप की आवश्यकता तभी

नक है, जबतक हम भगवान् की आराधना के द्वारा सर्वत्र भगवान् को न देख ले। यदि हमे सर्वत्र भगवान् ही भगवान् दीखने लगे तो फिर तप की क्या आवश्यकता रही और यदि तप करके भी हम भगवान् को सर्वत्र न देख सके तो ऐसे तप से लाभ ही क्या? सारांश इतना ही है कि तप प्रभु-प्राप्ति का साधनमात्र है। साध्य तो वे ही श्रीहरि हैं। इसी प्रकार वेद-शास्त्रो द्वारा सच्ची श्रद्धा-भक्ति से हम प्रभु तक पहुँच सकते है, इस स्थान पर शास्त्र-पठन की अपेक्षा, श्रद्धाभक्ति और प्रेम की प्रधानता बताई गई है। अतः वेद-शास्त्रो के खडन से इन महात्माओ का यही अभिप्राय जान पडता है कि हमें इससे भी ऊपर उठना चाहिए। यही बात जप, तप, तीर्थव्रत, तिलक, छापा, कठी, जनेऊ, मूर्तिपूजा के सम्बन्ध मे भी है। कारण कि ये ही धर्म नही हैं, इनके द्वारा हम धार्मिक बन सकते है। ये धर्म के साधन मात्र हैं, साध्य नही। महाभारत के निम्नलिखित श्लोक का भी यही अभिप्राय है—

रूपं रूपविवर्जितस्य भवतो ध्यानेन यद् कल्पितम्।
स्तुत्या निर्वचनीयताखिलगुरो दूरी कृता यन्मया॥
व्यापित्वञ्च निराकृतं भगवतो यत्तीर्थयात्रादिना।
क्षन्तव्य जगदीश तद्विकलतादोषत्रयं मत्कृतम्॥

अर्थ—हे प्रभो! तुम्हें अरूप कहा गया है, किन्तु मैने ध्यान के लिए तुम्हारे रूप की कलपना की। स्तुति द्वारा तुम्हारी

अनिर्वचनीयता को दूर किया। तीर्थ-यात्रा/करके तुम्हारी सर्व-व्यापकता का निराकरण किया। अतः हे प्रभो! मेरे इन अस्वाभाविक तीनों दोषो को क्षमा करो।

इस श्लोक मे केवल यह बात बताई गई है कि भगवान् का रूप, उनकी स्तुति, तीर्थ, व्रत आदि उनकी प्राप्ति का साधन-मात्र है। भगवत्-प्राप्ति के अनन्तर उनकी कोई आवश्यकता नहीं और ये ही काम साध्य नही है। साध्य तो भगवत्-प्राप्ति है। लक्ष्य के ऊपर ज़ोर दिया गया है।

साकार और निराकार

मतभेद का तीसरा विषय है साकार और निराकार का झगडा। बहुत से लोग कहते है कि निराकार-उपासना श्रेष्ठ है और बहुत से साकार-उपासना को उत्तम बताते है। इस विषय मे इन सभी महात्माओं का मत यही है कि निराकार की प्राप्ति ही असल में लक्ष्य है। यदि कोई साकार द्वारा निराकार को प्राप्त करे तो इसमें कोई हानि भी नही। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी निराकार की उपासना करनेवाले ज्ञानियों की प्रशसा करते हुए अन्त मे कहते है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

निराकार की उपासना करनेवाले ज्ञानियों का चित्त सदा अव्यक्त में आसक्त रहने के कारण उन्हे क्लेश अधिक होता है।

क्योंकि देहधारी मनुष्यों को अव्यक्त गति का ज्ञान कर लेना बड़े ही कष्ट का काम है।

साकार उपासना के लिए यह कोई आवश्यक बात नहीं है कि किसी प्रकार की मूर्ति सदा हमारे सामने हो रक्खी रहे। हम अपनी इच्छा के अनुसार भगवान् का जैसा चाहें वैसा ही रूप बना सकते है। असल में बिना किसी प्रकार के रूप की कल्पना किये हुए भक्ति, श्रद्धा, प्रार्थना, अनुनय, विनय कुछ भी नही हो सकता। और, भगवान् के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कह ही कौन सकता है कि वे साकार ही है या निराकार। या तो वे साकार और निराकार दोनों ही से परे है या साकार और निराकार दोनों ही है। वे तो सर्वान्तर्यामी, सर्वाधार, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् है। यदि हम उन्हें निराकार ही कहे तो भी कहते नही बनता, कारण कि हम उनकी शक्ति को निर्धारित कर देते है, फिर वे सर्वशक्तिमान् कहाँ रहे। और यदि उन्हें साकार ही कहें तो भी उचित नहीं जान पड़ता। इससे भी हम उन्हें मर्यादित करते हैं और वे है मर्यादा से परे। इसीलिए कबीर साहब ने कहा है—

निर्गुण तो है पिता हमारा, सर्गुण है महतारी।
काकों निन्दौं काकों बन्दौं, दोनो पल्ले भारी॥

मूर्त्ति-पूजा

मूर्तिपूजा की बात अलग है। यद्यपि इन सभी महात्माओं ने मूर्तिपूजन का खंडन किया है, किन्तु लोक को मूर्तिपूजा कुछ

ऐसी प्रिय है कि इतना खंडन करने पर भी उसकी मूर्ति-पूजा की प्रियता कम नही होती। भगवान् बुद्ध ने मूर्तिपूजा का खंडन किया, अन्य मूर्तियों की पूजा तो रुक गई, किन्तु बुद्धदेव की मूर्ति की पूजा होने लगी। कबीर साहब ने मूर्ति-पूजा का ज़ोरो से खडन किया, कबीरपंथी भगवान् की मूर्ति के स्थान मे कबीर साहब की पूजा करने लगे। नानकदेव, दादू-दयाल, ग़रीबदास आदि ने भी मूर्तिपूजन का खंडन किया, उनके पंथ के लोग उनके ग्रन्थों की ही पूजा करने लगे और उन्हें भी श्रीठाकुरजी की भाँति भोग लगाया जाने लगा तथा चँवर और पंखा डुलाया जाने लगा। यही दशा ईसाई तथा मुसलमानों के सम्प्रदायों की भी है। मूर्तिपूजा की पद्धति को कोई सिखावे चाहे न सिखावे, परन्तु यह सर्वसाधारण को अत्यत प्रिय है। लोक मे किसी न किसी रूप में सदा से मूर्तिपूजा होती चली आई है और यह सदा ही बनी रहेगी। यह दूसरी बात है कि इसकी परिपाटी बदल जाय। संसार अपनी मूर्तिपूजा की प्रियता को त्याग नही सकता। ज्ञान हो जाने पर मूर्तिपूजा छोड़ने की आवश्यकता नही रहती; वह आप से आप छूट जाती है।

संसार में विचारवानों की संख्या सदा थोड़ी ही होती है। अधिकतर लोग हृदय-प्रधान ही होते है।

हृदय की स्वाभाविक प्रवृत्ति

हृदय-प्रधान पुरुषों का स्वभाव बालकों का सा होता है। बालक सोचता बहुत कम है, अनभव अधिक करता है। जो अनभव

अधिक करता है, वह सबका प्रीतिभाजन भी होता है, इसीलिए बालक को सभी लोग प्यार करते है। बालक बिना कुछ बिचारे और बिना किसी के सिखाये आप से आप ही खिलौनों से खेलने लगता है। वह उन्हें ही सर्वस्व समझने लगता है। जैसे जैसे उसकी विचारशक्ति बढ़ने लगती है, वैसे वैसे ही उसका खिलौनों से खेलना कम होता जाता है। बालक संसार में सदा से होते आये है और सदा ही होते रहेंगे। बिना बालक हुए कोई बड़ा हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार हृदय-प्रधान पुरुष सदा से होते चले आये है और सदा ही होते रहेंगे। बिना हृदय की सहायता के कोई विचार कर ही नही सकता। अतः जबतक संसार है, जबतक मस्तिष्क के साथ हृदय भी बना हुआ है, जबतक सभी लोग मस्तिष्क प्रधान नही बन जाते—जैसा कि बनना कठिन है—तबतक संसार मे मूर्तिपूजा बनी रहेगी। फिर चाहे वह मूर्ति भगवान् की कल्पित हो, अथवा किसी महापुरुष को भगवान् मानकर उसकी बनाई गई हो, मूर्तिपूजा अवश्य ही रहेगी।

वेदान्त और ये महात्मागण

यहाँ संक्षेप में इस बात पर और विचार करना है कि वेदान्त-सिद्धान्त से इन महात्माओ के विचार कहाँ तक मिलते है। अद्वैत वेदान्तवादी मुख्यतया तीन बातों पर विचार करते हैं, जीव, जगत् और ब्रह्म। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार जीव

नित्य है, उसमे और ब्रह्म में कुछ भी भेद नहीं। अविद्या के कारण जीव अपने को अल्पज्ञ और बद्ध समझे बैठा है। गुरु की कृपा से जब अज्ञान का पर्दा हट जाता है और ज्ञानरूपी दर्पण में जब वह अपना असली स्वरूप देखता है, तब वह उसी समय चिल्ला उठता है "योऽसावसौ पुरुषः सोहमस्मि" "अहं ब्रह्मास्मि" "अयमात्मा ब्रह्म" यह वह पुरुष मै ही हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, यह आत्मा ब्रह्म है।

संसार की असारता

दृश्य जगत् के जितने पदार्थ है, वे क्षण-भंगुर ही नही, किन्तु मिथ्या हैं। इनका कुछ भी अस्तित्त्व नही। यह जगत् न तो पहले कभी हुआ, न वर्तमान में है और न कभी भविष्य मे होगा। हमे जो ये नाना रूप में वृक्ष, लता, पत्र, मनुष्य, जीव, जन्तु दिखाई पड़ते है, ये हमारी कल्पना के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जब एक ब्रह्म को छोड़ कर दूसरा कोई सत्य पदार्थ ही नही तो फिर इन सब वस्तुओ को पृथक् पृथक् सत्ता कैसे सिद्ध हो सकती है। असल में ब्रह्म ही सत्य है, ब्रह्म ही नाम रूप की उपाधि से अलग अलग प्रतीत होता है। जैसे खाँड से भाँति भाँति के खिलौने बनाये जाते है। उनमें से किसी को हम हाथी, किसी को घोड़ा, किसी को ऊँट और किसी को बछेड़ा कहते हैं। यदि उनका आकार और नाम मिटा दिया जाय तो खाँड के अतिरिक्त कुछ भी नही है। आकार और नाम के ही कारण उनमें भिन्नता दीखती है। नाम

और रूप दोनों ही अनित्य वस्तु हैं, अतः चीनी के अतिरिक्त कोई भी पदार्थ सत्य नहीं। इसी प्रकार हमें संसार के जितने पदार्थ दीखते है, वे सभी मिथ्या है।

विश्व में ब्रह्म के अतिरिक्त कोई भी पदार्थ सत्य नही। ब्रह्म ही सत्य है। ब्रह्म के विषय मे वेद-

ब्रह्म और उसके भाव

शास्त्रों में दो प्रकार के वर्णन पाये जाते है। एक तो निर्विशेष ब्रह्म और एक सविशेष ब्रह्म। ब्रह्म के उस भाव को निर्विशेष कहते है, जो न तो वचनो द्वारा व्यक्त किया जा सकता हो और न लक्षणों से लक्षित किया जा सकता हो। जो उपमाओं द्वारा उपमित किया जा सके और लक्षणों से लक्षित किया जा सके तथा जिसके गुणों का जिस किसी भाँति वर्णन भी हो सके उसे ब्रह्म का सविशेष भाव कहते हैं। वेदान्ती लोग सविशेष भाव को भी संसार के अन्य पदार्थों की भाँति कल्पित तथा मिथ्या ही समझते हैं। उनके मत मे ब्रह्म का निर्विशेष भाव ही सत्य है।

जब जीव और ब्रह्म में कोई भेद ही नहीं रहा तब मनुष्य का साध्य भी कुछ नहीं है। यदि यों कहें कि

वेदान्त के अनुसार साध्य

मनुष्य का अन्तिम साध्य मोक्ष प्राप्त करना है, तो यह भी कहते नहीं बनता। कारण कि कोई बँधा हुआ हो, उसे मुक्त होने की आवश्यकता है, जो स्वयं नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है उसे मोक्ष की क्या आवश्यकता! जीव को मोक्ष प्राप्त करनी नहीं होती,

किन्तु वह स्वयं मुक्त है। जब जीव स्वयं मुक्त है, उसके लिए कोई साध्य वस्तु भी नहीं, तब फिर साधन की क्या आवश्यकता ? जहाँ साध्य है, वहीं साधन भी होता है, जहाँ भजनीय कोई अन्य पदार्थ है वहीं भक्ति भी हो सकती है, अतः वेदान्त-सिद्धान्त में बेचारी भक्ति को स्थान नही। वहाँ यदि किसी की थोड़ी बहुत आवश्यकता भी है, तो अहंग्रह उपासना की। "मैं ब्रह्म हूँ" बस इसी का चिन्तन करते जाओ, तुम्हारा अज्ञान दूर हो जायगा और तुम फिर ब्रह्म ही हो जाओगे। "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है।

ऊपर मैं हमने बहुत ही संक्षेप में अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त बता दिया। अब यहाँ इस बात पर विचार करना है कि इन महात्माओं को ये सिद्धान्त कहाँ तक मान्य है। यह बात तो निर्विवाद है कि इनमें के प्रायः सभी महात्मा परमात्मा को अद्वितीय, सर्वज्ञ और सत्य मानते है। संसार को भी प्रायः सभी ने मिथ्या बताकर उसके भुलावे मे न पड़ने के लिए उपदेश दिया है। जीव और ब्रह्म की अद्वैतता भी सभी को अभिप्रेत है, किन्तु इनकी उपासना-पद्धति में वेदान्तियों से बहुत कुछ भिन्नता पाई जाती है।

संतों की उपासना-पद्धति

अद्वैत वेदान्ती संसार को मिथ्या बताते हुए भी उसकी व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करते हैं। क्योंकि व्यावहारिक सत्ता बिना माने उपदेश तक नहीं हो सकता। किन्तु वे खाली समझने

ही के लिए उसकी सत्ता स्वीकार करते हैं। ये महात्मा-गण उनसे कुछ बढ़ गये है। इनका कथन है कि चाहे यह जगत् मिथ्या ही क्यो न हो, किन्तु हमें दीखता तो सत्य है। हम अपने को परमात्मा से पृथक् समझते है। जबतक हम पृथक् समझते है, तबतक वह सचमुच हम से पृथक् है और जबतक हम इस जगत् को सत्य मानते हैं, तबतक यह जगत् भी सत्य ही है। ऐसी दशा में मनुष्य का कर्तव्य क्या है? भगवान् को प्राप्त करना। वे किस प्रकार प्राप्त होंगे? अनुराग, प्रेम, श्रद्धा-भक्ति, विश्वास, विनय तथा दीनता से। इसलिए सब से पहले मनुष्य का कर्तव्य है कि वह परमात्मा की प्राप्ति के लिए भक्ति करे। भक्तिपूर्वक उपासना करने से उसका यथार्थ स्वरूप ज्ञात होगा और तभी इस बात का पता चलेगा कि हमारा और उसका सम्बन्ध क्या है? बिना श्रद्धा, भक्ति के ये बातें कभी भी नही जानी जा सकती हैं। वेदान्तियों की और इन महात्माओ की उपासना-पद्धति में अन्तर है।

तीन प्रकार की उपासना

शास्त्रकारों ने उपासना तीन प्रकार की बताई है। अङ्गाव-बद्ध, प्रतीक और अहङ्ग्रह। अंगावबद्ध उपासना तो पहले यज्ञ, यागों में की जाती थी। जैसे यज्ञ के किसी अंग विशेष को ब्रह्म मान कर उसकी उपासना करना। यह शाकल्य ही ब्रह्म है, यह अग्नि ही ब्रह्म है, इत्यादि। प्रतीक उपासना उसे कहते हैं जो किसी वस्तु विशेष को परमात्मा समझ कर उस

की उपासना की जाय। जैसे गायत्री का जाप है, यह प्रतीक उपासना ही है। इसमें सूर्य्य को ही ब्रह्म मान कर उसकी उपासना की जाती है। मूर्तिपूजा प्रतीक उपासना का परिवर्तित और परिवर्धित रूप है। अहंग्रह उपासना उसे कहते हैं जो अपने को ही ब्रह्म मानकर उपासना की जाय। जैसे "सोहं" अहं ब्रह्मास्मि "वह मैं ही हूँ," "मैं ब्रह्म हूँ" इत्यादि। वेदान्ती इस अन्तिम उपासना को ही उत्तम समझते हैं. उनके मत में पूर्वोक्त दोनो उपासनायें मिथ्या और असत्य है।

इन सभी महात्माओं का ऐसा मत जान पड़ता है कि अहंग्रह उपासना की नहीं जाती, वह तो एक अन्तिम स्थिति है। अंगावबद्ध और प्रतीक उपासना के द्वारा जिसने ब्रह्म के स्वरूप को और उसके साथ अपने सम्बन्ध को जान लिया है, फिर वह "अहं ब्रह्मास्मि" कहने के लिए नही आता। वहाँ कथन की बात रह ही नही जाती है, अपने आप वह अनुभव करने लगता है। वह स्थिति पिछली दो उपासनाओं से ही प्राप्त की जा सकती है।

आज कल यज्ञ, यागो का रिवाज उठ गया है, अतः प्रतीक उपासना ही मुख्य है। साधु-महात्माओ को ही ब्रह्म मान कर उनकी सेवा, पूजा करने को हम आजकल अगावबद्ध उपासना कह सकते है। इन सभी महात्माओ ने सत को ईश्वर कह कर कथन किया है और उपदेश दिया है कि संत में और ईश्वर में कोई अन्तर नही। जैसे कबीरदास जी कहते है—

निराकार की आरसी, संतन ही की देह।
लखा जो चाहै अलख को, इन हीं में लखि लेह॥

प्रतीक उपासना दो प्रकार से हो सकती है; एक निराकार और दूसरी साकार। निराकार जैसे स्वासों के द्वारा उपासना करना। आकाश तथा अन्य किसी निराकार वस्तु पर चित्त स्थिर करके उसके द्वारा उपासना करना। साकार उपासना में अपनी कल्पना के अनुसार भगवान् की मूर्ति बना कर, अथवा भगवान् के अवतारों तथा देवी-देवताओं की प्रतिमाओं की पूजा की जाती है। साकार उपासना करनेवालों में भी दो भेद किये जा सकते हैं। एक तो वे जो साकार पूजा के द्वारा निराकार को प्राप्त करना चाहते है और दूसरे वे जो साकार को ही सब कुछ समझ कर उसीकी आराधना करते है। भगवान् तो घट घट-वासी है, वे सबके हृदय की भावनाओं को जानते हैं। उन्हें जो जिस रूप से चाहता है वे उसके सामने उसी रूप से आ उपस्थित होते है। उन्होंने इस बात को गीता में प्रतिज्ञापूर्वक स्वय स्वीकार किया है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

जो मुझे जिस प्रकार से भजते हैं, उन्हें मैं उसी प्रकार के फल देता हूँ। हे पार्थ! किसी भी ओर से हो, मनुष्य मेरे ही मार्ग में आ मिलते हैं।

चाहे सगुणोपासना कीजिये अथवा निगुर्णोपासना; अन्त में सभी साधक सगुण और निर्गुण के परे एक ही स्थान पर पहुँचेंगे। अधिकारी-भेद से ये सब उपासनायें रक्खी गई हैं। शुद्ध अन्तःकरण से, सत्यता के साथ किसी भी प्रकार की उपासना क्यों न की जावे, सबका अन्तिम फल एक सा ही होगा। कबीरदासजी कहते हैं—

सर्गुण की सेवा करौ, निर्गुण का करु ज्ञान।
निर्गुण सर्गुण के परें, तहँ हमारा ध्यान॥

जिसका वर्णन श्रुतियों मे इस प्रकार किया गया है—

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञम्। न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाऽप्रज्ञम्॥
अदृष्टमव्यवहार्य्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसाध्यम्॥
प्रपञ्चोपशम शान्तं शिवमद्वैतम्। चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः॥

माण्डूक्य

जिसकी प्रज्ञा न बहिर्मुख है, न अन्तर्मुख है और न उभय-मुख है, जो प्रज्ञानघन भी नहीं, प्रज्ञ नही और अप्रज्ञ भी नही। जो दर्शन, व्यवहार, ग्रहण, चिन्ता और लक्षण से अतीत है, जिसका निर्देश नहीं हो सकता, जो आत्मा के प्रत्यय मात्र से ही सिद्ध है, प्रपञ्च से परे है, शान्त है, शिव है, अद्वैत है, उसी को तुरीय कहते हैं।

सम्प्रदाय या पन्थ

इस पुस्तक मे जिन जिन महात्माओ का उल्लेख किया गया है, उनमें से १०-५ प्रेमी भक्तों को छोड़कर प्रायः सभी का कोई न कोई अलग पन्थ चलता है। आजकल नवशिक्षित समाज मे यह भाव अधिकता से फैला हुआ है कि भारतवर्ष की अवनति का कारण ये नाना पन्थ ही है। इन नौ सौ निन्या-नवे सम्प्रदायो ने मिलकर भारत को ग़ारत कर दिया है। यहाँ संक्षेप मे इसी बात पर विचार किया जावेगा कि भारत में ही इन इतनी सम्प्रदायों की सृष्टि क्यो हुई और इनसे समाज को हानि हुई या लाभ ?

जो मनुष्य तनिक भी बुद्धि और विवेक से काम लेता होगा, जो सर्वदा अपनी आँखो मे पक्षपात का चश्मा न लगाये रहता होगा; जो किसी विशेष सिद्धान्त के पीछे पागल न बन गया होगा, वह इस बात को भली भाँति समझ सकता है कि जिन महात्माओं ने इन सम्प्रदायो को चलाया है, अथवा जिनके नाम से ये सम्प्रदाय प्रचलित हैं, उनका निजी उद्देश बुरा न रहा होगा। उन्होंने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए अथवा समाज में सदाचार का प्रचार करने के लिए इन पन्थो का निर्माण नही किया होगा। इस सम्बन्ध में कोई भी विचार-वान् पुरुष हमसे असहमत न होगा। इन प्रचलित पन्थों में जो हमें राग, द्वेष, ईर्ष्या तथा डाह आदि जो दुर्गुण दिखाई पड़ते

हैं ये उन पन्थों के अनुयायियों की कमज़ोरियाँ हैं। इन्हीं को लेकर हम उन महात्माओं को कलंकित नहीं कर सकते। नीतिकारों का एक वाक्य है—

गुणा गुणज्ञेषु गुणाः भवन्ति, ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः।
आसाद्य तोयं प्रभवन्ति नद्यः समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः॥

"गुण यदि सत्पात्र के पास पहुँचे तो वह असली गुण हो जाता है, वही गुण यदि असत् पात्र के पास पहुँच जाय तो अवगुण हो जाता है। जैसे मेघ का पानी नदी के पास पहुँचने से पीने योग्य मीठा बन जाता है और वही समुद्र मे पहुँच कर खारी हो जाता है, जिससे पक्षी तक अपनी प्यास नह बुझा सकता।" ठीक यही दशा इन महात्माओ के उपदेशों के सम्बन्ध मे है। इसके पूर्व कि हम सम्प्रदायो के सम्बन्ध में विशेष विचार करें, पहले इस बात पर विचार कर लेना आवश्यक है कि सम्प्रदायो की उत्पत्ति किस प्रकार होती है।

पूर्व और पश्चिम का लक्ष्य

जब कुछ बहुत से आदमियो का एक ही स्वार्थ होता है, तब उन सब आदमियो का एक संघ बन जाता है। चोर डाकुओ मे हम कैसा सुन्दर संगठन देखते है। उनमे एक दूसरे के प्रति सहानुभूति होती है और होती है अपने दल के लिए ममता। वे अपने दलपति के तनिक से इशारे पर अपनी जान पर खेल जाते हैं। इसका एकमात्र कारण स्वार्थ की एकता ही है। पश्चिमी जातियों ने अपने वाणिज्य

व्यापार के लिए कैसा सुन्दर सगठन बना रक्खा है। उनमें अपने घरेलू मामलों में परस्पर चाहे कितना भी मनोमालिन्य क्यो न हो, किन्तु जब किसी असहाय जाति के रक्त-शोषण का मामला आकर उपस्थित होता है, तब सभी एक हो जाते है। सबोका एक ही स्वार्थ होने से वे सभी मिलकर उस असहाय जाति पर टूट पड़ते हैं और उसका जो माल-मता मिलता है, उसे सभी आपस मे बाँट कर खा जाते है। उन लोगों ने अपना अन्तिम ध्येय इन्द्रियोपभोग ही समझ रक्खा है। वे इस शरीर को अनित्य नही मानते, वे इसे अनित्य मान-कर इसकी उपेक्षा नहीं करते। उनका यह विश्वास नही कि यह शरीर पुनः पुनः प्राप्त हो सकता है। वे समझते हैं कि इस जीवन में इस शरीर को जितना भी सुख पहुँचा सकें वही अपना है, इस शरीर के नष्ट होने पर फिर शरीर कहाँ? अतः संसार के बढ़िया बढ़िया पदार्थों का जितना भी उपभोग किया जावे, करना चाहिए। संसारी सुख के सभी पदार्थ पैसे द्वारा प्राप्त हो सकते है। अतः उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य है पैसे पैदा करना। फिर चाहे उसकी प्राप्ति में दूसरों का ख़ून भी क्यों न शोषण करना पड़े। कोई बुरी बात नहीं। अपने साध्य के लिए सब कुछ करना पड़ता है।

हमारे देश मे यह बात नहीं है। हमारे शास्त्रकारों ने भी पैसा पैदा करने के लिए लोगो को कहा है। वे सभी से पैसा छोड़ देने के लिए नही कहते और न सभी से वे यह कहते है

कि तुम सांसारिक सुखों को बिलकुल भोगो ही नहीं। वे सांसारिक सुखो के भोगने के लिए भी कहते हैं और पैसा पैदा करने के लिए भी, किन्तु उन्हें वे पराकाष्ठा पर पहुँचा देना नही चाहते। उन्होंने इन कामों की कुछ मर्यादा नियत कर दी है। भगवान् व्यासदेव कहते है—

"अरे, मैं लोगों से हाथ उठा उठा कर कहता हूँ, परन्तु मेरी कोई सुनता ही नहीं। भाई, यदि तुम्हें पैसा ही पैदा करना है तो उसे धर्मपूर्वक पैदा करो, इन्द्रियों का उपभोग करो अवश्य, किन्तु अधर्मपूर्वक नहीं। धर्म जहाँ तक तुम्हें आज्ञा दे वही तक करो।" अतः हम लोगो का कर्तव्य क्या है? धर्म की जानकारी प्राप्त करना। हमारा अन्तिम लक्ष्य क्या है? मोक्ष। इसलिए धर्म, अर्थ और काम ये तो हमारे यहाँ पुरुषार्थ कहे गये है और मोक्ष को परम पुरुषार्थ कहा गया है। जैसे अन्य लोगों का लक्ष्य तो होता है इन्द्रियोपभोग और उसका साधन होता है पैसा। जैसे उनका कर्तव्य पैसा पैदा करना होता है, उसी प्रकार हमारा कर्तव्य धर्म, ज्ञान प्राप्त करना है। इसीलिए भारतवर्ष को धर्म-प्रधान देश, धर्म-क्षेत्र या धार्मिकदेश कहते है। अब इस बात से पाठक भली भाँति समझ जायँगे कि हमारे ही देश में इतनी धार्मिक सम्प्रदायें क्यों है। पश्चिमीय देश व्यापार, वाणिज्य-प्रधान देश है। यदि हम भूल नही करते हैं तो हम कह सकते है कि वाणिज्य, व्यापार सम्बन्धी जितनी सभा, समिति पश्चिमीय देशों मे हैं,

यदि उन सब की गणना की जाय, तो वे हमारे यहाँ की धार्मिक सम्प्रदायों से कम नहीं होंगी, प्रत्युत अधिक ही बैठेंगी। अपनी साध्य वस्तु के लिए संस्था और संगठन की आवश्यकता होती ही है।

हमारे यहाँ समाज में वह बड़ा आदमी नहीं समझा जाता, जिसके पास बहुत सा धन हो, अथवा बहुत सी भौतिक शक्ति हो, किन्तु भारतीय समाज मे बहुत पहले से ही और अब भी वही पुरुष श्रेष्ठ समझा जाता है, जो परम धार्मिक होने के साथ ही ज्ञानवृद्ध हो। भारत का लक्ष्य भोग नही, किन्तु त्याग है, अतः यहाँ श्रेष्ठ होने की कसौटी जोवन की आवश्यक सामग्रियो की अधिकता न रख कर न्यूनता ही रक्खी गई है। अपनी सांसारिक आवश्यकताएँ जिसने जितनी ही घटाली हो, वह उतना ही अधिक श्रेष्ठ समझा जावेगा। यही कारण है कि भारत के नेतृत्व के उच्चासन को सदा से लँगोटबंद, त्यागी संन्यासी ही सुशोभित करते चले आये है और आगे भी समाज की बागडोर स्वार्थत्यागी कर्मयोगियों के ही हाथ में रहेगी।

सम्प्रदायों की उत्पत्ति

अब इस बात पर विचार कीजिये कि सम्प्रदाय कैसे बनते है। एक महापुरुष उत्पन्न हुए। लोगों में अधार्मिक भावों का प्राबल्य देखकर उनका हृदय दुखने लगा। समाज की वर्तमान भयावह अवस्था से वे क्षुब्ध से होने लगे। उन्होंने अपनी

अनुभूति और अन्तर्दृष्टि से देखा कि लोग धर्म के नाम से कैसे कैसे अन्याय कर रहे है, इन्हीं सब कारणों के वशीभूत होकर उनके हृदय में दयाभाव का संचार हुआ। लोक-कल्याण की बलवती इच्छा होने के कारण वे संसारी लोगों को सदुपदेश करने लगे। वे रूढ़ियो का यथार्थ रूप बतलाकर समझाने लगे कि जिसे तुम धर्म समझे बैठे हो, यथार्थ मे यह धर्म नही, यह तो धर्म का ढकोसला मात्र है। असली धर्म तो इससे कोसो दूर है। किसीने समयानुसार पूर्व प्रचलित धर्म का ज़ोरो से खंडन करना आरम्भ किया, किसीने प्रचलित धर्म मे ही रूपान्तर कर दिया और किसी-ने उन्ही रूढियो को कायम रखते हुए उसका यथार्थ बोध करा दिया। इस प्रकार भिन्न भिन्न तरह के महापुरुषो ने सच्चे हृदय से केवल लोक-कल्याण के निमित्त जन-समाज को जिस समय जैसे जैसे साधनो की आवश्यकता हुई उन्होने उसी उसी प्रकार के साधनो का प्रचार किया। यह हम पहले ही कह चुके है कि भारत मे धर्म-प्रचार का काम प्रायः त्यागियों के ही हाथ मे रहा है। एक महा पुरुष की मृत्यु के पश्चात् उनके भावुक और विचारवान शिष्यो ने उन्ही के नाम से एक नया पंथ खड़ा कर लिया। प्रायः देखा गया है कि बडो के नाम से लोग बात को जल्दी स्वीकार कर लेते है। हम साधारण लोग यदि किसी बात को कहेंगे, तो लोग सहसा उसे मानने के लिए तैयार न होंगे, किन्तु उसी बात को हम मनु भगवान् या वेद

व्यासजी के नाम से जनता के सामने रक्खें, तो उसे लोग बहुत शीघ्र ही मानने के लिए तैयार हो जायँगे। इसी विचार से प्रभावशाली और निःस्वार्थ महात्माओ के नाम से उनके परवर्त्ती अनुयायीगण सम्प्रदाय या पन्थ की नीव डालते हैं। उन लोगो का विचार बुरा नहीं होता। उच्च प्रचारकों का यह भी अभिप्राय नही होता कि हमारे आचार्य्य का संसार में नाम हो जाय। उच्च कोटि के प्रचारक नाम के भूखे नही होते, किन्तु वे अधिक से अधिक यथार्थ काम चाहते है और उसके लिए उन्हें अपने आचार्य्य के नाम का सहारा लेना आवश्यक जान पड़ता है, इसीलिए वे अपने संघ का नाम उन्हीं आचार्य के नाम पर रख लेते हैं और अपने विचारो को उन्ही के नाम से प्रचार करते है।

सम्प्रदायो का पतन-क्रम

धीरे धीरे सभी प्रकार के लोग समाज मे प्रवेश करने लगते है। उन सब की भिन्न भिन्न रुचि होने पर भी वे सब के सब अपने एक उसी आचार्य्य में श्रद्धा रखते है। बुद्धिमान् लोग अपनी रुचि के अनुसार आचार्य्य के वाक्यों के भिन्न भिन्न अर्थ करते है, इस प्रकार पन्थ या सम्प्रदाय मे शाखा-प्रशाखाये अलग होने लगती है। उनमे सभी तो निःस्वार्थ और सिद्ध होते नही, अतः वे सांसारिक कार्यों की भाँति उसे भी एक कार्य्य समझ लेते है, फिर उनसे बहुत सो का यही

उद्देश हो जाता है कि जिस किसी प्रकार हो, अपने पन्थ की वृद्धि हो। बस समझ लीजिए कि यहीं से उस पन्थ का अधः-पात आरम्भ होता है। वह अपने आचार्य्य की कीर्ति के लिए तथा अपने पन्थ की वृद्धि के निमित्त भाँति भाँति के उपायों का अवलम्बन करते है। लोगो की सांसारिक वासनाओ के अनुसार वे अपने पन्थ की पद्धतियाँ बनाते है। मनुष्य स्वभाव से ही दूसरो की बुराई देखने का आदी होता है। अपने में चाहे कितनी भी बुराइयाँ भर रही हो, उनको कुछ भी परवा नहीं, किन्तु दूसरो की सुई भर बुराई को फावड़े के सदृश बता कर उसकी आलोचना करने में हमे आनन्द मिलता है। इसी लिए अपने से भिन्न पन्थवालो की निन्दा स्तुति आरम्भ होती है। मनुष्य स्वभाव से ही जिह्वा, इन्द्रिय और उपस्थेन्द्रिय का ग़ुलाम है। इसलिए किसी न किसी रूप मे इन दोनों विषयों का प्रवेश होता है। जब धनी-मानी लोग देखते हैं कि धर्म-स्थान मे जाने से भी हमारी वासनाये तृप्त हो सकती हैं, साथ ही हम धार्मिक भी कहाये जा सकते है। इस प्रकार विषयोप-भोग के साथ ही साथ जनता की दृष्टि मे भी हम गौरवान्वित बन सकेंगे तब वे भी उसमें प्रवेश करने लगते है। धीरे धीरे सभी लोग समाज में अपने किसी न किसी सांसा-रिक स्वार्थ को सामने रखकर आने लगते है, बस इसी प्रकार वह संस्था हमारे सांसारिक कलह का एक स्थान बन जाती है।

बहुत पहले से लेकर अब तक के सभी सम्प्रदायों पर एक सरसरी दृष्टि डाल जाइये, सभी का इतिहास इसी प्रकार से मिलेगा। जो सम्प्रदाय जितना ही प्रभावशाली होता है, उस में आप उतनी ही अधिक इन बातों की प्रचुरता पावेंगे। पहले कुछ दो चार त्यागी मिलकर कार्य्य को चलाते हैं, इसके अनन्तर स्वार्थी लोग मिलकर उसे चौपट कर देते हैं। बौद्ध धर्म का पहले ही पहले कुछ संसारी वासनाओं से रहित वीतराग भिक्षुओं ने ही प्रचार किया था। धीरे धीरे बड़े बड़े संघाराम बनने लगे। भिक्षुओं के साथ भिक्षुनियों की भी वृद्धि होने लगी। अच्छी से अच्छी कुमारी को भिक्षुणी बनने के लिए विवश किया जाने लगा। संघारामों मे भाँति भाँति के पदार्थ बनने लगे और संसारी वासनाओं मे सने हुए नामधारी भिक्षु वहाँ रह रह कर अपनी वासनाओं की पूर्त्ति करने लगे। ईसाई धर्म का पहले कुछ त्यागी और साहसी पुरुषों ने ही प्रचार किया था। उन बेचारों ने धर्म की वेदी पर अपने प्राण तक निछावर किये थे। आज हम उसी ईसाई धर्म को देख रहे हैं। बड़े से बड़े गिरजे मे चले जाइये, देखिये वहाँ धर्म के नाम पर कैसे कैसे जघन्य कार्य्य हो रहे हैं। ईसाई और मुसलमानी धर्म्म का प्रचार कैसी कैसी निन्द्य नीतियों से किया जा रहा है। किसी को पैसे का लोभ दिया जाता है, किसी को विवाह का दृश्य दिखाया जाता है। क्या उन धर्मों के पूर्वाचार्य इन्हीं नीतियों से अपने धर्म का प्रचार कराना चाहते थे? आज कल धर्म के प्रचार

के लिए अधिकतर युवतियाँ ही भेजी जाती है। क्या ये सब काम जनता की वासनाओ को ही सामने रखकर नही किये गये हैं ?

जिस पन्थ का लक्ष्य जितने दिन तक त्याग की ओर रहा है, वह उतने ही दिन तक धर्म का यथार्थ प्रचार कर सका है। जहाँ उसके प्रचारको को कामिनी-कांचन का चसका लगा, बस तभी समझो वह पन्थ नष्ट हुआ। साधारण लोग जब प्रचारक का पद ग्रहण कर लेते है, तब उनमे जनता पर प्रभाव डालने की शक्ति तो रहती नही, वे जनता की दबी हुई वासनाओ को उभाड कर उससे अनुचित लाभ उठाते है। इसमें उन आचार्यो का दोष नही, किन्तु सम्पूर्ण दोष उनके अधूरे अनुयायियो का है।

भारत के धर्म-प्रचार की विशेषता

सब देशो से अधिक धार्मिक महापुरुष इस धर्म-प्रधान भारतवर्ष मे उत्पन्न हुए है। उन सभी ने अपनी अपनी शक्ति के अनुसार लोगो को धर्म का तत्त्व समझाया है। इसीलिए हमारे देश मे हज़ारों धार्मिक सम्प्रदाय है। इतना सब होने पर भी हमारे देश मे अन्य देशों की भाँति धार्मिक असहिष्णुता नही है। यो तो शैव, वैष्णव, शाक्त तथा जैनो में धर्म के नाम पर यदा-कदा झगडे हुए हैं, किन्तु उन्होंने इतना भयंकर रूप धारण कभी नही किया, जितना कि दूसरे देशो के धार्मिक युद्धो ने किया है। इतिहास के पाठक इस बात से अपरिचित न होंगे कि पश्चिम मे पोप के शासनकाल मे धर्म के नाम

पर कैसे कैसे जघन्य कृत्य हुए है। उनके स्मरणमात्र से रोंगटे खडे होते है। एक ही ईसाई धर्म का रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट इन दोनो शाखाओ मे सैकडो वर्षों तक कैसा द्वन्द्व युद्ध चलता रहा। इस युद्ध मे बेचारे प्रोटेस्टेन्टो के साथ कैसे कैसे अत्याचार किये गये है। धर्म के नाम पर किस प्रकार बेचारे निरपराध अनेको प्राणी तलवार के घाट उतारे गये है, किसी प्रकार सम्पूर्ण देश मे धार्मिक असहिष्णुता के कारण रक्त की नदियाँ बहाई गई है, इसका साक्षी इतिहास है। उन सभी बातो को लिखने के लिए न तो यहाँ स्थान है और न हमारी इच्छा ही। यहाँ इस बात का उल्लेख करने से हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि हमारे देश मे अनेको विभिन्न सम्प्रदायो के होते हुए भी इस प्रकार की धार्मिक असहिष्णुता कभी नही हुई। ध्यान-पूर्वक विचार करने से पता चलेगा कि इसका एक मात्र कारण हमारी धार्मिक स्वतन्त्रता ही है। हमारा धर्म कभी किसी को इस बात के लिए विवश नही करता कि तुम अमुक अमुक बातो को ही मानो या अमुक प्रकार से ही उपासना करो। जिसकी जैसी इच्छा हो, वह वैसी ही उपासना करे। इच्छा हो जिस प्रकार के विचार रक्खे। धर्म के विषय मे उसकी स्वतन्त्रता अपहरण नही की जाती। यही कारण है कि शैव, शाक्त, वैष्णव, जैनी, कबीरपन्थी, नानकपन्थी, दादूपन्थी आदि सभी अलग अलग सम्प्रदायो में होते हुए भी हिन्दू बने हुए हैं।

हिन्दू धर्म मे समाज को अक्षुण्ण बनाये रखने पर बहुत ध्यान रक्खा गया है। समाज के नियमों को पालन करते हुए आप चाहें जिस प्रकार के धार्मिक विचार रख सकते है। इसीलिए बाबू भगवानदासजी कहा करते है कि

हिन्दू धर्म और समाज

अन्य धर्म तो सम्प्रदाय है। अन्त में यदि "धर्म के नाम से कोई पुकारा जा सकता है, तो वह हिन्दू धर्म ही है।" अन्य धर्म तो यह कहते है कि तुम अपने पुराने धर्म्म को छोड़कर हमारे धर्म मे दीक्षित हो, किन्तु हिन्दूधर्म कहता है, तुम अपने पुराने धर्म मे रहते हुए भी हिन्दू बन सकते हो। आप हिन्दू धर्म को 'सनातन वैदिक आर्य्य धर्म्म" कहा करते है। एक दिन काशी-विद्यापीठ मे आप अपनी बनाई हुई शान्ति-शास्त्र (साइंस आफ़ पीस) नामक पुस्तक को पढ़ा रहे थे। इन पंक्तियो का लेखक भी उस समय कक्षा मे उपस्थित था, उस समय बातो ही बातो में आपने कहा था कि "मै तो काशी के पंडितो से बार बार कहता हूँ कि तुम भविष्यपुराण को ज़रा ध्यान से तो देखो, तुम्हे यह बात कही न कही अवश्य ही लिखी मिल जायगी कि मक्के में जाकर भगवान् शंकराचार्य्य ने एक मक्केश्वर महादेव की स्थापना की थी। बस हो गया, मुहम्मद साहब को भी अन्य सम्प्रदायों के आचार्य्य की भाँति एक सम्प्रदाय का आचार्य मान लेंगे। फिर जैसे और बहुतसे सम्प्रदाय हिन्दू समाज में है वैसे ही एक मुहम्मदी सम्प्रदाय भी बना रहेगा। चुटिया

रखाने से काम थोड़े ही चल सकता है। बाबू भगवानदास-जी के इस कथन से यही सिद्ध होता है कि हिन्दू धर्म बड़ा विशाल धर्म्म है, इसमे सभी को हजम करने की शक्ति है। पहले जब इसका हाजमा ठीक था, तब परदेश से आई हुई बहुत सी जातियो को यह हजम कर गया। अब उनका नाम तक शेष नही रहा। सभी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रो मे अन्तर्भुक्त हो गये।

मुसलमान इस देश को विजय करने की इच्छा से और लूटने की इच्छा से आये, फिर वे विजयी होकर यहाँ रहने लगे। विजित जाति पराजित जाति को या तो नष्ट ही कर देती है या अपने मे उसे मिला लेती है। इसके इतिहास मे अनेक प्रमाण हैं। मुसलमानो ने भी हिन्दू जाति को अपने में मिला लेना चाहा, किन्तु हिन्दू धर्म की नीव गहरी थी, इसलिए वे इसमे सफल तो नहीं हुए, किन्तु हिन्दू जाति मुसलमानो के आक्रमण से खोखली अवश्य हो गई। उस समय इसकी पाचन-शक्ति बहुत कुछ बिगड चुकी थी, अतः भारतवर्ष के इतिहास मे यह एक नई बात हुई कि हिन्दुओं के अतिरिक्त एक दूसरी मुसलमान जाति भी बन गई। पहले सभी हिन्दू धर्म्म की छत्र-छाया मे थे। उपासना-पद्धति अलग अलग होने पर भी सभी हिन्दू कहे जाते थे। मुसलमानी धर्म ने अपना अलग तम्बू गाडा और धीरे धीरे बढ़ कर अब वह अच्छा खासा चाँदना हो गया। कबीरदास, नानकदास, दादूदयाल, आदि

सभी महात्माओं ने इस बात का उद्योग किया कि द्वैत भाव मिट कर फिर सब पहले की ही भाँति अद्वैतवादी हो जायँ, किन्तु रोग कठिन था, ये महात्मागण इस उद्योग में सफल न हो सके। इसका फल यह हुआ कि कबीर साहब आदि इन संतों के माननेवाले हिन्दू धर्म में भी हो गये और मुसलमानी धर्म में भी। परन्तु इन महात्माओं के उद्योग से दोनों समाजों को बहुत कुछ लाभ हुआ।

सनातन वैदिक धर्म की सार्वभौमिकता

यथार्थ में हिन्दू धर्म सम्प्रदाय नहीं है, यह एक विशाल धर्म्म है। सम्पूर्ण संसार के लोग अपने अपने आचार्य्यों को मानते हुए और अपनी अपनी उपासना-पद्धति को क़ायम रखते हुए भी हिन्दू धर्म की छत्र-छाया में आ सकते हैं। हिन्दू धर्म के मुख्यतया चार सिद्धान्त हैं, जो इन चारों बातों को मानने के लिए तैयार हो वह अपने को प्रसन्नता-पूर्वक हिन्दू कह सकता है। वे चार बातें ये हैं—(१) वेद (२) वर्णाश्रम-धर्म (३) गोरक्षा और (४) पातिव्रत धर्म।

इन चारों बातों को किसी रूप में भी माननेवाला अपने को हिन्दू कह सकता है। वेद की चार पुस्तकों को चाहे कोई भले ही न माने, किन्तु उसे वेद के ये तीन मुख्य मुख्य सिद्धान्त-(१) परमात्मा (२) परलोक और (३) पुनर्जन्म तो अवश्य ही मानने पड़ेंगे। यही कारण है कि इनमें बहुत से पन्थ के लोग वेदों को न मानते हुए भी इन सिद्धान्तों के कारण निर्भय

होकर अपने को हिन्दू कहते हैं। वर्णाश्रम-धर्म किसी न किस रूप में तो संसार के सभी सभ्य देशों में माना जाता है, फि चाहे कोई उसे गुण 'कर्म' स्वभाव से माने अथवा वंश-परम्पर गत जाति से माने। हिन्दू शास्त्र मे दोनो ही प्रकार की व्यवस्था हैं। पातिव्रत-धर्म के बारे मे भी यही बात है। स्त्रियों के लि पातिव्रत-धर्म को ही आदर्श मानना पडेगा। देवियों के लि यही परम आदर्श है। यो समय और आवश्यकता के अनुसा पुनर्विवाह अथवा नियोग भी हो सकता है, जैसा कि हिन्दुओं की बहुत सी जातियो मे प्रचलित है, परन्तु वह यथार्थ आदर्श नही। गोरक्षा हर हालत में हरेक हिन्दू को माननी होगी जो गोरक्षा नही कर सकता, वह हिन्दू कहलाने का अधिकारी नही। गोरक्षा मे ननु-नच करने का स्थान नही। गौ की रक्षा तो प्रत्येक हिन्दू को प्राणों की बाजी लगाकर करनी होगी। संसार की कोई भी जाति यदि इन सिद्धान्तों को स्वीकार करे तो वह बडी प्रसन्नता के साथ अपने को "सनातन वैदिक आर्य" धर्म्मावलम्बिनी कह सकती है। फिर चाहे वह धार्मिक पद्धतियों में किसी भी महात्मा का अनुसरण क्यों न करती हो।

विशाल हिन्दू-धर्म की छत्र-छाया मे जितने भी सम्प्रदाय प्रचलित हैं, उन्होने किसी न किसी रूप में समाज का उपकार ही किया है। हमारी धार्मिक स्थिति इतनी भयावह होगई है कि इन छोटे छोटे सुधारों से विशेष लाभ नही होने का। एक बार धार्मिक उत्क्रान्ति होने की आवश्यकता है, उसकी

बाढ़ में ये सब बनावटी धर्माडम्बरो की चहारदीवारी गिर' जायगी। विभिन्न सम्प्रदाओं मे फैला हुआ मनोमालिन्य उस बाढ़ मे बह जायगा। बनावट और पाखंड का नाम निशान भी न रहेगा। उसके अनन्तर जो भी कुछ शेष रह जायगा, वही यथार्थ धर्म होगा और उसमें किसी भी सम्प्रदाय के आचार्य्य को विरोध करने का स्थान न रहेगा। वह समय दूर नही है, हम उस समय का आभा से दर्शन कर रहे है। सुहावना समय हमारी आँखो के सामने नाच रहा है। सर्वसाधारण लोग थोड़े दिनो के बाद उसे समझ सकेंगे।

सम्प्रदाय और संकीर्णता

अब यहाँ इस बात पर विचार करना है कि सम्प्रदायों के कारण संकीर्णता का भाव जनता मे किस प्रकार आ जाता है। कुछ समाज-सुधारको को छोड कर सभी महापुरुष समाज की प्रचलित पुरानी पद्धतियो का विरोध न करके उनमें सदा संशोधन ही किया करते है। जबतक भाव-संशुद्धि न हो, तबतक किसी कार्य्यविशेष से समाज की उन्नति तथा अवनति नहीं होती। सद्भावना के बिना सामाजिक सुधार किसी भी काम के नही होते। जो सुधारक समाज में सद्भावों का प्रचार न करके खाली मूर्तिपूजा, विधवा-विवाह, श्राद्ध-तर्पण और कुछ प्रचलित पूजा की पद्धतियो को ही समाज की अवनति का कारण समझ कर उन्ही का विरोध करने लगते है, उनके द्वारा

समाज की उन्नति तो दूर रही और अवनति होने लगती है। इस बात को एक दृष्टान्त द्वारा यों समझिये। जैसे एक पेट का रोगी किसी अनुभवहीन वैद्य के पास चिकित्सा को जाता है। वह अपने रोग क सम्बन्ध मे कुछ भी नही समझता। वह जाकर वैद्य से कहता है—"मेरे सिर मे थोडी थोडी पीडा होती है, भोजन भली भाँति पचता नही, उठते-बैठते चक्कर आने लगते है, घुटनो मे दर्द हुआ करता है, पिंडरियो मे कभी कभी पीडा होती है, खट्टी खट्टी डकारे आती है इत्यादि।" अनुभव-हीन चिकित्सक इन सब उपद्रवों के मूल कारण पर विचार न करके इन उपद्रवो को ही रोग समझने लगता है और इन सब उपद्रवो की पृथक् पृथक् चिकित्सा करना आरम्भ कर देता है। इसका परिणाम वही होता है, जो होना चाहिए था। रोगी को भली भाँति कभी भी आराम नही होता। कभी कोई उपद्रव कम हुआ तो दूसरा बढ गया, इसी प्रकार रोग जड मूल से न जाकर धीरे धीरे और बढ़ता रहता है। ठीक यही दशा बाहरी सुधारो की है। जबतक लोगों के भाव शुद्ध नही होगे, जबतक लोग सचाई-और ईमानदारी से कार्य्य करना नही सीखेंगे, तबतक लाख सुधार क्यो न किये जायें, समाज की उन्नति होना असम्भव है। इसीलिए बडे बड़े सुधारको तथा महापुरुषो ने भाव-संशुद्धि पर ही अधिक जोर दिया है।

हिन्दू समाज में अथवा अन्य किसी भी समाज मे जब भी कोई महापुरुष उत्पन्न हुए है, उन्होंने यह बात कभी नहीं

कही कि हम कोई नई शिक्षा अथवा नई परिपाटी का प्रचार करने के लिए आये है। उन लोगो ने सदा यही बात कही है कि हम जो भी कुछ कहते है, वे सब पुरानी ही बातें है, तुम लोग उनका यथार्थ रूप भूल गये हो, इसीलिए हम तुम्हें उन का यथार्थ रूप बताना चाहते है। यह कह कर उन लोगो ने समाज म सत् शिक्षाओं का प्रचार किया। जिस सुधारक में जितनी ही अधिक क्षमता, सत्यता, निस्पृहता और सच्चरित्रता हुई, उसकी शिक्षाओ का समाज पर उतना ही अधिक प्रभाव पडा। महापुरुष गण पहले सहसा किसी से अपनी पुरानी परिपाटी छोडने के लिए नही कहते, वे तो ख़ाली भावों की ही सशुद्धि चाहते है, अतः उनके सामने उनका कोई अलग समाज सगठित नही होता। जो भी कोई उनकी शिक्षाओ को माने वही उनका अनुयायी है। इसीलिए उन्नति का इच्छुक प्रत्येक पुरुष उस समय अपने को उस महापुरुष का अनुयायी कह सकता है, कारण कि उस समय उनका अनुयायी होने के लिए ख़ाली सद्भाव की ही आवश्यकता होती है। धीरे धीरे उनके अनुयायियो का एक गिरोह बन जाता है। उसमे कुछ विशेष नियमो का प्रचार होता है। "अमुक अमुक कार्य्य करोगे तो हमारे समाज मे सम्मिलित हो सकोगे।" इन शब्दों की तह में यह बात अव्यक्त रूप से छिपी होती है कि "जो आदमी अमुक अमुक कार्यों को नहीं करेगा वह हमारे समाज में सम्मिलित नही हो सकता और उसके साथ हमारे समाज के

लोगो की तथा हमारे समाज की सहानुभूति नही।" बस यही से संकीर्णता का श्रीगणेश होता है। यदि नये समाज की शक्ति प्रबल हुई, तो थोड़े ही दिनों में बुद्धि के बल से, शास्त्र के बल से, सङ्गठन के बल से अथवा शस्त्र के बल से वह सर्व साधारण लोगो को अपनी बात मानने के लिए विवश करती है और अनिच्छापूर्वक भी लोगों को उसके सामने सिर झुकाना पडता है। यदि सर्वसाधारण की उसके नियमो के साथ हार्दिक सहानुभूति हुई, तब तो थोड़े ही दिनों मे वह समाज देशव्यापी हो जाता है और अन्य समाज या तो उसमें आकर मिल जाते है या नष्टप्राय हो जाते है। यदि यह समाज देश-व्यापी होगई तो इसकी पहली संकीर्णता समाज-विस्तार के साथ मिट जाती है और फिर इसी विस्तृत समाज मे से शाखा-प्रशाखायें फूट कर संकीर्णता का प्रचार करने लगती है। और यदि समाज-संगठन के बाद ही उसकी उन्नति रुक गई तो वह सम्प्रदाय अपने को अन्य सम्प्रदायों से पृथक कर लेता है और अपने संकीर्ण भावो के कारण थोड़े ही दिनों में नष्ट हो जाती है।

समझने के लिए भारत की स्थिति के साथ ही इन नियमो की तुलना कीजिये। पहले भारतवर्ष में वैदिक धर्म का सर्वत्र प्रचार था, उसमें संकीर्णता के भाव आये। लोग अपने स्वार्थ के लिए वैदिक मंत्रों के मनमाने अर्थ करने लगे। भगवान् बुद्ध ने अपने सदुपदेशों से लोगों को अपनी ओर आकर्षित किया। उन्नति के इच्छुक लोग स्वार्थी पुरोहितों का

पीछा छोड़, भगवान् बुद्ध की शरण मे आने लगे। धीरे धीरे उन्नतिशील बुद्धानुयायियों का एक दल हो गया। पहले पहल इनमे भी कुछ संकीर्णता का प्रचार हुआ, किन्तु कुछ राजाओं के बौद्ध धर्म्म ग्रहण कर लेने से वह देशव्यापी धर्म्म होगया। उस समय के सम्पूर्ण समाज को हम बौद्ध धर्मानुगामी समाज ही कह सकते है। इस प्रकार बौद्ध धर्म्म सर्वव्यापी तो हो गया, किन्तु उसमें से बहुत सी नई नई शाखये निकल कर सकोर्णता का प्रचार करने लगी और सभी अपने ही सकीर्ण मत को सत्य बताने लगी। उन सम्प्रदायो के अनुयायी अपने ही सिद्धान्तो को भगवान् बुद्ध के सत्य संदेश कह कर पुकारने लगे। इस प्रकार विस्तृत बौद्ध धर्म्म अनेक शाखा-प्रशाखाओ में विभाजित हो गया और सभी शाखाओं के लोग अपने सकोर्ण विचारो के कारण अन्य शाखा वालो के ऊपर नाना भाँति क दोष आरोपित करने लगे। इस प्रकार समाज मे विरोधभाव और कलह का साम्राज्य हो गया। भगवान् शंकराचार्य्यजी ने वैदिक धर्म्म के प्रबल प्रचार द्वारा उन सभी सांप्रदायिक संकीर्णताओ को अपनी वेदान्त-रूपी बाढ़ मे बहा दिया और सम्पूर्ण देश मे फिर से वैदिक धर्म्म का प्रचार तथा प्रसार हुआ। भगवान् शकर ने वेद उपनिषदें, गीता और ब्रह्मसूत्र को मूल नीव मानकर उसके ही ऊपर अपने सिद्धान्त को भित्ति खड़ी की। उस समय का सम्पूर्ण समाज बौद्ध समाज से वैदिक समाज के रूप मे परि-

वर्त्तित हो गया। इसके अनन्तर रामानुजाचार्य्य, बल्लभाचार्य्य, मध्वाचार्य्य, निम्बार्काचार्य्य आदि एक एक करके बहुत से वैदिक आचार्यों का प्रादुर्भाव हुआ। इन सभी आचार्यों ने वैदिक धर्म के अन्तर्गत अपने विशेष विशेष सिद्धान्तों का प्रचार किया। इन सभी आचार्यों ने वेद, उपनिषद, गीता और ब्रह्मसूत्र को अपने अपने धर्मों के प्रचार मे प्रधान स्थान दिया और इन्हीके द्वारा उन्होने अपने सिद्धान्तो को जनता के सामने रक्खा। इसका परिणाम यह हुआ कि इन आचार्यों के अनुयायीगण भगवान् शंकर के सिद्धान्तो से पृथक् सिद्धान्त रखते हुए भी वैदिक धर्मानुयायी ही बने रहे। वे वैदिक समाज से पृथक् नही हुए इसीलिए इन सब सम्प्रदाय वालों मे परस्पर अधिक संकीर्णता के भाव नही फैले। इतना सब होने पर भी वैदिक समाज काल-चक्र से समझिये अथवा पहली कमज़ोरी से समझिये, विशेष उन्नति नही कर सका। वह अपने प्राचीन गौरव को भूल गया। एक एक करके बहुत से विदेशियो ने समय समय पर आ आकर इस समाज को बरबाद किया। निरन्तर वदेशियों के आक्रमण से यह समाज अपना रहा सहा गौरव भो खो बैठा और धर्म्म से छूँछा बन बैठा। इसके अनन्तर कबीर, दादूदयाल, नानक, चैतन्यदेव एक एक करके बहुत से सुधारक उत्पन्न हुए। इन महापुरुषो ने लोगो के बिगड़े हुए भावों में बहुत कुछ परिवर्तन किया, किन्तु अभी इस समाज के दुर्दिनों की इतिश्री नही हुई थी,

अतः इन महापुरुषो के उपदेशों से समाज ने, जितना लाभ उठाना चाहिए था, उतना लाभ नही उठाया।

हिन्दू समाज की वर्तमान प्रगति को देखते हुए अब यह बात स्पष्ट दीख रही है कि यह समाज अब अपनी उन्नति की बात सोच रहा है। हिन्दू समाज अब अधिक दिन तक इस दयनीय दशा में रहना नही चाहता। उसे अब अपने समाज में संशोधन परिवर्त्तन तथा परिवर्धन की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो इस बात के चिह्न हमें स्पष्ट दिखाई पड़ेगे कि संशोधन का श्रीगणेश हो गया। सिक्खों ने अपने को हिन्दू समाज से पृथक कर ही लिया। आर्यसमाजी हिन्दुओं से अलग एक "आर्य्य बिरादरी" बनाने की बात सोच ही रहे है। ब्रह्मसमाजी खुले तौर पर कहते है कि हम हिन्दू नही हैं। ब्रह्मसमाज की रीति से जो विवाह किया जाता है, उसकी हाकिम के सामने रजिष्ट्री कराई जाती और उसमें वर-बधू दोनों को यह बात कहनी पड़ती है कि, हम "हिन्दू, मुसलमान, ईसाई किसी भी धर्म्म के माननेवाले नहीं है।" तभी वह विवाह वैध समझा जाता है। राधा-स्वामी सम्प्रदाय वाले भी अपनी अलग जाति बना रहे हे। पहले उस सम्प्रदाय के सभी लोग साथ मे बैठ कर खाते-पीते तो थे ही, अब परस्पर में बिना जाति-पाँति के विचार किये, शादी विवाह भी करने लगे है। इसी प्रकार प्रायः सभी सम्प्रदाय वाले अपने को हिन्दू समाज से पृथक करने पर

कटिबद्ध हो रहे है । इधर आगरा मथुरा की तरफ एक विसुनदेवा समाज है वह भी अपने को हिन्दुओं से पृथक् समझता है । फर्रुखाबाद में एक 'साधु' नामक जाति है, उसके सभी आचार-विचार हिन्दुओं के से है, किन्तु उस समाज के लोग अपने को हिन्दुओं से पृथक् ही बताते है। थोड़े ही दिन से दिल्ली मे "देव समाज" के नाम से एक समाज बना है । उसके प्रवर्तक पं० लक्ष्मीनारायणजी अग्निहोत्री देव गुरु है। अभी तो उसने अपने को हिन्दू समाज से पृथक् नहीं किया, किन्तु धीरे धीरे वह भी हिन्दू समाज से पृथक् हो ही जायगा। इस प्रकार जिधर भी देखते है, जो थोड़ी भी शक्ति-शाली संस्था होती है, वही अपने को हिन्दू समाज से पृथक् कर लेती है और इन सब में दिन पर दिन सकीर्णता के भाव बढ़ रहे है। एक सज्जन इन पंक्तियों के लेखक को बताते थे, कि साधारण राधा स्वामी सम्प्रदाय का सत्संगी हमारे हाथ का पान तक नही खाता। इसका कारण यही है कि वह अपने को हिन्दू समाज से पृथक् समझता है।

पाठक सोचेंगे कि संकीर्णता से तो समाज की और अवनति होती है। ये लक्षण उन्नति के थोड़े ही है, किन्तु यदि ध्यानपूर्वक विचारा जाय, तो संकीर्णता में ही विस्तृतपने के भाव भरे हुए हैं। जब समाज के लोग अपनी वर्तमान स्थिति से सन्तुष्ट नही होते, तब उनके पास विस्तृत समाज के साथ विरोध करने की प्रबल शक्ति तो होती नही, इसीलिए अपने

कुछ आदमियों के साथ उस समाज से अलग हो जाते हैं और अपना एक अलग समाज बना लेते है। उस समाज को यदि कोई अच्छा नेता मिल गया तो थोड़े दिन तो वह .खूब धूम-धाम से चलता है, किन्तु अच्छे नेता के अभाव होने पर वह शिथिल हो जाता है और फिर धीरे धीरे उसी विस्तृत जाति-रूपी महानद में आकर मिल जाता है। इसका दृष्टान्त केशव-चन्द्रसेन द्वारा स्थापित कलकत्ते का "भारत आश्रम" है। उस में ब्राह्म भक्त सपरिवार रहते थे, एक साथ ही पूजा-पाठ तथा उपासना करते थे और परस्पर में पारिवारिक नाता मानते थे। राधास्वामी संम्प्रदाय के वर्तमान आचार्य्य ने आगरे में भी इस प्रकार का एक आश्रम खोला है, उसमें सत्संगियों के रहने के लिए पृथक् पृथक् सैकड़ों स्थान बने हुए है। उनमें भोजन की सभी सामिग्रियों का; जल, रोशनी सफ़ाई आदि सभी बातो का, प्रबन्ध है। प्रत्येक सत्संगी कुछ नियत शुल्क देकर उनमें रह सकता है और वहाँ रह कर अभ्यास तथा सत्संग कर सकता है। इस आश्रम का नाम है "दयाल बाग़" इसमें औद्योगिक धन्धों का भी प्रबन्ध है और बहुत सी उत्तम उत्तम स्वदेशी वस्तुएँ भी यहाँ तैयार की जाती है। मद्रास में भी श्रीमती एनी बेसेन्ट द्वारा स्थापित किया हुआ एक इसी प्रकार का आश्रम है। इस प्रकार धीरे धीरे लोग विश्वबन्धुत्व की ओर अग्रसर हो रहे है।

जब किसी देश में कोई अच्छा शासक नहीं रहता और दूसरा प्रबल शासक आना चाहता है, तब इन दोनों के बीच में

जनता मे अवश्य ही संकीर्णता के भाव आ जाते है। जब मुसलमानो का बल घट गया था, तब दिल्ली के पास के छोटे छोटे जमीदार बिल्कुल स्वतन्त्र हो गये थे। वे किसी को बादशाह मानते ही नही थे। इसी प्रकार प्रत्येक प्रान्त के नवाब भी अपने को स्वतन्त्र समझने लगे। इन्हीं सब कारणों से सम्वत् १६१४ वि० में विप्लव हुआ। विप्लव में छोटे छोटे आदमियो ने बड़े बड़े स्थानों पर अपना आधिपत्य जमा लिया। यहाँ प्रयाग में ही तीन दिन तक एक मौलवी साहिब का राज्य रहा। एक तोप लेकर मौलवी साहिब प्रयाग पर चढ़ आये। उनका सामना करने को तो कोई था ही नहीं, झट सम्पूर्ण शहर पर अपना आधिपत्य जमा लिया। सम्पूर्ण शहर में मुनादी हो गई "खलक .खुदा का, मुलक बादशाह का, हुकुम मौलवी साहिब का।" शहर के कुछ मदान्ध व्यक्ति शहर कोतवाल, न्यायाधीश आदि बनाये गये। जब तीसरे दिन अँगरेज़ो की प्रबल शक्ति आई, तब फिर मौलवी साहिब का और उनके अधिकारियों का पता ही न चला। इसी प्रकार जब हिन्दू समाज जर्जरित हो रहा है, जब इसमें बुराइयो ने घर कर लिया है, तब समाज के लोग इससे पृथक् होकर अपना विरोध प्रकट करते है। संकीर्ण विचार के नेताओं के होने से उनके विचारों मे भी संकीर्णता आ जाती है और वे लोग सम्पूर्ण समाज का विरोध करने लगते है। उनके विचार यहाँ तक संकुचित हो जाते है कि वे अपने पूर्व ऋषि, मुनि, महापुरुष तथा अवतारो

तक का विरोध करने लगते हैं। जिस पुरुष के नाम से वे अपने समाज की रचना करते है, बस वे ही उनके चर्मलक्ष्य बन जाते हैं। अन्य सभी आदर्शों की ओर से वे मुंह मोड़ लेते हैं। आगामी समाज के लिए ये लक्षण बुरे नहीं है। किसी से भी सही, वे प्रेम करना तो सीख रहे हैं, अपने संकुचित समाज से ही सही, वे कुटुम्बपने का बर्ताव करना तो समझ रहे हैं। यह धर्म-क्रान्ति का समय है, सभी लोग अपनी अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग अलग पका रहे है। वह समय दूर नहीं है, जब ये सभी समाज संकीर्णता की खाइयों को पार करके एक विशाल धर्मसागर में मिल जायगी। तब इन सभी समाजों के आदर्श होगे व्यास, पराशर, जैमिनि, भीष्म, रघु, रन्तिदेव, दधीचि, शिवि, राम, कृष्ण और बुद्ध और इन सभी का मूल मन्त्र होगा "वसुधैव कुटुम्बकम्" विचारवान् पुरुष उस समय को अभी से प्रत्यक्ष्य देख रहे हैं, जब भारी धर्म-बाढ़ के कारण ये छोटो छोटी सभी खाइयाँ एक होकर समतल भूमि बन जायँगी। यही नया समाज यथार्थ मे सर्व व्यापी हिन्दू समाज होगा। यह नया समाज न तो आज कल के समाज जैसा अनुदार और असहिष्णु ही होगा और न प्रचलित पन्थों की भाँति संकीर्ण ही होगा। उसमें रह कर सभी लोग अपनी अपनी इच्छा के अनुसार मज़े से आधिभौतिक और आध्यात्मिक उन्नति कर सकेंगे। युगप्रवर्तक परमात्मा से प्रार्थना है कि उस समय को जितना भी शीघ्र उपस्थित कर सकें करें।

इन महात्माओं के सम्बन्ध में

यह बात हम पहले ही बता चुके है कि बिना भावुकता के भक्ति नही होती। जिसकी जितनी ही अधिक बढ़ी चढ़ी भावुकता होगी, वह उतना ही ऊँचा भक्त होगा। जैसे हमने पहिले बताया था कि केवल ज्ञान नास्तिकता की ओर, केवल अनुभूति अध विश्वास की ओर और केवल कर्म जड़ता की ओर मनुष्य को ले जाता है, वैसे ही केवल भावुकता मनुष्य को पागलपन की ओर ले जाती है, किन्तु इसमें एक बात और है, इनके साथ रजस्तामस गुणों का समावेश होना चाहिए। यदि उपर्युक्त शक्तियो के साथ शुद्ध सत्वगुण का समावेश होगया तो फिर ये आदर्श बन जाते है। सांख्य, वैशेषिक आदि ईश्वर को न माननेवाले दार्शनिक ज्ञान शक्ति का उदाहरण है। भगवान बुद्ध शुद्ध सात्विक केवल इच्छा-शक्ति का उदाहरण है। जड़ भरत जी को हम शुद्ध सात्विक क्रिया शक्ति का उदाहरण कह सकते है। केवल शुद्ध सात्विक भावुकता का ज्वलन्त उदाहरण मजनू है। ये महानुभाव अपनी ही धुन में मस्त थे। संसार से इन्हें कोई सरोकार नही। लोग इनके शुद्धाचरणों से भले ही चाहे जितना लाभ उठालें, किन्तु ये स्वयं कुछ भी नही करते। इन्हें अपने ही काम से काम है।

भावुकता के साथ ही जिनकी ज्ञान-शक्ति प्रबल होती है उनके सिद्धान्तों का प्रचार देर में होता है, किन्तु रहता है

स्थाई। जिनकी इच्छा-शक्ति प्रबल होती है, उनका प्रभाव तत्काल ही दिखाई देने लगता है, किन्तु वह कुछ भावुक भक्तों में ही सीमाबद्ध रहता है। उनके पीछे धीरे धीरे लोग उनके विचारो को ज्ञान के साँचे में ढाल कर उनका प्रचार करते हैं भावुकता के साथ जिनकी क्रिया शक्ति प्रबल होती है, उनके भावों का प्रचार उनके सामने तो ख़ूब होता है, किन्तु उनके पीछे फिर कुछ नहीं रह जाता। जिन पुरुषो में भावुकता के साथ जिन शक्तियो का अधिक समावेश होगा, वे वैसे ही गुणों वाले महापुरुष को अपना आदर्श बनावेंगे। भावुकता के कारण वे उसे ही अपना सर्बस्व समझेंगे। इसीलिए प्रायः प्रत्येक पन्थ वाले अपने प्रवर्तक को ईश्वर या ईश्वर तुल्य मानते हैं। बंगाल अधिक भावुकता-प्रधान देश है इसीलिए वहाँ इस काल में भी कई साक्षात् परमेश्वर के अवतार हो चुके है। चैतन्य महाप्रभु को तो साक्षात् कृष्ण का अवतार कहते ही है। परहंस राम-कृष्ण देव को भी उनके शिष्य प्रशिष्य राम और कृष्ण का अवतार सिद्ध करते है। अभी हाल में एक जगत् बन्धु नाम के भक्त होगये है। उनके संम्प्रदाय के लोग उन्हें भी साक्षात् परब्रह्म का अवतार मानते है। बाबू केशवचन्द्रसेन को उनके अनुयायी गण ईश्वर का छोटा पुत्र अथवा आधुनिक चैतन्य देव कहते ही थे। अपना अपना विश्वास ही तो है। अपने गुरुदेव को ईश्वर-तुल्य मानना ही चाहिए, किन्तु सर्व साधारण में उन्हें ईश्वर का अवतार कह कर

प्रचार करना, यह बात हमारी समझ में नही आती। इससे भगवान् के अवतार का क्षेत्र बहुत ही संकुचित हो जाता है। आजकल भी पाँच सात महापुरुष ऐसे हैं जो किसी न किसी रूप में विष्णु अथवा शिव का अवतार समझे जाते हैं। उनके शिष्य गण उसी प्रकार उनकी पूजा अर्चा करते हैं और वे भी अपने को अवतार ही समझते है। उनमें से ४ महानुभाव तो बंगाल प्रान्त के ही है। इन सब महानुभावों में से दो को छोड़कर शेष सभी के हमने दर्शन किये है। बुद्धिवाद से भावुकता ढक जाने के कारण हमें तो इनमें कोई अवतारपने के चिह्न दिखाई नहीं दिये। अस्तु, अपनी अपनी श्रद्धा है। इन सब विचारों की तह में भी भगवान् की कोई गुप्त इच्छा कार्य्य कर रही है। जिसे हम नहीं समझ सकते।

अवतार की बात छोड़ दीजिये। यह बात तो निश्चित ही है कि ये सभी महात्मागण साधारण पुरुषों से बहुत बढ़े चढ़े थे। बिना भगवत् प्रेरणा के ऐसे महापुरुप संसार में नहीं आते। इसलिए साक्षात् परब्रह्म का अवतार न मान कर यदि इन्हें अंशावतार मान भी लें तो कोई आपत्ति की बात नही है। भगवान् ने गीता में भी कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

अच्छा, इस प्रसंग को छोड़कर यहाँ अब सक्षेप में इन महात्माओं के ऊपर विचार करें कि जनता पर किस महात्मा का कैसा और कितना प्रभाव पड़ा।

१--कबीरदासजी

कबीरदासजी के सम्बन्ध में हम पीछे कुछ कह चुके हैं। ये महात्मा सचमुच में एक युग प्रवर्तक महापुरुष थे। अपने समय के लोक विरुद्ध प्रचारक होने के कारण अपने समय में इनका इतना अधिक मान न हो सका। इन्हे जीवन भर अपने विपक्षियों के विरोध का सामना करना पड़ा। अन्त में मालूम पड़ता है विरोध के ही कारण इन्हें काशी भी छोड़नी पड़ी। ये बहुत ही उच्च कोटि के महात्मा हो चुके हैं। ये जितनी ही ऊँची बात सोचते थे उतना ही अधिक अनुभव भी करते थे। कबीरदास जी के सदृश ऊँचे भाव उनके पीछे के किसी भी महात्मा की कविता में नही पाये जाते। यद्यपि सूर और तुलसी की कविताएँ भी अनूठी है और उनके भाव भी बहुत ऊँचे है। परन्तु जो अनुभूति कबीरदास जी की कविता में पाई जाती है, वह इन संतों की कविता मे नही मिलती। इन महाकवियों ने संस्कृत के पूर्ववर्ती कवियों का उक्ति और उपमाओं का आश्रय अधिक लिया है, किन्तु कवीरदासजी पुरानी युक्तियों को स्पर्श तक नहीं करते। वे अपने निजी अनुभव की बात कहते हैं। ऊँची से ऊँची बात का साधारण वोल चाल की

भाषा मे ऐसा सरल उदाहरण देते है कि कहते ही बनता है। इन्होंने बिलकुल साधारण व्यावहारिक बातो में ऊँचे ऊँचे सिद्धान्त समझाये है। कविता पढ़ते पढ़ते ऐसा मालूम होता है, मानो ये इस बात को प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देखकर लिख रहे हैं। जिन भावो को कोई मुँह से कह नहीं सकता उनका इन्होंने कविता में वर्णन किया है। नीचे के पद को पढ़िये, देखिये कितने ऊँचे भाव है और कबीरदासजी ने उसे कैसी उत्तमता से वर्णन किया है—

गगन गरज बरसै अमी, बादर गहर गँभीर।
चहुँ दिशि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर॥

अब और क्या कहें, स्थल संकोच बार बार हमारी लेखनी पकड़ लेता है। इस छोटे से स्थान में अपने हृदयोद्‌गारो को कैसे व्यक्त करें। बस यही कह कर हम इस विषय को समाप्त करते है।कि जिन्हें भगवान् ने सजीव हृदय प्रदान किया हो, जिनमें भावुकता का अभाव न हो, जिनके हृदय पटलपर किसी प्रकार के पक्षपात का पर्दा न पड़ा हुआ हो, जो संस्कृत भाषा में अच्छी गति न रखने पर भी उपनिषदों के अद्वितीय और अनुपम भावों का रसास्वादन करना चाहते हों वे कबीर-दासजी की कविता का अवश्य पाठ करें। इन महात्मा के उत्तम भावों ने संसार का बड़ा भारी उपकार किया है। लोग ज्यो ज्यो सत्य की खोज में अग्रसर होंगे, त्यों त्यो कबीरदासजो के भावों का संसार मे अत्यधिक प्रचार और प्रसार होगा।

२—नानकदासजी

महात्मा नानकदासजी एक उच्चकोटि के संत हुए है। इनका रहन सहन और व्यवहार आदर्श था, सदाचार के ये ज्वलन्त प्रमाण थे। इसका सबसे उत्तम प्रमाण यह है कि इनके पश्चात् जो इनकी गद्दी पर ६ गुरु हुए वे एक से एक बढ़कर सदाचारी निकले। यह सब होते हुए भी इनके विचार अधिक विस्तृत नही हुए। यही कारण है कि इनका प्रचार पंजाब से बाहर बहुत कम हुआ। ऐसे महानुभावो मे त्याग की मात्रा जितनी ही अधिक होगी, उनके भावो का भी उतना ही अधिक विस्तृत प्रचार होगा। नानकजी त्यागी होने पर भी गृही ही बने रहे। इसीलिए उनके भाव उदार और उच्च होने पर भी सर्वव्यापी न हो सके। इनके पुत्र श्रीचन्दजी आदर्शत्यागी हुए। उनके भावों ने अधिक विस्तृत रूप धारण किया। भारत-वर्ष मे आप कोई भी ऐसा प्रधान तीर्थ नही पावेंगे जहाॅ उदासी साधुओं के दो चार स्थान न हो। भारत के कोने कोने मे उदासी साधु विचरते हुए, वेदान्त के उच्च सिद्धान्तों का प्रचार करते हुए दिखाई देते है। नानकदासजी की गद्दी के दसवें गुरु गोविन्दसिह ने तो फिर सिक्खों की एक अलग ही जाति बना दी। ग्रन्थसाहब को ईश्वर मानने से तो नानकजी के विचारो का प्रचार होना ही बन्द हो गया।

३—दादूदयालुजी

महात्मा दादूदयाल जी बड़े ही निस्पृह और त्यागी महात्मा हुए हैं। ये अपना कोई अलग मत चलाने के इच्छुक नहीं थे। इन्होंने अपने जीवन भर बिना किसी लोक दिखावे के अपने सत्सिद्धान्तों का प्रचार किया। इनके भाव बहुत अधिक विस्तृत हैं। भारतवर्ष मे दादूपन्थी साधुओं ने वेदान्त के सिद्धान्तों के प्रचार में बहुत अधिक योग दिया है। दादूदयाल जी के विचार बहुत ही उच्च कोटि के तथा सर्व साधारण के हितकर है। उन्हें सभी श्रेणी के, सभी मत के लोग बिना किसी पक्षपात के ग्रहण कर सकते है।

४—तुलसीदास जी

महात्मा तुलसीदास जी ने भारतवर्ष का ही नहीं सारे ससार का बड़ा भारी उपकार किया है। ये महातमा भाव प्रचारक हुए हैं। इन्होंने न तो कोई पन्थ ही चलाया और न घूमघूम कर प्रचार ही किया। ये अपने परमार्जित उच्च और आदर्श विचारों को जनता के लिए छोड गये। आज से तीन सौ वर्ष पूर्व जो साधु अन्य साधारण वैरागियों की भाँति गली गली भिक्षा माँगता फिरता था, जिसे संसारी लोग साधारण वैरागी ही समझ कर उससे लडाई झगड़ा तक करने के लिए तैयार हो जाते थे, आज वही साधु अपने उच्च विचारों के कारण जगत्-

पूज्य बन गया है। आज बड़े बड़े विद्वान् उसकी छोटी से छोटी बात जानने के लिए उत्सुक होरहे है। संसार के लोग ज्यो ज्यो अनुभूति की ओर बढ़ेंगे त्यों त्यो तुलसीदासजी के भावो का प्रचार भी बढ़ता जावेगा और उन्हे संसार के सर्वश्रेष्ठ प्रचारकों में उत्तम स्थान प्राप्त होगा।

५—ज्ञानेश्वरजी

ज्ञानेश्वरजी मराठी भाषा के वाल्मीक समझे जाते है। सचमुच ये महात्मा अलौकिक प्रतिभा-सम्पन्न महापुरुष हो गये है। २१ वर्ष की अल्प अवस्था मे ये जो काम कर गये है, उसे साधारण जन इक्कीस सौ वर्ष में भी नहीं कर सकते। मराठी भाषा की उन्नति के साथ ही ज्ञानेश्वर महाराज का आसन भी ऊँचा उठता जायगा।

६—रैदासजी

अविद्या और जात्यभिमान के कारण इन महात्मा के भावों का उच्च जातियों में अत्यधिक प्रचार नहीं हुआ। किन्तु इनकी सीधी सादी रहन सहन और आदर्श भक्ति का जन-साधारण पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। देश के कोने कोने में इनका नाम फैल गया। चमार जाति के लोग तो अपने को रैदास ही कहने लग गये। सर्वसाधारण लोगों को इस बात तक का पता नहीं कि रैदास कहाँ उत्पन्न हुए। किन्तु वे

रैदास के नाम से परिचित हैं। ये महात्मा १०० वर्ष तक इस धराधाम पर विराजे और आजन्म जूती बनाने का ही कार्य्य करते रहे। निम्न श्रेणी के लोगों में इनका ख़ूब प्रचार है।

७—(समर्थ गुरु) रामदासजी

समर्थगुरु रामदास में अनुभूति के साथ ही क्रियाशक्ति की मात्रा अधिक थी। कहावत है जैसे को तैसा मिल ही जाता है। इन्हें क्रियाशक्ति सम्पन्न शिवाजी जैसे शिष्य भी प्राप्त हो गये। इसीलिए समर्थ के शिष्य शिवाजी न कहकर, शिवाजी के गुरु समर्थ इस प्रकार समर्थ का परिचय दिया जाता है। समर्थ के विचारों में मौलिकता बहुत कम है। इन्होंने भावों का प्रचार अधिक नहीं किया, क्रियाशक्ति का ही आश्रय लिया। यही कारण था कि इनके समय में रामदासी सम्प्रदाय की बहुत अधिक उन्नति हुई। इनके परलोकवासी होने पर रामदासी सम्प्रदाय लुप्तप्राय हो गया। अब तो शायद ही कही रामदासी सम्प्रदाय का प्रचार हो। इनकी उत्तम कार्य-पद्धति लोगों के लिए आदर्श के निमित्त शेष रह गई।

८—चरनदासजी

महात्मा चरनदासजी ज्ञानवान् भक्त थे। इनके ग्रन्थों मे पूर्वाचार्यों की छाया अत्यधिक है। परमार्थ के प्रेमी साधारण पढ़े लिखे लोगों में इनके ग्रन्थो का प्रचार अधिक है।

९—प्रीतम स्वामी

प्रीतम स्वामी उस समय के एक सच्चरित्र महन्त थे। पढ़े-लिखे और सदाचारी होने के कारण इनकी प्रतिष्ठा उस समय बहुत होगई थी। इनके नाम से कोई सम्प्रदाय नही चलता। गुजराती भाषा में इनकी कविता का बहुत अधिक प्रचार है। इनमें स्वतन्त्र विचारने की शक्ति इतनी अधिक नहीं थी। इनकी कविता बड़ी मनोहर है।

१०—मलूकदासजी

मलूकदासजी अच्छे त्यागी संत हो चुके हैं। सर्व साधारण में इनकी कविता का साधारणतया प्रचार है। इन्होंने भी ऊँचे भावो को साधारण बोल चाल की भाषा मे प्रकट किया है। इनकी कविताओं का उतना अधिक प्रचार नहीं है, जितना कि इनके नाम का। ये अच्छे भक्त हुए है।

११—पलटूदासजी

ये महात्मा बहुत अधिक ज़िद्दी से जान पड़ते है। जाने क्यों, इनकी कविता का लोगो मे अधिक प्रचार नहीं हुआ। ये अच्छे सन्त और भक्त हुए है।

१२—पानपदासजी

महात्मा पानपदासजी भी बड़े भजनानन्दी और निस्पृह साधु हो चुके है। ये महात्मा एक देशीय हुए है। उधर बिजनौर

की ही तरफ़ इनका प्रचार है। इनकी भक्ति और निष्ठा अनुकरणीय है।

१३—राधास्वामीजी

राधास्वामीजी ने सचमुच लोगो को परमार्थ की ओर अग्रसर किया। वे चाहते थे कि लोग संसार में रहते हुए भी योग का अभ्यास करें तथा भगवान् में प्रीति करे। साधारण लोगों को जब तक कोई आश्रय न हो, तब तक उनका परमार्थ के कामो मे चित्त नही लगता। इसीलिए उन्होंने गुरुभक्ति का प्रचार किया, किन्तु उनके पश्चात् उनका स्थान अधूरे लोगो ने ग्रहण किया। कैसा भी अच्छा पुरुष क्यो न हो, जब तक उसे परमात्मा का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तब तक उसे मान, प्रतिष्ठा की इच्छा रही आती है। इसी मान, प्रतिष्ठा के चक्कर मे पड़ कर राधास्वामी सम्प्रदाय एक विचित्र ही वस्तु बन गई। राधास्वामी सम्प्रदाय के लोग अपने भावो को जन साधारण में प्रकट नही करना चाहते, इसलिए इनकी शिक्षायें केवल सांप्रदायिक ही बनी रही। अब आगे भी इनका क्या प्रचार होगा।

१४—केशवचन्द्रसेन

ब्रह्मानन्द केशवचन्द्रसेन बंगाल में नामी सुधारक हुए है। यदि ये केवल समाज-सुधारक, व्याख्याता तथा पत्र-सम्पादक ही होते तो हम इस स्थान पर इनका उल्लेख न करते। सुधारक

होने के साथ ही इनके हृदय में भगवत्-भक्ति भी थी और वह सच्ची भक्ति थी, उसमें बनावट या दिखाऊपन न था। फिर चाहे यह थोड़ी ही क्यो न हो और उसका उदय अन्त में ही क्यों न हुआ हो। किन्तु ये भक्त अवश्य थे। इस पथ में त्याग की बड़ी आवश्यकता है। केशव बाबू इतना सब करने पर भी अपने बाल बच्चों के मोह का त्याग न कर सके। लड़की को रानी बनाने के लोभ ने उन्हें विचलित कर ही दिया और जिस ब्राह्म विवाह-विधान को उन्होंने अनवरत प्रयत्न करके पास कराया था, उसकी हत्या अपने ही हाथों कर डाली। अर्थात् १४ वर्ष की अवस्था के पूर्व ही अपनी दुहिता की शादी करदी। इससे उनकी प्रतिष्ठा भी बहुत अधिक घट गई। वे क्रिया-शक्ति-प्रधान पुरुष थे, इसीलिए उनके सामने उनके विचारो का ख़ूब प्रचार हुआ। यद्यपि केशव बाबू को हम इन महात्माओ की श्रेणी में नही बिठा सकते, फिर भी वे संसारी लोगों के लिए आदर्श भक्त है। इतना सब वैभव होने पर भी ऐसी वृत्ति, ऐसी उदारता, ऐसी निस्पृहता, साधारण मनुष्यो मे नही हो सकती। संसारी लोग केशव बाबू के दृष्टान्त से बहुत अधिक शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। त्यागी महानुभाव अनुभव कर सकेंगे कि बिना मोह का परित्याग किये इस मार्ग में चलना कितना कठिन है। केशव बाबू अपनी लड़की का बिवाह राजकुमार के साथ करते तो कर गये, किन्तु उन्हें इस बात का अन्त तक दुःख रहा। इसी दुःख के कारण उनका शरी-

रान्त भी हुआ। ब्राह्म भक्तों पर उनका अत्यधिक प्रभाव था। अब भी ब्रह्मसमाज मे उनकी अत्यधिक प्रतिष्ठा है। ब्रह्म समाज में केशव बाबू ने ही कीर्तन का प्रचार किया।

अन्तिम निवेदन

इन महात्माओं के सम्बन्ध में हमें जो कुछ कहना था, वह हमने बहुत ही संक्षेप में कह दिया। यद्यपि इतने ही से इन महात्माओं का सम्पूर्ण सिद्धान्त नहीं जाना जा सकता, किन्तु तो भी इस वक्तव्य से इन महात्माओं की विचार-धारा जानने में पाठकों को बहुत कुछ मदद मिलेगी। इन महात्माओं के चरित्रों को अध्ययन करने के अनन्तर हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचे हैं कि इन सभी सन्तों की कार्य्य-प्रणाली एक ही थी, ये सभी महापुरुष मनुष्यों को सुख का सच्चा मार्ग दिखाना चाहते थे। इन सभी का मुख्य उद्देश्य मनुष्यों को सुख और शान्ति का सीधा साधा साधन बताना था। इन सभी ने धर्म के बाह्याडम्बरो का खंडन किया है। प्रभु प्राप्ति के लिए किसी ने भी जाति पाँति का बन्धन स्वीकार नही किया है। सभी ने एक स्वर से कहा है—"परमात्मा के यहाँ भेद भाव नहीं है। भेदभाव तो मनुष्यो की अपनी निज की कल्पना है। परमात्मा के यहाँ सभी एक हैं। वहाँ प्रत्येक पुरुष बिना किसी भेद भाव के जा सकता है। इन सभी सन्तों ने मनुष्यों को उपदेश दिया है कि तुम संकीर्णता को छोड़कर विस्तृतता की ओर बढ़ो

सभी महात्माओं के उपदेशों का सार निम्नलिखित श्लोकों में आ गया है—

धर्मं चरत माऽधर्मं सत्यं वदत नाऽनृतम्।
दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वं परं पश्यत माऽपरम्॥
अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः॥
श्रूयतां धर्मसर्वस्वं, श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि मा परेषु समाचरेत्॥

"धर्म का आचरण करो, अधर्म का नहीं। सत्य बोलो, असत्य मत बोलो। दीर्घ दृष्टि रक्खो, संकुचित नहीं। ऊँची दृष्टि से देखो, नीची से नहीं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, काम, क्रोध और लोभ का त्याग, सम्पूर्ण प्राणियों से प्रेम करना, ये ही सब लोगों के लिए धर्म है। धर्म का निचोड़ कहता हूँ, उसे सुनो और सुनकर अपने जीवन में परिणत करो। जो व्यवहार तुम्हें रुचिकर न हो उसे दूसरों के साथ भी न वर्तो।" धर्म के इन मुख्य सिद्धान्तों ही पर इन सभी सन्तों ने ज़ोर दिया है। ये सभी महापुरुष सिद्धान्त में जीव और ब्रह्म को अभेद मानते हुए भी भक्ति के पक्षपाती हैं। ये सभी इस बात को स्वीकार करते हैं कि यह दृश्य जगत् नाशवान् तथा मिथ्या है। सत्य पदार्थ केवल एक ब्रह्म ही है, इतना सब होने पर भी यह जगत् हमें सत्य सा ही प्रतीत होता है और इसे सत्य मानकर ही हम बर्ताव भी करते

हैं। यदि हमें यह दृढ़ निश्चय हो जाय कि यह जगत का सभी प्रपंच मिथ्या है, तब तो फिर कोई कार्य्य ही न हो। परन्तु ऐसा निश्चय सहज ही में नही हो जाता। इसके लिए बड़े बड़े प्रयत्न करने पड़ते है। जब तक हमे संसार का मिथ्यात्व पूरी तरह से अनुभव नही होता, तब तक हमे अपने से प्रथक् एक सत्ता स्वीकार करनी ही हागी और उसी सत्ता के सम्मुख हमे नतमस्तक होकर दीनता के साथ "दासोऽहं दासोऽहं" इस प्रकार की रट लगानी होगी। उसकी ही कृपा से जब हम इस माया का असली भेद जान जायँगे तब हमारा 'दा' भाव छूट जायगा। केवल 'सोऽहं सोऽहं' ही शेष रह जायगा। सोऽहं सोऽहं मुँह से कहा नही जाता कहने की चीज़ तो 'दासोऽहं दासोऽह' ही है। सोऽहं भाव अनुभव गम्य है। या दूसरे शब्दो मे यो कह लीजिये कि स्वरूप ज्ञान होने पर तो कुछ कर्तव्य शेष रह ही नहीं जाता। यदि कोई पदार्थ कर्तव्य कहा जा सकता है, तो वह यही है कि अनन्यभाव से भगवान् की भक्ति करना। प्रभु प्राप्ति का अनन्य भक्ति के अतिरिक्त और कोई दूसरा उत्तम उपाय है ही नही। भगवान् भी गीता मे इसी बात का उपदेश करते है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरित्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते माया मेतां तरन्तिते॥

"मेरी यह गुणमयी और दिव्यमाया अति दुस्तर है। अतः इस माया को वे ही लोग पार कर सकते है जो एक मात्र मेरी

ही शरण में आते है।" इन सभी सन्तों ने मनुष्यों को भगवान् की शरण में ही जाने का उपदेश दिया है। रही सत्ता की साकार और निराकार की बात सो जिसकी जैसी श्रद्धा हो माने। भगवान् के दोनों ही विभव है। दोनों ही भावों के द्वारा दिव्य भाव—जो इन दोनो से परे है—को प्राप्त कर सकता है। हम जहाँ तक समझ सकें हैं, इन महात्माओ के उपदेशों का सार यही है। व्यवहार मे यही सिद्धान्त बर्ता भी जा सकता है। सौभाग्य का विषय है कि वर्तमान् युग प्रवर्त्तक, परमभागवत महात्मा गान्धीजी भी इसी मत के पक्षपाती है। महात्माजी के व्यावहारिक और पारमार्थिक विचारो को इस ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग मे दिग्दर्शन कराने का विचार है। देखें सर्वनियन्ता इस काम में नियुक्त करते है या नहीं। यह बात हम पहले ही बता चुके है कि भक्तों के भी दो प्रकार होते हैं। एक तो वे जिन का अन्त मे अहंभाव बिलकुल छूट जाता है और दूसरे वे प्रेमी भक्त होते है, जिनका अन्त तक थोडा बहुत दास भाव बना रहता है। इस भाग में विचारवान भक्तों के ही सम्बन्ध मे लिखा गया है। प्रेम तथा प्रेमी भक्तो के सम्बन्ध मे इस ग्रन्थ के दूसरे भाग मे देखिये। दूसरे भाग में, निम्नलिखित प्रेमी भक्तों के चरित है। चैतन्य महाप्रभु, रूप, सनातन, जीव, गोपाल भट्ट, रघुनाथ भट्ट, रघुनाथ दास, सूरदास, हितहरिबंस, हरिदास स्वामी, रामप्रसाद, नंददास, मीराबाई, नरसीमेहता, तुकाराम, रसखान, नागरी-

दास, सहजोबाई, दयाबाई, (परमहंस) रामकृष्णदेव, जगद्बन्धु।

वक्तव्य कुछ अधिक बडा होगया। अपनी तो इतनी सब लिखने की इच्छा भी नहीं थी, किन्तु हमारी अपनी इच्छा से होता ही क्या है? "केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियोक्तोऽस्मि तथा करोमि।" ससार के सभी कार्य्य उन्हीं की इच्छा से हो रहे है। मनुष्य अहंकार करने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता है?

अन्त में "आदावन्ते च मध्ये च हरिःसर्वत्र गीयते" इस सिद्धान्त के अनुसार उस परमपिता परमात्मा को स्मरण करते हुए हम अपने इस भानुमती के पिटारे को बन्द करते हैं।

ॐ सहनाववतु सहनौभुनक्तु सहवीर्य्यं करवावहै।
तेजस्विना वधीतमस्तु, मा विद्विषावहै॥
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

हंस-तीर्थ, भूसी
(प्रयाग)
वैशाख–शु० १२–१९८५

ब्रह्मचारी प्रभुदत्त शर्म्मा



कृतज्ञता-प्रकाश

इस पुस्तक के लिखने में जिन जिन पुस्तकों से सहायता ली है उनके नाम, उनके लेखक और प्रकाशकों के सहित कृतज्ञता-पूर्वक यहाँ प्रकाशित किये जाते है। जिन महानुभावों के द्वारा मुझे ये पुस्तकें प्राप्त हुई हैं उनका भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ। पुस्तक के सामने उन महानुभावो का नाम भी सधन्यवाद प्रकाशित कर दिया गया है।

—लेखक

नं०	पुस्तक का नाम	लेखक और प्रकाशक	किनके द्वारा प्राप्त हुई।
१	तुलसी ग्रन्थावली	पं० रामचन्द्र शुक्ल, लाला भगवानदीन, श्री श्यामसुन्दरदासजी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित।	श्री० प० अवध उपाध्यायजी
२	संतवानी संग्रह	प्रयाग के बेलवेडियर प्रेस द्वारा प्रकाशित	”
३	सुजान रसखानि	गोस्वामी किशोरीलालजी, भारतजीवन प्रेस, काशी द्वारा	”
४	परमहंस रामकृष्ण देव और उनके उपदेश	श्रीस्वामी विज्ञानानन्दजी, काशी से	”
५	ब्रज-माधुरी-सार	श्री वियोगीहरि, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग द्वारा	चतुर्वेदी श्री० पं० द्वारिका-प्रसादजी शर्म्मा
६	हिन्दी-नवरत्न	श्री मिश्रबन्धु, गंगा पुस्तकमाला लखनऊ द्वारा	”
७	आदर्श महात्मागण २ भाग	चतुर्वेदी द्वारिकाप्रसाद शर्म्मा, नेशनल प्रेस प्रयाग	”
८	भारतीय उपाख्यान माला	” ”	”
९	पौराणिक उपाख्यान माला	” ”	”
१०	कविता कौमुदी	श्री० प० रामनरेश त्रिपाठी, हिन्दी मंदिर प्रयाग	ब्रह्मचारी इन्द्र, पं० श्रीधर पाठक
११	मिश्रबन्धु विनोद	श्री मिश्रबन्धु, गंगा पुस्तकमाला लखनऊ द्वारा	ब्रह्मचारी इन्द्रजी
१२	रामचन्द्रिका	गोस्वामी तुलसीदासजी,	हिन्दी विद्यापीठ के एक छात्र

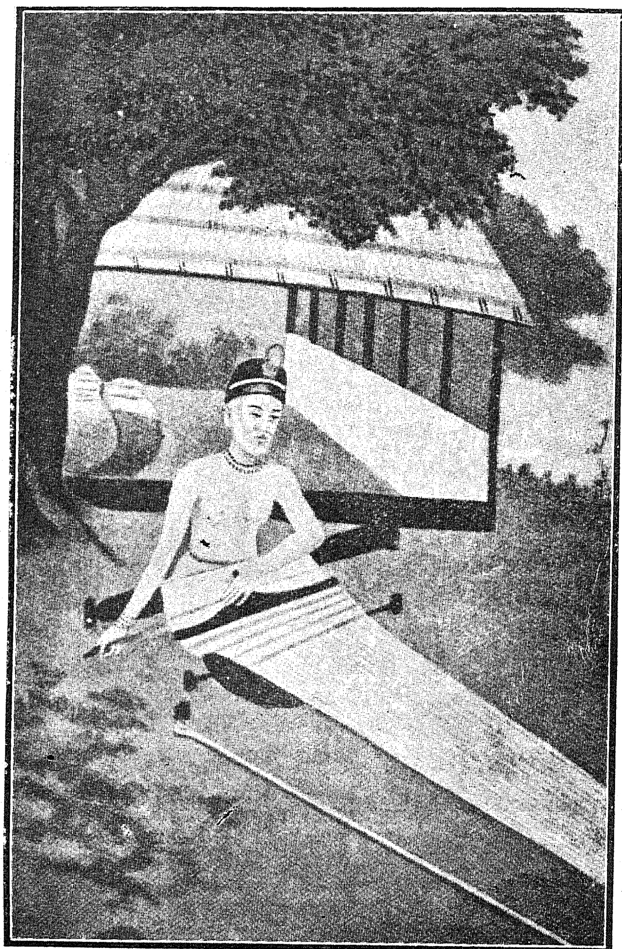
न०	पुस्तक का नाम	लेखक और प्रकाशक	किनके द्वारा प्राप्त हुई ।
१३	दासबोध	अनुवादक, श्री पं० माधवराव सप्रे, चित्रशाला प्रेस, पूना	श्री पं० रामपालजी शर्म्मा
१४	गीता रहस्य	लोकमान्य तिलक, श्रीरामचन्द्र तथा श्रीधर बलवन्त तिलक द्वारा नं० ५६८ नारायण पेठ, गायकवाड़ बाडा पूना सिटी	”
१५	कबीर वचनावली	प० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय, नागरी प्रचारिणी सभा काशी	श्री० प० सत्यवानजी शर्म्मा
१६	कबीर साहब का अनुभव सार	श्री स्वामी गोविन्दानन्दजी बेलगॉव द्वारा	श्री स्वामी महानन्दजी ।
१७	मिथ्यावाद विधूनन	वैष्णव सालिगराम बृन्दावन	महन्त भगवानदासजी वृन्दावन
१८	हित विनोदाक्षेपापनोद	”	”
१९	भक्तबोध	श्री स्वामी पानपदासजी कृत, श्रीस्वामी स्वरूपदासजी	श्री स्वामी स्वरूपदासजी कनखल
२०	पानपदासजी की बानी	”	”
२१	नवरत्नहंस गुटका	श्री स्वामी आत्महंसजी, हंस-तीर्थ झूँसी द्वारा	आत्महंस पुस्तकालय झूँसी
२२	केशवचन्द्रसेन	+	”
२३	योगवार्ता (बॅंगला)	+	”
२४	श्रीरामकृष्ण वाक्सुधा	चित्रशाला प्रेस पूना द्वारा	श्रीमुनिलालजीविद्यार्थी,खु०
२४अ	जीवन वेद	श्री केशवचन्द्र सेन, अनुवादक बसंतलाल कनखल	”

नं०	पुस्तक का नाम	लेखक और प्रकाशक	किनके द्वारा प्राप्त हुई।
५७	ज्ञानेश्वरी गीता	श्री० रघुनाथराव, इंडियन प्रेस प्रयाग	प्रो० रघुबरदयाल मिटठू-लाल शास्त्री प्रयाग
५८	सुरति शब्दकल्पद्रुम (उर्दू)	श्री० शिवव्रतलालजी, राधास्वामी धाम गोपीगञ्ज (काशी राज्य)	देवीप्रसादजी वकील प्रयाग
५९	प्रीतमदासनी वानी (गुजराती)	सस्तु साहित्य वर्धक कार्यालय, अहमदाबाद।	श्रीस्वामी ब्रह्मानन्दजी झूँसी।
६०	आश्रम भजनावली	नारायण मोरेश्वर खरे, सत्याग्रह आश्रम साबरमती (अहमदाबाद)	श्री पं० रामपालजी शर्म्मा
६१	सन्ध्या दर्पण	पं० देवीदत्त ज्योतिर्विद, नेशनल प्रेस प्रयाग	श्री० ब्र० इन्द्रजी
६२	दादूदयालकी बानी	बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग	श्री प० रामजीलाल शर्म्मा प्रयाग
६३	तुलसीकृत रामायण	द्वादसश्रेणी प्रेस, अलीगढ	श्री प० श्रीरामजी शर्म्मा गँवा।
६४	श्रीमद्भगवत्गीता	हिन्दी पुस्तक ऐजेन्सी, हरिसन रोड कलकत्ता	श्री पं० दुर्गाप्रसादजी शर्म्मा माँकरी
६५	महाप्रभु गौराङ्गदेव	श्री शिवनन्दनसहाय, खड्गविलास प्रेस बाँकीपुर	श्री शङ्करलालजी कानपुर

६६ इन पुस्तकों के अतिरिक्त "सरस्वती" "समन्वय" "कल्याण" "नागरी प्रचारिणी पत्रिका" आदि मासिक पत्र पत्रिकाओं की पिछली प्रतियों से भी सहायता ली गई है। अतः उक्त पत्र पत्रिकाओं के लेखक और सम्पादकों के प्रति भी हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

—लेखक

भक्त-चरितावली



महात्मा कबीरदास

मंगलाचरण

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्,
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्,
कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

महात्मा कबीरदासजी

संसार में जब अशान्ति अधिक बढ़ जाती है, जब लोग संसारी विषयों को अपना अन्तिम लक्ष्य समझकर उनकी ही प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते रहने के कारण लुब्ध हो जाते हैं, जब लोगों का आध्यात्मिक भाव कम हो जाता है, और आधिभौतिक भाव की वृद्धि हो जाती है, जब लोग अपने शुद्ध स्वरूप को भूलकर इधर-उधर मारे मारे भटकते फिरते है, तब संसार में शान्ति स्थापन करने के निमित्त, आध्यात्मिक भावों की अभिवृद्धि करने के लिए, लोगों को अपने असली स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए महान् आत्माएँ संसार में आती हैं। वे अपने त्यागमय जीवन के द्वारा लोगों को उच्चादर्श की शिक्षा देकर फिर अपने सद्स्वरूप में लय हो जाया करती है।

पाँच सौ वर्ष से कुछ अधिक समय हुआ होगा कि बारा-णसी का नीमा नामक एक जुलाहा अपनी स्त्री के साथ कही से आ रहा था। जब वह काशी के पास लहरतारा नामक तालाब के पास पहुँचा, तब वहाँ उसने एक अद्भुत दृश्य देखा। उसने वहाँ देखा कि तालाब मे भाँति भाँति के कमल खिल रहे है। समय बड़ा ही सुहावना हो रहा है, तालाब मे से लहरें उठ उठ कर किनारे तक सीधी सीधी चली आ रही है। तालाब के निकट ही एक नवजात शिशु पड़ा क्रीड़ा कर रहा है। उसका चेहरा तेज के कारण देदीप्यमान हो रहा है। बालक के मुख पर एक अपूर्व आभा थी।

वंश-परिचय और जन्म

नीमा की स्त्री का नाम नीरू था। नीरू के कोई सन्तान नही थी। वह बच्चे के भोले-भाले मुख को देख कर उसके ऊपर लट्टू हो गई। उसने इसे भगवान की देन समझी। पति की अनिच्छा होने पर भी नीरू ने बच्चे को उठा लिया, उसे छाती से चिपटाकर प्यार किया, उसका मुँह चूमा और उसे अपने घर ले जाकर अपने सगे पुत्र की भाँति उसका पालन-पोषण किया। समय पाकर वही बालक संसार में 'कबीर' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

लहरतारा तालाब पर बालक कहाँ से आया, इस सम्बन्ध मे जैसी जिसकी भावना है वह वैसा ही अनुमान लगाता है। जो लोग कबीर साहब को साक्षात् ईश्वर या साहब का स्वरूप

समझते है, उनका तो यह विश्वास है कि जब साहब की मर्ज़ी हुई, और जीवो को बन्धन से छुड़ाने की इच्छा हुई, तब, वे, स्वयं सत् लोक से उतर कर लहरतारा तालाब के समीप आकर क्रीड़ा करने लगे। दैव संयोग से नीमा और नीरू भी उस समय वहाँ पहुँच गये। साहब की इच्छा थी, सौभाग्य-वती नीरू का पुण्योदय हुआ। उन्होंने नीरू को अपनी माता और भाग्यवान् नीमा को अपना पिता स्वीकार किया।

जो लोग धर्मभीरु, आस्तिक है उनका कथन कुछ और ही है। उनका कहना है, कि एक दिन एक विधवा ब्राह्मणी युवती ने स्वामी रामानन्दजी को प्रणाम किया। स्वामीजी ने आशीर्वाद दिया—"पुत्रवती हो।"

विधवा इन शब्दों को सुनकर भयभीत हो गई। उसने विनयपूर्वक स्वामीजी से निवेदन किया—"भगवन्, मै तो विधवा हूँ। आपने मुझे पुत्रवती होने का विचित्र आशीर्वाद कैसे दिया?" स्वामीजी ने कहा—"हमारा वचन तो अन्यथा नही हो सकता, परन्तु हाँ, तुम्हारे गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा वह संसार में एक अद्वितीय महापुरुष होगा और तुम्हें कोई लांछन भी नहीं लगावेगा।" स्वामीजी इतना कह कर चले गये।

कालान्तर मे उस विधवा के उदर से एक बालक का जन्म हुआ। किन्तु वह विधवा समाज के भय के कारण भयभीत हो गई और बच्चे को लहरतारा के तालाब पर जाकर लिटा आई।

जो लोग साधारण सांसारिक घटनाओं को ही सत्य मानते हैं वे उपर्युक्त कथा से स्वामी रामानन्द जी के आशीर्वाद वाली बात को निकाल देते है। और उसके स्थान में उस विधवा का किसी से अनुचित सम्बन्ध मानते है। कुछ भी क्यों न हो, अपनी अपनी भावना के अनुसार लोग अनुमान लगाते हैं। इनमें से पाठक जिस भावना के हों उसे ही सत्य मानलें। हमें इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहना है।

धीरे धीरे कबीर साहब बड़े हुए। एक बड़ी प्रसिद्ध कहावत है—"होनहार बिरवान के, होत चीकने पात।"

बाल्यकाल

कबीर साहब के सम्बन्ध में भी यह कहावत यथार्थ उतरी। इनका बचपन से ही भगवत्-भजन में अनुराग था। अन्य साधारण बच्चे जिस अवस्था में मिट्टी के खिलौनों से खेलते तथा मिठाई और घी दूध के लिए रोते हैं, कबीर साहब उसी अवस्था में एकान्त में बैठ कर इस विश्व की रचना के सम्बन्ध में ऊहापोह करते रहते थे। बालकपन से ही ये एकान्त प्रिय थे।

नीमा एक साधारण सा जुलाहा रहा होगा। बेचारा कबीर साहब को पढ़ा-लिखा तो सकता ही न था। उसे नित्य-प्रति भोजन के लिए ही चिन्ता पड़ी रहती होगी, ऐसी दशा में उसके दिमाग़ में भी कबीर साहब के पढ़ाने का विचार न उठा होगा। यही कारण है कि कबीर साहब किताबी विद्या से छूँछे ही रहे। परन्तु किताबी विद्या ही विद्या थोड़े ही है।

जिसमें आभा नहीं, भावुकता नहीं, कार्य करने की शक्ति नहीं वह पुस्तकें पढ़ने पर भी मूर्ख ही बना रहेगा। इन दैवी शक्तियों के बिना कोरी किताबो विद्या से काम नहीं चलता कहा भो है।

"शास्त्राण्यधोत्यापि भवन्ति मूर्खाः यस्तु क्रियावान् पुरुष. स विद्वान्"

कबीर साहब ने शास्त्र नहीं पढ़े थे, किन्तु वे क्रियावान् अवश्य थे।

वैराग्य और तप

वैराग्य सिखाया नही जाता। वह तो अपने आप ही हृदय में से उठता है। कबीर साहब को भी जन्म से ही इस संसार से वैराग्य और परमात्मा से अनुराग था। वे जुलाहे के घर में पले थे, उन पर मुसलमानी रहन सहन, आचार व्यवहार का अधिक प्रभाव पडना चाहिए था, किन्तु वे असाधारण पुरुष थे, अतः उन पर मुसलमानी रीति-रिवाज़ का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। वे हिन्दुओ की भाँति कंठी माला धारण करत, तिलक लगाते और "राम राम" का जाप करते। जब लोगो ने उन्हें निगुरा कहना आरम्भ किया, तब उन्हें गुरु बनाने की चिन्ता पड़ी।

उन दिनों काशी मे श्रीस्वामी रामानन्दजी महाराज बड़े ही प्रसिद्ध महात्मा गंगाजी के तट पर निवास करते थे। रामानुजीय संप्रदाय में द्विज मात्र को सम्मिलित होने का अधिकार है। इस सम्प्रदाय में छूआ छूत, सखरे निखरे और पंक्ति-भेद का बड़ा विचार माना जाता है। अन्य सम्प्रदाय के मनुष्य के

हाथ का भोजन करना तो दूर रहा, वे जल तक ग्रहण नहीं करते ।

स्वामी रामानन्दजी जिनके शिष्य थे, उनके १० शिष्य और थे। उन सब में ये ही मेधावी, होनहार और प्रत्युत्पन्नमति के थे। गुरु को ऐसे शिष्य के ऊपर अधिक कृपा होना स्वाभाविक ही थी। इस बात से इनके अन्य गुरु भाई मन ही मन इनसे कुछ द्वेष रखते थे। एक बार ये देशाटन करने बाहर गये और मद्रास, बंगाल आदि देशो में भ्रमण करते हुए बहुत दिन मे लौटे। इनके गुरु भाइयो को यह अच्छा अवसर मिला, उन्होने इन पर यह लांछन लगाया कि इनका भ्रमण मे खान-पान कभी भी ठीक नही रहा होगा । उन्होने ने साफ़ कह दिया—"उन देशो में यह सम्प्रदाय की रीति के अनुसार चौका की शुचिता का पालन कर ही नही सके होंगे, अतः हम इन्हे अपनी पंक्ति मे बिठाकर भोजन नही करा सकते।"

गुरुजी को तथा इनको उन लोगो की बात से बहुत दुःख हुआ। गुरुजी तो जानते हो थे कि हमारा यही एक शिष्य है, जो संसार मे कुछ कर दिखावेगा और हमारा मुख उज्वल करेगा। बाकी ये सब तो चौका चूल्हे का राग अलापते अलापते ही चल बसेंगे। इनके किये कुछ नही होगा। गुरुजी ने रामानन्द जी को छाती से लगाया और कहा—"जाओ बेटा, तुम अपना नया सम्प्रदाय स्थापित करो।" तभी से स्वामीजी ने

रामानुजीय संप्रदाय के अंतरर्गत रामानंदी संप्रदाय की नींव डाली। आज कल रामानंदी सम्प्रदाय का बड़ा प्रचार है। अब उसमें भी बहुत सी नई नई शाखायें हो गई है।

रामानुजीय संप्रदाय में द्विजों को छोड कर शूद्र आदि इतर जाति के मनुष्य सम्मिलित नही हो सकते थे, किन्तु रामानन्दजी ने अपनी सम्प्रदाय का शूद्रों के लिए भी दरवाज़ा खोल दिया। उन्होंने अपना "जाति पाँति पूछे ना कोय, हरिको भजे सो हरिका होय"—इसे ही मूल सिद्धान्त बनाया और शूद्रों को भी बिना किसी रुकावट के अपने संप्रदाय में सम्मिलित किया। उनके बहुत से शूद्र जाति के शिष्य थे, उनमें रैदास आदि १२ शिष्य मुख्य थे। कबीर साहब ने भी इन्हें ही अपना गुरु बनाया। वे स्वयं कहते हैं—

भक्ती लापर ऊपजी, लाये रामानंद।
परगट करी कबीर ने, सात दीप नौ खंड॥

चौरासी अंग की साखी

काशी में कीरति सुनि आई, कबीर मोहि कथा बुझाई।
गुरु रामानंद चरण कमल पर धोविन दीनी बार॥

कबीर कसौटी।

रामानन्दजी के शिष्य होने की बात को लोग कई प्रकार से कहते हैं। कबीरपंथियों का तो कहना है, उन्हें गुरु करने की कोई आवश्यकता ही न थी, लोक-शिक्षा के हेतु उन्होंने

झूठ मूठ रामानन्दजी को गुरु मान लिया था, उनसे मंत्र आदि उन्होंने नहीं लिया।

भक्तमाल मे लिखा है, कबीर साहब को आकाशबानी हुई कि रामानन्दजी को गुरु धारण करो और "राम राम" महा मंत्र का जाप करो। कबीर साहब के यह कहने पर कि रामानन्दजी तो मुसलमान की परछाँई तक नहीं पड़ने देते, वे भला मुझे शिष्य क्यो बनाने लगे ? स्वयं भगवान् ने ही उन्हें युक्ति बताई।

दूसरे दिन वे प्रातःकाल चार बजे से पूर्व ही गंगाजी की सीढ़ियों पर जा लेटे। स्वामी रामानन्दजी नित्य चार बजे ब्राह्म मुहूर्त मे गंगा स्नान करने जाया करते थे, जब वे स्नान करके लौटे तब सीढ़ियों पर लेटे हुए कबीर साहब के ऊपर उनका पैर पड़ गया। जब पैर के नीचे उन्हें कुछ गुदगुदी सी वस्तु मालूम हुई और कबीर साहब कुलबुलाये तब उन्होंने हरे राम राम कह कर अपना पैर हटा लिया और चले गये। उसी दिन से कबीर साहब अपने को रामानन्दजी का शिष्य कहने लगे। लोगों ने जाकर रामानन्दजी से कहा—"महाराज आपने जुलाहे को भी अपना शिष्य बनाया है ?" स्वामीजी ने जवाब दिया—"भाई, हमने तो उसे शिष्य बनाया नहीं है।" लोगों ने कहा—"महाराज, वह तो शहर भर में यही कहता फिरता है कि मै स्वामी रामानन्दजी का शिष्य हूँ।"

दूसरे दिन स्वामीजीने कबीर साहब को बुलाकर पूछा—"क्यों भाई, मैने तुम्हें कब शिष्य बनाया ? और कब

मन्त्रोपदेश किया ? कबीर साहब ने जवाब दिया—"गुरुदेव, अन्य लोगों के तो आप कान में ही मन्त्रोपदेश करते होगे। मुझे तो आपने मस्तक पर पैर रखकर मन्त्रोपदेश दिया था।" पूरा वृत्तान्त सुनकर गुरुजी उनकी अगाध निष्ठा और अविरल भक्ति देखकर बड़े प्रसन्न हुए। बीच में जो पर्दा पड़ा था, वह हट गया और रामानन्दजी ने बड़े स्नेह से अपने प्रिय शिष्य को छाती से चिपटा लिया और आशीर्वाद दिया कि कबीर, तू संसार का बड़ा भारी उपकार करेगा और मेरा मुख भी उज्वल करेगा। उसी दिन से कबीर साहब "राम नाम" महा मंत्र का जाप करने लगे और हर समय परमात्मा के ही प्रेम मग्न रहने लगे।

पारिवारिक जीवन

इनका विवाह लोई नाम की एक स्त्री से हुआ था एक दिन कबीर साहब साधु महात्माओं दर्शन करते हुए बनखंडी वैरागी के स्थान पर पहुँचे। वहाँ वैरागी जी की प्रतिपालिता षोड़श वर्षीय एक युवती ने उनका स्वागत किया और अतिथि सत्कार के निमित्त उसने एक पात्र मे दूध लाकर कबीर साहब के सामने रक्खा। वहाँ पाँच साधु और आगये थे, अतः वह दूध साधुओं के सम्मुख रक्खा गया। साधुओं ने उसके ७ भाग किये। पाँच तो स्वयं ले लिये और एक भाग कबीर साहब को और एक उस युवती को दिया। अन्य साधु-लोग दूध को पीने लगे, परन्तु कबीर साहब ने उसे

ज्यों का त्यों ही पृथ्वी पर रख दिया। उस युवती ने पूछा—"आपने दूध को ग्रहण क्यों नहीं किया, उसे ज्यों का त्यों ही रख क्यो दिया?" कबीर साहब ने जवाब दिया—"गंगाजी के पार से एक महात्मा और आ रहे है, मैने उन्ही के लिए यह दूध रख छोड़ा है।"

युवती यह सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई। वह कबीर के गुणों से मुग्ध हो गई और उन्ही के साथ चली आई। उसी युवती का नाम लोई था। कबीर साहब ने उसीसे विवाह कर लिया।

कबीर साहब जैसे भक्त और आदर्श चरित्रवान् पुरुष थे, लोई भी वैसी ही पतिभक्ति-परायणा और आदर्श महिला थी। वह पति की प्रसन्नता के निमित्त सब कुछ करने को तैयार रहती थी। कबीर साहब को ही वह अपना सर्बस्व समझती थी। उसके गर्भ से कमाल और कमाली नाम की दो संतानें हुई थी।

कबीर पन्थ के कुछ महानुभावों का विचार है कि कबीर साहब आजन्म अविवाहित रहे, उन्होंने विवाह किया ही नहीं। शायद वे इस कारण अनुमान करते हों कि कबीर साहब ने नारी की निन्दा की है। यथा—

रंचक लावन के फिरै, अंधा हाथ भुवंग।
कबिरा तिनकी कौन गति, नित नारी सो रंग॥
छोटी मोटी कामिनी, सबही बिषकी बेल।
बैरी मारे दाव दै, यह मारै हँसि खेल॥

परनारी कै आपनी, दोनों बुरी बलाय।
घर बाहर की आग ज्यों, देवै हाथ जलाय॥
नारि नसावै तीन गुन, जो नर पासे होय।
भक्ति मुक्ति निज ध्यान मे, पैठि सकै नहिं कोय॥

इन्ही सब वचनो से वे कबीर साहब को आजन्म ब्रह्मचारी सिद्ध करते हैं। लोई और कमाल कमाली से उनका सम्बन्ध होना तो मानते हैं, किन्तु उन्हें उनकी स्त्री तथा सन्तान नहीं मानते। उनका कहना है कि लोई नाम की एक स्त्री तो उनके पास आजन्म अवश्य रही, किन्तु उससे उन्होंने शादी नही की। इसी प्रकार कमाल कमाली ये दोनों अनाथ बालक थे और छुटपन से इनके ही पास रहे। उनका भरण-पोषण कबीर साहब ने किया।

अन्य सभी लोग उन्हें विवाहित ही मानते हैं। इसके प्रमाण में वे कबीर साहब के इस दोहे को उद्धृत करते हैं—

नारी तो हम भी करी, जाना नाहिं विचार।
जब जाना तब परिहरी, नारी बड़ा विकार॥

इस वाक्य से वे कबीर साहब को विवाहित सिद्ध करते हैं। परन्तु यह तो सुनने में नही आया कि उन्होंने लोई को कभी अपने घर से निकाल दिया हो। इस दोहे का दूसरा भी अर्थ हो सकता है। अक्सर कबीर साहब माया को ठगिनी, धोबिनि, आदि नामों से ही पुकारते हैं। वे पहले से ही ज्ञानी थे। यह बात तो असंगत जान पड़ती है कि उन्होंने अज्ञानावस्था में विवाह किया हो। इसी प्रकार नारी-निन्दा में जो वचन

कहे है, उनसे भी यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि वे मनुष्य मात्र को विवाह न करने का आदेश देते है। विषय से वहिर्मुख करना ही उन वचनों का उद्दश्य है। कुछ भी क्यों न हो, यह बात तो मानी हुई है कि कबीर साहब के परिवार था, फिर चाहे वह अपना हो अथवा पराया।

कमाल इनके पुत्र थे अथवा पौष्य पुत्र, इस विषय में हमे कुछ भी वाद-विवाद नही करना है। यह तो प्रसिद्ध बात है कि कमाल कबीर साहब के पुत्र थे। कबीर साहब ने स्वयं कहा है—

बूड़ा बंस कबीर का उपजे पूत कमाल।
हरिका सुमिरन छोड़ि के, घर ले आया माल॥

भगवान जाने, यह कबीर साहब का वाक्य है, अथवा किसी अन्य का। वैसे कमाल बड़े ज्ञानी हुए हैं। उन्होंने विवाह नही किया। उनके दो चार पद हमने सुने है, बड़े वैराग्य और भक्ति में पगे हुए हैं देखिये—'रूखा सूखा राम का टुकड़ा, मीठा और सलौना क्या? कहै "कमाल" प्रेम के मारग, शीश दिया फिर रोना क्या?" कितना ऊँचा भाव है। उपर्युक्त बात कबीर साहब ने, संभव है इसलिए कही हो कि जैसा वे चाहते थे कमालजी, वैसे न हो सके।

कबीर साहब संत थे, उनकी काशी में ही नहीं, देश भर में प्रतिष्ठा थी। दूर दूर से लोग उन के दर्शनों को आते थे, किन्तु उन्होंने अपना पैतृक धन्धा नही छोड़ा। वे बहुत समय तक

योग क्षेम के निमित्त वृत्ति

अपने बुनने के व्यवसाय से ही अपनी आजीविका चलाते रहे। यद्यपि वे शरीर से बुनने का काम करते थे, किन्तु मन सदा भगवान में ही लगा रहता था। बुनने की बात को उन्होंने कई स्थानों पर स्वयं स्वीकार किया है। उनका एक पद सुनिये—

मुसि मुसि रोवै कबीर की माय,
ए बालक कैसे जीवहिं रघुराय।
तनना बुनना सब तज्यो है कबीर,
हरिका नाम लिखि लियो शरीर।
जब लग तागा बाहउँ बेही,
तब लग बिसरै राम सनेही।
ओछी मति मेरी जाति जोलाहा,
हरिका नाम लह्यो मै लाहा।
कहत कबीर सुनहु मेरी माई,
हमरा इनका दाता एक रघुराई।
(आदि ग्रंथ)

अन्य सब कामों की अपेक्षा बुनने का ही काम इन्हें अधिक सात्विक प्रतीत हुआ होगा। ठीक भी है "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।" एक दूसरी जगह भी कबीर साहब कहते है—"माई, मेरे कौन बिनैगो ताना"।

जो लोग असाधारण पुरुष होते है, उन्हें स्वाभाविक ही सब प्रकार के ज्ञानार्जन की इच्छा होती है। वे सर्वदा ज्ञान-प्राप्ति के लिए उद्योगशील

यात्रा और भ्रमण

बने रहते है। संसार मे कौन दुःखी है, किसे किस बात की इच्छा है, बलवान् लोग निर्बलो पर किस प्रकार के अत्याचार करते है, धर्माध्यक्षों की कैसी दशा है, लोग धर्म्म के तत्व को समझ कर कार्य करते हैं, अथवा रूढ़ियों के गुलाम होकर लकीर के फ़क़ीर ही बने हुए है, तीर्थों की कैसी हालत है, इन सब बातों के जानने की उन्हें स्वाभाविक ही उत्कट इच्छा होती है। इसीलिए वे देश विदेश मारे मारे फिरते हैं, तीर्थों मे जाते है, मठ मंदिरों को देखते है और अच्छे अच्छे लोगों से मिलते है।

कबीर साहब भी लौकिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए देश देश मे घूमते रहे। हिन्दुओं के प्रायः सभी तीर्थों में वे गये। मुसलमानो के बलख़, बुख़ारे को भी जाकर देखा। इस भ्रमण के कारण उनका लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार का ज्ञान बढ़ा। दूसरे देशों में जाकर कबीर साहब ने कई प्रकार के चमत्कार भी दिखाये, जिन्हें देखकर वहाँ के सभी लोग दंग रह गये।

कबीर साहब के सम्बन्ध में कुछ किंबदन्तियाँ

कबीर साहब के सम्बन्ध में बहुत सी किंबदन्तियाँ भी प्रसिद्ध हैं। उनमें कितनी यथार्थ हैं और कितनी गढ़ी हुई है,

इसका ठीक ठीक अनुमान नही किया जा सकता। कुछ भी क्यों न हो बहुत सी किबदन्तियाँ तो बड़ी ही रोचक और शिक्षाप्रद है। फिर चाहे वे किसी की गढ़ी हुई ही क्यों न हो, सत्पुरुष उनसे बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। अतः हम उनमें से थोड़ी सी किबदन्तियों का यहाँ उल्लेख करते हैं।

(१)

एक दिन एक आदमी कबीर साहब से मिलने आया। उस समय कबीर साहब श्मशान में किसी मुर्दे के साथ गये हुए थे। उनकी स्त्री ने आगत पुरुष से कह दिया—"वे तो श्मशान मे गये है, आपको बहुत जरूरी काम हो तो वही जाकर मिल ले।" उस पुरुष ने पूछा—"मै तो कबीर साहब को पहचानता नही। मुझे यह कैसे मालूम होगा कि ये ही कबीर साहब है।" उनकी स्त्री ने जवाब दिया—"जब तुम श्मशान मे जाओगे तो वहाँ जितने भी पुरुष होंगे, उनके मस्तक के ऊपर एक ज्योति सी दीखेगी। थोड़ी देर तुम वहाँ बैठना। धीरे धीरे सब की ज्योति क्षीण हो जायगी, जिसकी ज्योति क्षीण न हो, बस समझ लेना कि ये ही कबीर साहब है।"

यह सुनकर वह आदमी चला गया। वहाँ जाकर उसने देखा, सचमुच मे सब के मस्तको से ज्योति निकल रही है। थोड़ी देर में धीरे धीरे सब की ज्योति क्षीण हो गई। जिस आदमी की ज्योति क्षीण नहीं हुई थी, उसीके पास जाकर

उस पुरुष ने प्रणाम किया। कुशल-प्रश्न के अनन्तर कबीर साहब ने उससे पूछा—"भाई, तुमने हमें पहचाना किस प्रकार ?" उसने सब वृत्तान्त बताया और इस बात का रहस्य जानना चाहा। तब कबीर साहब ने बताया—"भाई, श्मशान में, मैथुन के अन्त में, विपत्ति मे और अत्यंत घाटे में सबको वैराग्य होता है। यह ज्योति वैराग्य की ही थी, किन्तु सब पुरुषों का यह वैराग्य स्थायी नही होता, क्षण भर में वे उसे भूलकर फिर संसारी बातें सोचने लगते हैं। इसीलिए इनकी ज्योति भी स्थायी नहीं रही। और हमारी बात तो भैया, ऐसी है कि हम तो सर्वदा उसी में ग़र्क रहते हैं।

बैठे ठाले रहे उताने, कहैं कबीर हम उसी ठिकाने।

हम तो श्मशान में और घर में कहीं भी रहें लौ वहीं लगी रहती है, इसीसे हमारी ज्योति क्षीण नहीं होती। वह पुरुष उनकी यह बात सुनकर उनके पैरों पर पड़ गया।

(२)

उन दिनों इस देश में सिकन्दर लोदी राज्य करता था। जब उसके कानो तक इनकी शिकायत पहुँची, तब उसने इन्हें बुलाया और इनसे पूछा—"तुम नमाज़, रोजा, ईद, बकरीद आदि बातों का क्यों खंडन करते हो ?" इस पर इन्होंने कहा—"एक सतनाम के सिवाय यह सब व्यर्थ का ढकोसला है।" यह सुन कर बादशाह ने इन्हें ज़ंजीरों से बँधवाकर गंगाजी में फिकवा दिया, परन्तु ये डूबे नहीं। यह देखकर उसने इन्हें

जलती हुई अग्नि में डलवाया, परन्तु वहाँ न जले। फिर उसने उनके ऊपर मदोन्मत्त हाथी छुड़वाये। हाथी इन्हें देख कर डर कर भाग गया। तब बादशाह ने इन्हें छोड़ दिया।

(३)

एक दिन बादशाह ने इनसे मस्जिद में नमाज़ पढ़ने को कहा। किन्तु ये खड़े ही रहे। नमाज़ ख़तम होने पर लोगो ने पूछा—"आप खड़े ही क्यों रहे ? तब इन्होंने जवाब दिया—"जिस मुल्ला के पीछे तुम लोग नमाज पढ़ रहे थे वह स्वयं ही अपने घर की बातें सोच रहा था। बादशाह अपनी घोड़ी के बच्चे की चिन्ता कर रहे थे। यथार्थ में बातें दोनों ही ठीक थी। बादशाह यह सुनकर बड़ा लज्जित हुआ।

(४)

एक दिन बादशाह ने इन्हें बुलाया। इन्होने बुलानेवाले से कह दिया—"जाओ कह देना फ़ुरसत नहीं।" दुबारा भी ऐसे ही कहला दिया। तब बादशाह ने आज्ञा दी कि अच्छा उसे ज़बरदस्ती पकड लाओ। नौकर इन्हें ज़बरदस्ती पकड़ कर बादशाह के पास ले गये। बादशाह ने उस नौकर से, जो दो बार इनके पास गया था, पूछा—"तुम गये थे, तब ये क्या कर रहे थे ?" उसने जवाब दिया—"मैंने तो इन्हें दोनों बार ख़ाली बैठे ही देखा था, कुछ भी नही कर रहे थे।"

बादशाह ने कबोर साहब से कहा—"तुमने यह बात झूठ क्यो कही कि हम काम कर रहे है। यह तो कहता है कि तुम कुछ भो नही कर रहे थे।" कबीर साहब ने जवाब दिया—"यह देख नहीं सकता था कि हम काम कर रहे है। असल में हम एक बड़े भारी काम में लगे थे।

बादशाह ने पूछा—"बताइये तो सही, वह कौन सा काम था?" कबीर साहब ने कहा—"हम एक बड़े आश्चर्य्य का तमाशा देख रहे थे। एक बहुत ही छोटे से छिद्र में हाथी, घोड़ा, वन, पर्वत, वृक्ष, तालाब, नदियाँ समुद्र घुसे जा रहे थे।

बादशाह ने कहा—कैसी बेसिर पैर की पागलों की सी बाते कर रहे हो। इसका ठोक ठीक मतलब बताओ कि असल में तुम देख क्या रहे थे? सो तो नही गये थे? कबीर साहब ने कहा—"अरे, इतनो सीदी सादी बात तुम्हारी समझ में नही आती और बादशाह बने हुए हो? आँख की पुतली ज़रा सी तो है ही, इसीमें से तो संसार की सभी चीजों को देखते हो। आँखें मीचलो, कही भी कुछ नही है।" यह सुनकर बादशाह बडा लज्जित हुआ।

(५)

एक दिन ब्राह्मणों ने आकर कबीर साहब को तंग किया कि हमें भी कुछ दक्षिणा दे नहीं तो तेरी ख़ैर नही हैं। कबीर साहब के पास रक्खा ही क्या था? वे चुपके से जंगलों में जा छिपे। इधर भगवान कबीर साहब का रूप धारण करके आये

और ब्राह्मणों को यथेष्ट दक्षिणा दी। ब्राह्मण लोग कबीर साहब का गुणानुवाद गाते हुए अपने अपने घरों को गये। तब भगवान् साधु का रूप धारण करके कबीर साहब के पास पहुँचे और उससे बोले—"यहाँ क्यों छिपा बैठा है, कबीर साहब के घर जा वह ब्राह्मण साधुओं को बड़े माल बाँट रहा है।" घर आकर उन्होंने देखा सचमुच उनके यहाँ से बहुत से साधु ब्राह्मण यथेष्ट द्रव्य पा पा कर उन्हें आशीर्वाद देते हुए जा रहे हैं। इस घटना से कबीर साहब की भक्ति और भी अधिक बढ़ गई और उनका नगर भर में यश फैल गया।

(६)

एक दिन कबीर साहब के यहाँ अकस्मात् ३०, ४० साधु आगये। भोजन दो ही तीन आदमियों के योग्य बना था। कबीर साहब ने कहा—"सब को परसो। उसी भोजन से सब साधुओं का पेट भर गया और उतना ही बच भी गया।

(७)

ब्राह्मण लोग कबीर साहब से स्वाभाविक ही ईर्ष्या करते थे। उन्हें अपमानित करने के लिए किसी ने कबीर साहब की ओर से बहुत से साधु और ब्राह्मणों को निमंत्रण दे दिया। सम्पूर्ण नगर में डोंडी करादी कि कबीर साहब के यहाँ भंडारा है। बहुत से लोग कबीर साहब के घर के सामने आजुटे। कबीर साहब बड़ी चिन्ता में पड़े कि अब किया क्या जाय। इतने ही में लाखा बञ्जारे की २०० बैलों से लदी हुई एक टोली

आई और कबीर साहब के यहाँ अनाज डालकर चली गई। कबीर साहब ने सब को ख़ूब अनाज बाँटा। सब लोग कबीर साहब की प्रशंसा करते हुए अपने अपने घर को चले गये।

(८)

एक दिन कबीर साहब के यहाँ साधु आ गये। उनके सत्कार के लिए उनके घर में कुछ भी नहीं था, तब तो वे बड़ी चिन्ता में फँसे। उन्होंने सब हाल अपनी स्त्री से कहा—स्त्री ने कहा—"अमुक सेठ का लड़का मुझे बहुत चाहता है, यदि मैं उससे रात्रि के आने का वादा कर आऊँ, तो वह मुझे यथेष्ट द्रव्य दे सकेगा। कबीर साहब ने कहा—"कैसे भी हो, साधु-सेवा होनी चाहिए।"

यह सुनकर उनकी स्त्री गई और रात्रि के आने का वादा करके सेठ के लड़के से कुछ द्रव्य ले आई। साधुओं को भोजन कराते कराते उसे रात्रि के ९-१० बज गये। उस दिन अँधेरी रात्रि थी, बड़े ज़ोरों से मेह बरस रहा था। बिजली चमक रही थी। परन्तु कबीर साहब को इस बात की चिन्ता लगी थी कि स्त्री का वादा कैसे पूरा हो। निदान उन्होंने एक बात सोची और अपनी स्त्री से बोले—"तू मेरे कंधे पर बैठ जा, मैं तुझे सेठ के घर तक पहुँचा आऊँ।" स्त्री ने ऐसा ही किया। कबीर साहब उसे लेकर सेठ के घर पहुँचे और उसे वहाँ उतार कर आप बाहर खड़े रहे।

उस साहूकार के लड़के ने जब देखा कि न तो इसके पैर

कीच में सने हैं, न यह भीगी है, तब उसने इससे इस बात का कारण पूछा। स्त्री ने सब बात बता दी। सुनकर साहूकार के लड़के को बड़ी लज्जा आई। उसने कबीर साहब की स्त्री से कहा—"तुम मेरी माता हो।" यह कहकर वह दौडा दौड़ा कबीर साहब के पास आया और उनके पैरों पर गिर कर कहने लगा—"भगवन्, आपने मुझ पापी को उपदेश देने के ही लिए यह सब कार्य्य किया है।" यह सुनकर कबीर साहब ने उसे उपदेश दिया। उस दिन से वह कबीर साहब में बहुत अधिक भक्ति रखने लगा।

(६)

कबीर साहब की जब नगर में बहुत प्रशंसा फैल गई और सभी लोग उनकी बहुत प्रतिष्ठा करने लगे, तब एक दिन वे एक वेश्या के गले में अपनी बाँह डालकर और एक शराब की बोतल में गंगाजल भर कर शहर भर में घूमे। इससे सभी लोग उनकी निन्दा करने लगे। राजा को जब यह बात मालूम हुई कि सब लोग कबीर साहब को झूठे ही द्वेषवश निन्दा करते हैं, तब वह लोगों को दंड देने लगा। कबीर साहब लोगों को दंड से बचाने के निमित्त एक दिन वेश्या के साथ हाथ में गंगाजल की शीशी लिये हुए स्वयं राजा के यहाँ पहुँचे। राजा ने उन्हें वेश्या के साथ देखकर उनका यथोचित आदर नहीं किया। इतने ही में कबीर साहब ने बोतल में से थोड़ा सा जल जमीन पर डाला। राजा ने इसका कारण पूछा। तब

कबीर साहब ने बताया कि जगन्नाथजी का रसोइया जल रहा था। उसकी ही अग्नि बुझाने को हमने यहाँ जल डाला है। राजा ने जब खबर मँगाई तब यथार्थ मे जगन्नाथ में उसी समय रसोइया जल रहा था। तब तो राजा को उनका प्रभाव मालूम पड़ा और वे उनके पैरों पर गिर गये।

(१०)

एक दिन एक अप्सरा कबीर साहब की परीक्षा लेने के लिए आई, किन्तु कबीर साहब पर उसका कुछ भी प्रभाव नही पड़ा और वह खिसिया कर चली गई।

इसी प्रकार और भी बहुत सी किंबदन्तियाँ कबीर साहब के सम्बन्ध में कही जाती है। ये सब घटनाएँ कबीर साहब पर घटी थी या नही, इस बात पर हमे विशेष ध्यान न देकर इनसे जो सदुपदेश मिलता है उसी पर ध्यान देना चाहिए।

व्यावहारिक विचार और उपदेश

असल में कबीर साहब ने संसारी लोगो के लिए नीति की दृष्टि से कुछ भी उपदेश नहीं दिया है। वे तो समझते थे कि मनुष्य का मुख्य कार्य्य है भगवत्-भजन। जिस पुरुष ने भगवान् में चित्त लगाया उसने ही जीवन का यथार्थ फल पाया। जो लोग भगवान् को छोड़ कर इधर उधर भटकते फिरते है, उन्हें कुछ भी हाथ नही आया। मनुष्य तन पाकर परमात्मा का ही भजन करना चाहिए यही उनका मुख्य सिद्धान्त है। यथा—

सुमिरो सिरजनहार मनुख तन पायके ।
काहे रहो अचेत कहा यह अवसर पैहो ।
फिर नहि मानुख जनम बहुरि पाछे पछतैहो ॥
लख चौरासी जीव जंतु में मानुख परम अनूप ।
सो तन पाय न चेतहू कहा रंक का भूप ॥
गरभ बास में रह्यो कह्यो मैं भजिहौ तोहीं ।
निसि दिन सुमिरौ नाम कष्ट से काढ़ौ मोही ॥
इक मन इक चित ह्वै रहौं रहो नाम लव लाय ।
पलक न तुम्हें बिसारिहौं यह तन रहै कि जाय ॥
इतना कियो करार तबै प्रभु बाहर कीना ।
बिसर गयो वह ठाँव भयो माया आधीना ॥
भूली बातैं उदर की यहाँ तो मत भइ आन ।
बारह बरस ऐसही बीते डोलत फिरत अजान ॥
विखया पवन समान तबै ज्वानी मद्माते ।
चलत निहारै छाँह तमक के बोलै बातें ॥
चोबा चंदन लायके पहिरे बसन बनाय ।
गलियों में डोलत फिरै, परतिय लख मुसुकाय ।
गा तरुनापा बीत बुढ़ापा आइ तुलाना ।
कंपन लागे सीस चलत दोउ पाँव पिराना ॥
नैन नासिका चूवन लागे करन सुनैं नहिं बात ।
कंठ माहिं कफ घेरि लियो है बिसर गये सब नात ॥

माल पिता सुत नारि कहो काके सँग लागी।
तन मन भजि लो नाम काम सब होयँ सुभागी॥
नहिं काल गरासिहै परिहौ जमके जार।
बिन सतगुरु नहिं बाँचिहौ हिरदय करहु बिचार॥
सुफल होय यह देह नेह सतगुरु से कीजै।
मुक्ती मारग यही संत चरनन चित दीजै॥
नाम जपो निरभय रहो अग न व्यापै पीर।
जरा मरन बहु संसय मेटै गावैं दास कबीर॥

"नाम जपो निर्भय रहो" यही उनका उपदेश है। सांसारिक कार्यों को करो तो अवश्य, किन्तु अपना लक्ष्य रक्खो उसी ओर। ऐसी सुन्दर देह पाकर भी जो भजन नहीं करोगे तो अन्त में हाथ मलते ही रह जाओगे। यह मनुष्य देह बार बार थोड़े ही मिलती है। नीचे के पद में यही कहते हैं—

भजु मन जीवन नाम सबेरा।
सुन्दर देह देख जिन भूलो झपट लेत जस बाज बटेरा।
यह देही को गरब न कीजै उड़ पंछी जस लेत बसेरा॥
या नगरी में रहन न पैहो कोइ रहि जाग न दुख घनेरा।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, मानुख जनम न पैहो फेरा॥

कबीरदासजी गृहस्थी और साधु दोनों को ही अच्छा बताते है। उनका कहना है, दोनों यदि अपने अपने धर्म को पहचान कर कार्य्य करे तो दोनों ही परम पद को पा सकते है। साधु जितना ही विरक्त होगा, वह उतना ही अच्छा समझा

जायगा और गृहस्थी का धर्म है उदारता, वह उदारता से ही पार पा सकता है। इस सम्बन्ध में आप कहते हैं—

बैरागो बिरकत भला, ग्रेही चित्त उदार।
दोउ बातों खाली पड़े, ताको वार न पार॥

गृहस्थी हो चाहे साधु, जब तक वे अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करते, तबतक दोनों ही ख़राब है। यदि दोनों परस्पर मिलकर कार्य करें तो इसमें दोनों ही का कल्याण है।

धारन तो दोऊ भली, गिरही कै बैराग।
गिरही दासा तन करै, बैरागी अनुराग॥
गिरही सेवै साधु को, साधू सुमिरै नाम।
यामे धोखा कछु नहीं, सरै दोऊ को काम॥

साधु का बिना नाम स्मरण किये उद्धार नहीं हो सकता और गृहस्थी बिना उदार हुए सत्तधाम तक नहीं पहुँच सकता। जिसने हरि स्मरण नहीं किया और कोरा साधुओं जैसा वेष ही बना लिया है, वह तो पाखंडी है। और जो गृहस्थी होकर साधु-सेवा नहीं करता, जिसका दान पुण्य में चित्त नहीं लगता, वह गृहस्थी कैसा? असल में वह विषयी है, और विषयो को ही अपना अन्तिम लक्ष्य मानकर उनका उपभोग कर रहा है। वह इसी प्रकार जन्म जन्मान्तरों तक संसारी चक्र में फँसा रहेगा। भगवान् को प्राप्त करने के कबीरदासजी दो ही रास्ता बताते है—

कबिरा गुरु के मिलन की, बात सुनी हम दोय।
कै साहिब कौ नाम लै, कै कर ऊँचा होय॥

इस जीवन को कबीरदासजी क्षण-भंगुर बताते हैं। कल के ऊपर कोई काम मत छोड़ो। 'काल करै सो आज कर आज करै सो अब।" कालि कालि के करत ही औसर चूक्यो जात। इसलिए जो कुछ करना हो, उसी क्षण कर डालो। इस सम्बन्ध में कबीरदासजी ने बड़े सुन्दर सुन्दर उपदेश दिये हैं। माया, मोह मे फँसे हुए अज्ञानी जीवो के निमित्त उन्होने बड़े सुन्दर शब्दों में चेतावनी दी है। ऊपर हम दो तीन पद उद्धृत कर चुके हैं। इस सम्बन्ध का एक और भी बहुत ही सुन्दर उपदेश सुन लीजिये—

साधो यह तन ठाठ तँबूरे का।
ऐंचत तार मरोरत खूँटी निकसत राग हजूरे का।
टूटे तार बिखिरि गई खूँटी, हो गया धूरम धूरे का॥
या देही का गरव न कीजै, उडि गया हंस तँबूरे का॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो अगम पंथ कोई सूरे का॥

पारमार्थिक विचार और उपदेश

हमारे शास्त्रकारों ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ माने हैं। इनमें से पहले तीन तो खाली पुरुषार्थ ही हैं और मोक्ष को परम पुरुषार्थ कहा है। उस अपने लक्ष्य तक हम किस साधन द्वारा पहुँच सकेंगे, यही विचारणीय विषय है। कोई योग से, कोई ज्ञान से, कोई

कर्म से और कोई भक्ति के द्वारा अपने लक्ष्य तक पहुँचते हैं। कबीर साहब का इस विषय में क्या मत है, वे सगुणोपासक हैं अथवा निर्गुण ब्रह्म को मानने वाले?

असल में सगुण और निर्गुण दोनों ही भ्रम हैं। अधिकारी भेद से यह साधारण लोगों की श्रेणियाँ है। हमारे शास्त्रकार तो निर्गुण और सगुण इन दोनों से परे जाने का आदेश करते हैं। वहाँ तो कहना, सुनना, मानना और न मानना कुछ बनता ही नहीं है। हमारे यहाँ उपनिषदों में ऐसी कई कथाएँ आई हैं कि किसी शिष्य ने ऋषि से प्रार्थना की है—"भगवन्, ब्रह्म का उपदेश कीजिये।" उन्होंने मौन धारण कर लिया। बार बार फिर यही प्रश्न करने पर उन्होंने उत्तर दिया है—"अरे, मैं इतनी देर से तो उपदेश कर रहा हूँ। ब्रह्म का उपदेश करना यही है कि मौन हो जाय। वहाँ द्वैत, अद्वैत, कहना, सुनना कुछ बनता ही नहीं।" कबीर साहब भी ठीक ऐसी ही बात कहते हैं—

एक कहौ तो है नहीं, दोय कहौ तो गारि।
है जैसा तैसा रहै, कहै कबीर बिचारि॥
आतम अनुभव ज्ञान की, जो कोइ पूछै बात।
सो गूँगा गुड़ खाइकै, कहै कौन मुख स्वाद॥
ज्यों गूँगे के सैन को, गूँगा ही पहिचान।
त्यों ज्ञानी के सुक्ख को, ज्ञानी होय सो जान॥
कागद लिखे सो कागदी, की व्यौहारी जीव।
आतम-दृष्टि कहाँ लिखै, जित देखे तित पीव॥

लिखा पढ़ी की है नहीं, देखा देखी बात।
दुलहा दुलहिन मिलि गये, फीकी पड़ी बरात ॥

किन्तु जब तक दुलहा दुलहिन मिले नहीं, तब तक तो बरात की आवश्यकता है ही। इससे यह सिद्ध कभी नहीं होता कि बरात की आवश्यकता ही नही है। हाँ, बरात साध्य नहीं है, साधनमात्र है। जो लोग बरात को ही साध्य मानकर कार्य्य करते है वे भूलते हैं। लोगों में यह भ्रम फैला हुआ है कि कबीर साहब सगुण उपासना के विरोधी थे। बात यथार्थ मे ऐसी नहीं है। उन्होंने सगुणोपासना का खंडन करके इस बात की ओर इशारा किया है कि तुम्हारा अन्तिम लक्ष्य तो सगुण और निर्गुण इन दोनों से परे है। सगुण, निर्गुण दोनों साधनमात्र है। नीचे के दोहे मे उन्होंने इसे बिलकुल स्पष्ट कर दिया है—

सर्गुण की सेवा करौ, निर्गुण का करु ज्ञान।
निर्गुण सर्गुण के परे, तहै हमारा न्यान ॥

इससे क्या सिद्ध होता है? चाहे भक्ति के द्वारा उसे पूजा करके प्राप्त करो अथवा ज्ञान के द्वारा वेदान्त-चिन्तन करके। जाना सबको उसी ओर होगा।

भक्ति के विषय में कबीर साहब शास्त्र के अनुरूप ही उपदेश करते है। उनका कहना है—

जब लग नाता जगत का, तब लग भक्ति न होय।
नाता तोड़ै हरि भजै, भक्ति कहावै सोय ॥

कबीर साहब धर्म के वाह्याचरणों का खंडन करते हैं। उदाहरण के लिए यहाँ दो तीन पद दिये जाते हैं—

साधो भजन भेद है न्यारा।
का माला मुद्रा के पहिरे चंदन घँसे लिलारा।
मूँड़ मुँड़ाए जटा रखाए अंग लगाए छारा॥
का पानी पाहन के पूजे, कंदमूल फरहारा।
कहा नेम तीरथ ब्रत कीन्हे, जो नहि तत्त बिचारा॥
का गाए का पढ़ि दिखलाए का भरमे संसारा।
का संध्या तरपन के कीन्हे का षट करम अचारा।
जैसे बधिक ओट टाटी के, हाथ लिये बिख चारा।
ज्यो बक-ध्यान धरै घट भीतर अपने अंग बिकारा॥
दै परचै स्वामी होइ बैठें करैं विषय व्यवहारा।
ज्ञान ध्यान को मरम न जानैं बाद करैं निःकारा॥
फूँके कान कुमति अपने से बोझ के लिये सिर भारा।
बिन सतगुरु गुरु केतिक बहिगे लोभ लहर की धारा॥
गहिर गँभीर पार नहि पावै खंड अखंड से न्यारा।
दृष्टि अपार चलन को सहजै, कटै भरम कै जारा॥
निर्मल दृष्टि आतमा जाकी साहब नाम अधारा।
कहत कबीर वही जन आवै तै मैं तजै बिकारा॥

(२)

जिनके नाम ना है हिये।
क्या होवै गल माला डाले कहा सुमिरनी लिये॥
क्या होवै पुस्तक के बाँचै कहा संख धुनि किये।

क्या होवै कासी में बसि कै क्या गंगाजल पिये ॥
होवै कहा बरत के राखे कहा तिलक सिर दिये ।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो जाता है जम लिये ॥

(३)

भेख को देखके कोई भूलो मती,
भेख पहिरे कोई सिद्ध नाही।
काम औ क्रोध मद लोभ माहीं,
सने सील औ साँच संतोख नाहीं।
कपट के भेख ते काज सीझै नहीं,
कपट के भेख नहि राम राजी॥
कहत कबीर इक साँच करनी बिना,
काल की चोट सिर खाय गाजी।

उपर्युक्त पदों में कंठोमाला, तिलक छाप, जनेऊव्रत, गुरुमंत्र, गायत्री, जप, प्राणायाम सभी का खंडन किया है। कई स्थानों में कबीर साहब ने पैसा छूने और स्त्री का संग करने का कड़े शब्दों में विरोध किया है। किन्तु इसके विपरीत कबीर साहब के स्वयं स्त्री थी, कपड़े बेचकर वे पैसे भी अवश्य ही लाते होंगे। वे स्वयं तिलक और कंठी धारण करते थे। उन्होंने स्वयं स्वामी रामानन्दजी से गुरुमंत्र लिया, वे देश विदेश मारे मारे भी फिरे। इससे यह मतलब नहीं कि वे इन चीज़ों को बिलकुल अनावश्यक समझकर त्यागने का उपदेश देते हों। उनके कहने का मतलब इतना ही है कि ये धर्म के वाह्य अंग है। इन्हीं में

फँसे मत रह जाना। अर्थ और काम धर्म के साधन मात्र हैं। धर्म भी साध्य नहीं है। धर्म के द्वारा हम मोक्ष प्राप्त कर सकेंगे। अन्त मे धर्म के सभी अंग भी उस समय आपसे आप छूट जायँगे। कबीर साहब लोगो को ऊँचा बढ़ने का उपदेश देते है। जैसा कि भगवान् ने स्वयं गीता में अर्जुन से कहा है—

सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यः मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

कबीर साहब के सभी सिद्धान्त हिन्दू शास्त्रों के बिलकुल अनुकूल है। वे निर्गुण ब्रह्म अथवा सतनाम को लक्ष्य मानते थे, संसार उनकी दृष्टि में मिथ्या था, जीव ब्रह्म से कोई भिन्न पदार्थ नहीं, दृश्य जगत सभी अज्ञान जन्य माया का बखेड़ा है, नियमव्रत, तीर्थ, योग, जप, तप, पूजा, पाठ, स्तुति, भजन, कीर्तन, वेदान्त-चिन्तन, तिलक छाप, माला सुमिरनी ये सभी धर्म के वाह्य रूप हैं। इनसे उस मार्ग में सहायता मिलती है। किन्तु केवल इन्हीं के भरोसे कोई बैठा रहे तो दम्भी है और वह सदा जन्म मरण के चक्कर में पड़ा रहेगा। भगवान को अनन्य भक्ति के द्वारा, ज्ञान के द्वारा, अजपा-जाप या मंत्र-योग के द्वारा हम प्राप्त कर सकते है। उन्होंने अपने बहुत से ग्रन्थों में अजपा जाप की विधि, नियम और क्रिया का विस्तार से वर्णन किया है। वे भक्त अवश्य थे। किन्तु ज्ञानी भक्त थे। वे भगवान के विरह में पागल होकर वियोगिनी की भाँति विरह-व्यथा से तड़पते भी थे, उनकी अपने प्यारे के सम्मुख विनय

हृदय को पिघलाने वाली होती है। दो चार उदाहरण लीजिये—

विरह भुवंगम तन डसा, मंत्र न लागै कोय।
नाम वियोगी ना जिये, जिये तो बाउर होय॥
कै विरहिन को मीचदे कै आपा दिखलाय।
आठ पहर का दाझना मो पै सहा न जाय॥

हँस हँस कंत न पाइया जिन पाया तिन रोय।
हाँसी खेले पिय मिलै कौन दुहागिन होय॥
माँस गया पिंजर रहा ताकन लागे काग।
साहेब अजहुँ न आइया मंद हमारे भाग॥

सुरति करौ मेरे साँइयाँ हम है भवजल माहिं।
आपे ही बहि जायँगे जो नहिं पकरौ बाहिं॥
का मुख लै बिनती करौं लाज आवत है मोहिं।
तुम देखत अवगुण किये, कैसे भावों तोहिं॥

उपर्युक्त पदों से उनके परमात्मा के प्रगाढ़ प्रेम का परिचय मिलता है। संक्षेप में कबीर साहब एक निर्गुण, निराकर सत् स्वरूप के उपासक, पाखंड के विरोधी, यथार्थ वक्ता, सच्चे वक्ता, निर्भीक सुधारक, पहुँचे हुए महात्मा और अपने समय के असाधारण महापुरुष थे। नीचे उनके तीन पद दिये जाते हैं, जिससे उनका असली सिद्धान्त पाठकों को विदित हो जायगा।

(१)

साधो सहजै काया सोधो।
करता आपु आपमें करता लख मन को परमोधो ॥
जैसे बट का बीज ताहि में पत्र फूल फल छाया।
काया मद्धे बुंद बिराजै बुंदे मद्धे काया ॥
अग्नि, पवन, पानी, पिरथी, नभ ता बिन मेला नाहीं।
काजी पंडित करो निबेरा कावे माहिं न साँईं ॥
साँचे नाम अगम की आसा है वाही में साँचा।
करता बीज लिये है खेतै त्रिगुन तीन तत पाँचा ॥
जल भरि कुंभ जलै बिच धरिया बाहर भीतर सोई।
उनको नाम कहन को नाहीं दूजा धोखा होई ॥
कठिन पंथ सतगुरु को मिलना खोजत खोजत पाया।
इक लग खोज मिटी जब दुबिधा ना कहुँ गया न आया ॥
कहैं कबीर सुनो भाइ साधो सत्त शब्द निज सारा।
आपा मद्धे आपै बोलै आपै सिरजन हारा ॥

(२)

साधो एक आपु जगमाहिं।
दूजा करम भरम है किरतिम ज्यो दरपन मे छाही ॥
जल तरंग जिमि जल ते उपजै फिर जल माहिं रहाई।
काया झाईं पाँच तत्त की बिनसे कहाँ समाई ॥

या विधि सदा देह गति सबकी या विधि मनहिं विचारो।
आया होय न्याव करि न्यारो परम तत्व निरवारो॥
सहजै रहै समाय सहज में ना कहुँ आय न जावै।
धरै न ध्यान करै नहिं जप तप राम रहीम न गावै॥
तीरथ बरत सकल परित्यागै सुन्न डोर नहिं लावै।
यह धोखा जब समुझि परै तब पूजै काहि पुजावै॥
जोग जुगत में भरम न छूटै जब लग आप न सूझै।
कहै कबीर सोइ सतगुरु पूरा जो कोइ समुझै बूझै॥

(३)

मोको कहाँ ढूँढै बंदे, मैं तो तेरे पास में।
ना मैं छगरी, ना मैं भेड़ी, ना मैं छुरी-गँड़ास में॥
नहीं खाल में, नहीं पूछ मे, ना हड्डी ना मांस में।
न मैं देवालय, ना मैं मसजिद, ना काबे-कैलास में॥
ना तो कौनो क्रिया-कर्म में नहीं जोग बैराग मे।
खोजी होय तो तुतैं मिलहौं पल-भर की तालास में॥
मैं तो रहौं सहर के बाहर मेरी पुरी मवास में।
कहै "कबीर" सुनौ भइ साधो सब साँसों की साँस में॥

उपसंहार

कबीर साहब के सम्बन्ध में हमे जो कुछ कहना था उसे हम बहुत ही संक्षेप में कह चुके। कबीर साहब के जन्म सम्वत्

के विषय मे भिन्न भिन्न विद्वानों के अलग अलग मत हैं। कोई उनका जन्म १४५५ संवत् मे, कोई १४५१, कोई १४३७ और कोई १२०५ संवत् बताते है। यही हाल मृत्यु-संवत् के विषय में है। कोई तो १५७५ में कबीर साहब का परलोक-गमन बताते हैं, कोई कोई १५५२ और कोई १५०५ में उनकी मृत्यु का अनुमान करते है। हम इस झगड़े में नही पड़े है। हमे इस झगड़े से ऐसा कुछ विशेष मतलब भी नही है। हमारे लिए तो इतना ही यथेष्ठ है कि आज से पॉच सौ वर्ष पूर्व कबीर साहब का प्रादुर्भाव हुआ और वे लगभग एक शताब्दी तक संसारी लोगों को अपनी बिमल भक्ति और सदुपदेशों द्वारा कृतार्थ करते रहे। यद्यपि कबीर साहब साक्षात् रूप से अब हमारे बीच मे नहीं है, किन्तु उनके सदुपदेश प्रत्येक भारतवासी ही नही, अन्य देशवासियों के हृदय में भी पूर्व की ही भॉति आलोक प्रदान कर रहे है और जब तक इस मनुष्य प्राणी के इसे सत्मार्ग का हृदय में सतज्ञान प्राप्त करने की इच्छा बनी रहेगी, तबतक वे इसे सत्मार्ग ओर अग्रसर करते रहेंगे।

यद्यपि कबीरपंथियों की संख्या ८—६ लाख के ही लगभग है, किन्तु कबीर साहब के उपदेशों का प्रभाव सम्पूर्ण देश मे इतना अधिक पडा है कि इस युग में आजतक किसी भी सुधारक का इतना व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा। अशिक्षित से अशिक्षित पुरुष भी कबीर साहब के नाम से परिचित होगा। यही नहीं, उसे कबीर साहब के दो चार भजन, कहावत या

दोहे भी अवश्य ही याद होंगे। "कहत कबीर सुनो भाई साधो" को तो बच्चा बच्चा जानता होगा। कबीर साहब अपने समय के महापुरुष थे।

इन्होंने ग्रन्थरचना अपने हाथ से नहीं की। वे स्वयं कहते हैं—

मसि कागज छूवो नहीं, कलम गहो नहिं हाथ।
चारिउ जुग का महातम, कबिरा मुखहि जनाई बात॥

मुख से हो ये उपदेश करते थे, उसे ही उनके भक्त गण अथवा शिष्य लिख लेते थे। वे ही ग्रन्थ बन गये। आजकल कबीर साहब के बनाये हुए बहुत से ग्रन्थ मिलते हैं। उनमें कबीर बीजक और आदि ग्रन्थ ये ही दो बहुत प्रसिद्ध है। शेष कुछ ग्रन्थों के नाम ये है—१—सुख निधान। २—गोरखनाथ की गोष्ठी, ३—कबीर पाँजी ४—बलख की रमैनी, ५—आनंदराम सागर। ६—रामनंद की गोष्ठी। ७—शब्दावली। ८—मंगल। ९—बसंत। १०—होली। ११—रेखता और झूलना १२—कहरा। १३—हिंडोल। १४—बारहमासा। १५—चाचर। १६—चौंतीसी। १७—अलिफ़नामा। १८—रमैनी। १९—साखी। २०—ज्ञानगुदड़ी। २१—अखरावती। २२—ज्ञान-सागर। २३—ज्ञान-स्वरोदय। २४—बानी। २५—अनुराग-सागर।

कबीर साहब की कविता बड़ी ही मधुर और भावपूर्ण है। हिन्दी भाषा में आज तक इतनी गहरी और उच्च कोटि

की कविता किसी भी कवि अथवा महापुरुष ने नहीं की।
नीचे हम कबीर साहब की कुछ चुनी हुई कवितायें उद्धृत करते है।

कुछ कवितायें

(१)

ओ मन समझ के लादु लदनियाँ।
काहे क टटुआ काहे क पाखर काहक भरी गौनियाँ।
मन कै टटुआ सुरति कै पाखर भर पुन पाप गौनियाँ॥
घर के लोग जगातो लागे छीन लेयँ कर धनियाँ।
सौदा करु तो यहिं करु भाई आगे हाट न बनियाँ॥
पानी पी तो यही पी भाई, आगे देश निपनियाँ।
कहै कबीर सुनौ भाई साधो सत्त नाम का बनियाँ॥

(२)

गगन घटा घहरानी साधो गगन घटा घहरानी।
पूरब दिसि से उठी बदरिया रिमझिम बरसत पानी।
आपन आपन मेड़ सम्हारो बह्यो जात यह पानी॥
मनकै बैल सुरत हरवाहा जोत खेत निरबानी।
दुबिधा दूब छोल करु बाहर, बोब नामकी धानी॥
जोग जुगत करि करु रखवारी चरन जाय मृगधानी।
बाल झार कूट घर लावै सोई कुसल किसानी॥

पाँच सखी मिल कीन रसोइया एक से एक सयानी ।
दूनो थार बराबर परसे जेवैं मुनि अरु ज्ञानी ॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो यह पद है निरबानो ।
जो या पदको परचे पावे ताको नाम विज्ञानी ॥

(३)

करम गति टारी नाहिं टरी ।
मुनि बशिष्ठ से पंडित ज्ञानी, सोधिके लगन धरी ।
सीता हरन मरन दसरथ को, बन में विपति परी ॥
कहँ वह फंद; कहाँ वह पारधि, कहँ वह मिरग चरी ।
सीता को हरि लैगो रावन, सुबरन लंक जरी ॥
नीच हाथ हरिचन्द बिकाने, बलि पाताल धरी ।
कोटि गाय नित पुन्न करत नृप, गिरिगिट-जोनि परी ॥
पंडवार्जुन के आप सारथी, तिन पर विपति परी ।
दुरजोधन को गरब घटायो, जदु-कुल नास करी ।
राहु, केतु औ भानु, चन्द्रमा, विधि संजोग परी ।
कहत कबीर सुनो भइ साधो होनी ह्वै के रही ॥

(४)

मन तू मानत क्यो न मना रे ।
कौन कहन को कौन सुनन को, दूजा कौन जना रे ॥
दरपन मे प्रतिबिंब जो भासे, आप चहूँ दिसि सोई ।
दुबिधा मिटै एक जब होवै, तौ लख पावै कोई ॥

तैसे या तत वाहू तत सो फिर यह अरु वह सोई ॥
जैसे जल ते हेम बनत है हेम धूम जल होई ।
जो समझै तो खरी कहन है, ना समझै तो खोटी ।
कहत कबीर दोऊ पख त्यागै, ताकी मति है मोटी ॥

(५)

तो को पीव मिलैंगे घूँघट को पट खोल रे ।
घट घट में वह साँई रमता, कटुक वचन मत बोल रे ॥
धन जोबन को गरब न कीजै झूठा पँचरँग चोल रे ।
सुन्न महल में दिवना बारि ले आसन सों मत डोल रे ॥
जोग जुगुत सों रंग महल में पिय पायो अनमोल रे ।
कहै कबीर आनंद भयो है, बाजत अनहद ढोल रे ॥

(६)

तलफै बिन बालम मोर जिया ।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया तलफ तलफ के भोर किया ॥
तन मन मोर रहँट अस डोलै सून सेज पर जनम छिया ।
नैन थकित भए पंथ न सूझै साँईं बेदरदी सुध न लिया ॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो हरो पीर दुख ज़ोर किया ॥

(७)

अबधू भूले को घर लावै, सो जन हमको भावै ।
घर में जोग भोग घर ही मे, घर तजि बन नहिं जावै ॥

बन के गये कलपना उपजै, तब धौं कहाँ समावै ।
घर में मुक्ति भुक्ति घर ही में, जो गुरु अलख लखावै ।
सहज सुन्न मे रहै समाना, सहज समाधि लगावै ॥
उनमुनि रहै ब्रह्म को चीन्हे, परम तत्त को ध्यावै ।
सुरत निरत सो मेला करि कै, अनहद नाद बजावै ॥
घर मे वस्तु वस्तु में घर है, घर ही वस्तु मिलावै ।
कहै कबीर सुनो हो अवधू, ज्यो का त्यों ठहरावै ॥

(८)

सुमिरन बिन गोता-खाओगे ।
मुट्ठी बाँधे गर्भ से आये, हाथ पसारे जाओगे ।
जैसे मोती भरत ओस के, बेर भये भर जाओगे ।
जैसे हाट लगावै हटवा, सौदा बिन पछुताओगे ।
कहै कबीर सुनौ भाई साधो, सौदा लेकर जाओगे ॥

(९)

अन प्रापत वस्तु को कहा तजे, प्रापत को तजै सो त्यागी है ।
सुअसील तुरंग कहा फेरे, अफतर फेरे सो बागी है ॥
जगभवका गावना क्या गावै, अनुभव गावै सो रागी है ।
वन गेह की वासना नास करै, कबीर सोई वैरागी है ॥

(१०)

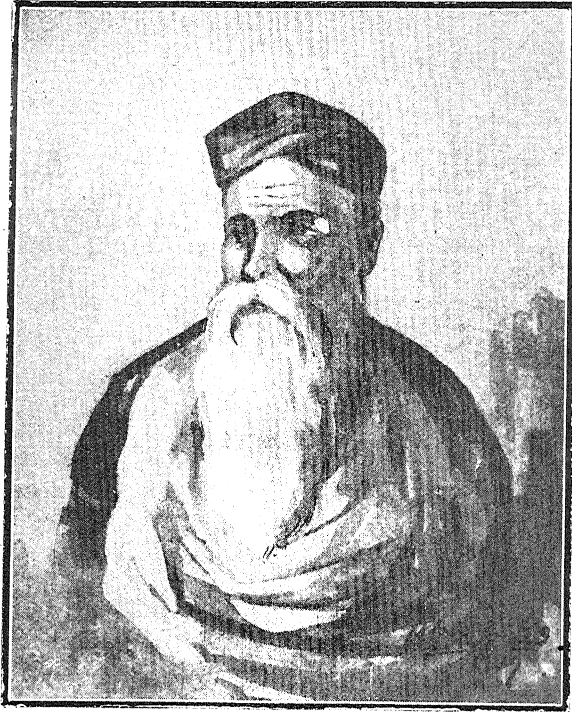
पीले प्याला हो मतवाला प्याला नाम अमी-रसका रे ।
बालपना सब खेलि गँवाया, तरुन भया नारी बस का रे ॥

बिरध भया कफ बाय ने घेरा, खाट पड़ा न जाय खसका रे।
नाभि कमल बिच है कस्तूरी, जैसे मिरग फिरै वनका रे॥
बिन सतगुरु इतना दुख पाया, बैद मिला नहिं इस तनकारे।
माता, पिता, बन्धु, सुन, तिरिया, संग नही कोइ जाय सकारे॥
जब लग जीवै गुरु जन गाले, धन जोबन है दिन दसका रे।
चौरासी जो उबरा चाहै, छोड़ कामिनी का चसका रे।
कहै कबीर सुनौ भाई साधो, नख सिख पूरा रहा बिसका रे॥

श्रीगुरुनानकदेव

संसारी लोगों पर जो शासन करते हैं, वे राजा कहलाते है। वे कायदे और नियमों के अनुसार लोगों पर शासन करते है। उनके यहाँ सेना, शस्त्र, नौकर चाकर, हाकिम हुक्काम आदि सभी शासन की उपयुक्त सामिग्रियाँ होती है। उनके हाथ मे दंड होता है, जो उनकी आज्ञा के विरुद्ध चलता है, उसे वे दंड-विधान के अनुसार उपयुक्त दंड देते हैं, इस कारण हृदय से इच्छा न रहने पर भी लोगों को उनकी बातें माननी पड़ती है। ऐसे राजाओ का आधिपत्य उनके जीवनकाल तक ही रहता है। किसी किसी को तो अपने जीवन में ही नीचा देखना पड़ता है। इन शासकों की मृत्यु के पश्चात् अथवा पदच्युत होने के अनन्तर फिर इन्हें कोई नहीं पूछता। कारण कि लोगों पर इनका यथार्थ आधिपत्य नही था, लोग हृदय से इनकी बातों को नही मानते थे, किन्तु दंड के भय से उन्हें मानने के लिए विवश होना पड़ता था।

इन राजाओं के अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार के भी राजा होते हैं। उनके पास फौज नहीं रहती, कोष नहीं रहता। उनके अच्छे महल और दरबार भी नहीं होते, यहाँ तक कि उनके पास अपने खाने के लिए भी दो मुट्ठी अन्न इकट्ठा नहीं रहता। जिस



श्रीगुरु नानकदेवजी

पर भी असंख्यों पुरुष उनकी आज्ञाओं को बडी श्रद्धा और भक्ति के साथ मानते हैं। उनके हाथ में दंड-विधान भी नहीं होता, किन्तु उनके प्रेम-विधान के सामने बड़े से बड़े पुरुष हर समय हाथ बाँधे उनकी आज्ञा में खड़े रहते है। यह बात भी नहीं कि इनकी उपस्थिति मे ही लोग इनका इस प्रकार से आदर करते हों, किन्तु इनके संसार से चले जाने के पश्चात् भी लोगों के हृदयों पर इनका शासन ज्यों का त्यों ही बना रहता है। लोग इनके वाक्यों को ईश्वरीय वाक्य मानते हैं और उनके अनुसार बर्ताव करने की भी सदा चेष्टा करते रहते हैं। गुरुनानकदेव उन्ही पारलौकिक महाराजाओ में से एक महाराजा हो चुके हैं। उन्हें इस संसार को त्यागे आज चार सौ वर्ष के लगभग होते होंगे, किन्तु साधारणतया सम्पूर्ण संसार पर और विशेष कर पंजाब प्रान्त पर उनका शासन अभी तक अक्षुण्ण रीति से बना हुआ है, और आगे भी सदा इसी प्रकार बना रहेगा।

वंश-परिचय और जन्म

पजाब प्रान्त के लाहौर ज़िले मे तलवंडी नाम का एक छोटा सा ग्राम था। उसमे कल्यानचंद नाम का एक बेदी खत्री निवास करता था, उसको भाग्यवती भार्या का नाम तृप्तां था। सम्वत् १५२६ विक्रमी की कार्तिक पूर्णिमा के दिन परम भाग्यशाली कल्यानचंद के पुण्यवती तृप्तां के गर्भ से एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ। आगे

चल कर यही बालक एक सिद्ध महात्मा हुआ, जो ससार मे नानक के नाम से विख्यात हुआ।

बाल्यकाल

बालकपन से ही इनके स्वभाव में स्वतन्त्रता थी, भगवद्भक्ति अनेक जन्मो की जमी हुई थी, ज्यो ज्यों इनकी अवस्था बढ़ने लगी, त्यो त्यो भीतर की जमी हुई भक्ति भी पिघल कर बाहर प्रकट होने लगी। ये एक साल की ही अवस्था मे खड़े होने लगे, पाँच वर्ष की ही अवस्था मे इन्हें बुरे भले का ज्ञान होने लगा। साधारणरीत्या भी बैठते तो ये पद्मासन लगाकर ही बैठते। बालको से बातें करते तो वही परमात्मा सम्बन्धी। खेल भी खेलते तो वही भगवत्-चरित्र, सारांश कि ये जो भी कार्य्य करते सब आदर्श और भक्तिपूर्ण ही होते थे।

उपयुक्त अवस्था होने पर ये हिन्दी, संस्कृत तथा फ़ारसी पढ़ाने के लिए क्रमशः पाधा, पंडित और मौलवी के पास भेजे गये, किन्तु इन्हे पढ़ना क्या था? ये तो जाने कितने जन्मो के पढ़े हुए आये थे। इन्होंने किसी को भी कुछ पढकर न दिया। उलटे वे लोग ही इनके शिष्य बन गये। जब पिता ने देखा कि यह लडका तो पढ़ने लिखने योग्य नही है, तब उन्होंने इन्हें गाय भैंस चराने का काम सौंपा, परन्तु जिसने पाठशाला मे बैठकर एक अक्षर पढ़कर नहीं दिया, वह भला गाय भैंसों के पीछे लाठी लिये कब घूमने लगा? घर से तो ये भैंस चराने

जाते, किन्तु जंगल मे जाकर किसी एकान्त वृक्ष के नीचे आसन लगाकर आत्मचिन्तन मे मस्त हो जाते। गाय-भैसे फिर किसी के खेत को क्यो न खाती रहे, इन्हें कुछ भी ध्यान न रहता। जब इनके पिता को यह बात मालूम हुई कि यह इस काम के भी अयोग्य है, तब उन्होंने इनसे कुछ व्यापार कराना चाहा।

एक दिन पिता ने इन्हे कुछ रुपये दिये और और कहा—"बेटा, इन रुपयो को लेजाओ और इनसे ख़ूब अच्छा सच्चा रोज़गार करना।" यह कह कर उन्होने बाला नामक एक भृत्य को इनके साथ कर दिया। ये रुपयो को लेकर लाहौर की ओर चले। रास्ते मे इन्हे कुछ भूखे साधु मिले। इन्होंने सोचा—"इससे और सच्चा सौदा क्या होगा?" यह सोचकर इन्होने सभी रुपये लुटा दिये और रीते हाथो लौटकर घर चले आये। इस बात से इनके पिताजी बहुत अधिक क्रुद्ध हुए।

जब इनके पिता ने देखा कि यह तो कुछ भी काम नही करता, बिना कुछ काम किये गृहस्थी

योग क्षेम के निमित्त का काम कैसे चलेगा? यह सोचकर

वृत्ति उन्होने अपनी बडी लडकी नानकी के

पास इन्हें सुलतानपुर में भेज दिया।

सुलतानपुर में इनके बहनोई जैराम वहाँ के नवाब के दीवान थे, उन्होंने इन्हें नवाब के भंडार में मोदी के काम पर लगा दिया। कहते है कि ये बहुत सा सामान वैसे ही साधुओ को बाँट देते

थे और तोलते समय कहते जाते थे—"सब तेरा है तेरा।" लोगो ने जब इस बात की शिकायत नवाब से की तब उसने भंडार की जाँच कराई, परन्तु सामान सब ठीक निकला। इस प्रकार कई बार जाँच होने पर भी ये दोषी साबित नहीं हुए। इसी तरह ये १०, १२ वर्ष तक नवाब के भंडारी का काम करते रहे।

पारिवारिक जीवन

सं० १५४५ मे १६ वर्ष की अवस्था होने पर इनका विवाह गुरुदासपुर ज़िला के मूलचद खत्री की सुलक्षणी नामक कन्या के साथ हुआ। ये विवाह के पश्चात् भी सुलतानपुर में ही रहे और नवाब के भडार में बराबर काम करते रहे। इनके वहीं पर दो पुत्र भी हुए। बड़े पुत्र का जन्म स० १५५१ मे हुआ। इनका नाम श्रीचन्द रखा गया। आगे चल कर ये बड़े विरक्त महात्मा हुए, जिन्होंने उदासी संप्रदाय चलाया। उदासी संप्रदाय के ये ही मूल पुरुष हैं। दूसरे पुत्र का जन्म १५५३ में हुआ। इनका नाम लक्ष्मीचन्द रखा गया। इनका आचरण कुछ विशेष अच्छा नही था। इनके वशज अभी तक विद्यमान है।

नानकदेव की धर्मपत्नी यथा नाम तथा गुणवाली नारी थी। नानकजी यद्यपि देखने के लिये तो गृहस्थियों की भाँति रहते थे, किन्तु इनके भीतर सदा वैराग्य की ज्योति जलती

रहती थी। गृहस्थ मे रहते हुए भी ये सदा अपने नित्य नैमित्तिक कर्मों को बड़ी ही सावधानी के साथ करते रहते थे।

जब इनकी अवस्था २८-३० वर्ष की हुई, तब इन्हें गृहस्थ का झंझट एकदम भार मालूम पड़ने लगा।

वैराग्य और तीर्थाटन इन्होंने गृहस्थ को छोडकर साधुवेश धारण करने का पक्का निश्चय कर लिया। थोड़े ही दिनों मे इन्होने अपने विचार को कार्य्यरूप में परिणत किया और अपनी प्यारी पत्नी को, दुधमुहे बच्चों को ईश्वर के आश्रय पर छोड़कर परिवार वालों से सांसारिक नाता तोड कर इन्होने साधुवेश धारण कर लिया। विरक्त होने पर इन्होंने भ्रमण करना आरम्भ किया। चलते समय इन्होने बाला और मरदाना नामक दो आदमियो को भी अपने साथ ले लिया। मरदाना जाति का मीरासी था, वह नानकजी में पहले से ही बड़ी भक्ति रखता था और उनके बनाये हुए भजनो को इकतारा पर बड़े स्वर से गाया करता था।

सबसे पहले इन्होने पूर्व की यात्रा की। पंजाब के अनेक शहरों में होते हुए ये दिल्ली आये। दिल्ली से ये अलीगढ़ होते हुए मथुरा, वृन्दावन, गोकुल आदि ब्रज के मुख्य स्थानों में घूम-फिर कर आप आगरे पहुँचे और वहाँ कुछ काल विश्राम किया। आगरे से कानपुर, लखनऊ अयोध्याजी होते हुए काशीजी पहुँचे। वहाँ पर कुछ काल रहकर साधु महात्मा तथा पडितों से सत्संग करते रहे। काशी से इन्होंने गंगाजी के

किनारे ही किनारे पैदल यात्रा की। विहार के मुख्य मुख्य नगरो मे घूमते हुए ये गयाजी पहुँचे। गया से बगाल के बहुत से नगरों मे होते हुए ये कलकत्ते पहुँचे वहाँ से बालेश्वर, मेदिनीपुर आदि शहरो को पवित्र करते हुए जगन्नाथजी पहुँचे। इस प्रकार जगन्नाथजी का दर्शन करके इन्होने पूर्व की यात्रा समाप्त की और फिर पंजाब ही लौट कर चले आये।

पूर्व की यात्रा समाप्त करके इन्होने दक्षिण की यात्रा की। दक्षिण में इन्होंने श्रीरामेश्वर धाम तक की यात्रा की और वहाँ से समुद्र पार करके सिंहलद्वीप मे भी गये। वहाँ का राजा शिभनाभ इनका शिष्य हो गया। उसी के लिए इन्होने "प्राण-सगली" नाम की योग सम्बन्धी पुस्तक बनाई। दक्षिण की यात्रा करके फिर ये सुलतानपुर ही लौट आये और वहाँ आकर कर्तारपुर मे एक धर्मशाला बनाई। धर्मशाला बन जाने पर अपने परिवार के लोगों को भी इन्होंने वही बुला लिया।

दक्षिण की यात्रा के बाद फिर उत्तर की यात्रा का नम्बर आया। उत्तर के सभी तीर्थों को इन्होने यात्रा की। बद्रीनाथ, केदारनाथ, गंगोत्री, जमनोत्री, नैनीताल, अलमोड़ा आदि सभी पहाड़ी स्थानो मे घूमते फिरते ये नैपाल और भूटान तक गये। वहाँ से लौट कर फिर ये कर्तारपुर ही आ गये।

तीनो धामो की यात्रा तो इन्होने करली अब पश्चिम का एक ही धाम शेष रह गया। इसलिए अब इन्होने पश्चिम दिशा को धावा बोला। पश्चिम मे ये गुजरात गये और वहाँ

से डेराइस्माईलखाँ, जामपुर, शिकारपुर होते हुए सिंध और कराँची की सैर करते हुए बिलोचिस्तान में पहुँचे। वहाँ से मक्का मदीना आदि मुसलमानों के तीर्थों के दर्शन करते हुए अन्त में लौट कर कर्तारपुर ही आगये। इस प्रकार लगभग २४ वर्षों मे इन्होंने चारों धामों की यात्रा की।

चारों धामों की यात्रा करके इन्होंने कर्तारपुर में ही अपना आसन जमा दिया और वहीं स्थायी रूप से रह कर, भक्तो को शिक्षा तथा उपदेश देने लगे। इनके उपदेशो में बड़ा आकर्षण था, जो एक बार भी इनके उपदेशों को श्रद्धा-भक्ति पूर्वक सुन लेता, वह सदा के लिए इनका दास बन जाता। ये अपने शिष्यो को सिक्ख कहा करते थे। इस प्रकार धीरे धीरे इनके बहुत से सिक्ख हो गये, जो कि सदा इनकी सेवा मे तत्पर रहते और ये जो भी आज्ञा देते उसका तत्काल ही पालन करते। इस प्रकार ये लोगों को श्रद्धा और भक्ति का प्रसाद वितरण करते हुए सुख पूर्वक अन्त तक करतारपुर में ही रहे।

कुछ प्रचलित किंवदन्तियाँ

अन्य महात्मा और साधुओ की भाँति इनके सम्बन्ध की भी लोक में बहुत सी आख्यायिकायें प्रचलित है। उनमे से थोड़ी सी कथाएँ हम यहाँ उद्धृत करते है।

(१)

जब नानकदेव की अवस्था १० या १२ वर्ष की थी, तब एक दिन ये भजन करने के लिये जगल मे निकल गये। जंगल में जाकर ये किसी एकान्त स्थान में बैठ कर भगवान् के गुणानुवाद गाने लगे। उस समय ये प्रभु-प्रेम में ऐसे तल्लीन हो गये थे कि इन्हें अपने शरीर तक का होश नही रहा। उस स्थान मे बैठे बैठे इन्हे १२ बज गये। कडाके की धूप पड़ रही थी, किन्तु इन्हे अपने शरीर का भी भान नही था। इसी समय एक बड़े भारी सर्प ने अपना फन फैला कर इनके ऊपर छाँह करदी। उसी समय वहाँ का ज़मीदार राय बुलार भी शिकार खेलता हुआ वहाँ आ निकला। उसने जब इस अघटित घटना को देखा, तब उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसी दिन से वह इनकी भक्ति करन लगा।

(२)

जब ये तीर्थ यात्रा कर रहे थे, उस समय घूमते फिरते ये एक गाँव में पहुँचे। वहाँ पर लोगों ने इनका बड़ा भारी आदर सत्कार किया। दूसरे दिन वहाँ का एक बड़ा भारी ज़मीदार इनके पास आया और इनसे बाला—'महाराज का भोजन आज मेरे यहाँ हागा।" इन्होने उससे कह दिया—"अच्छा भाई, दे जाना।" उसके चले जाने के थोड़ी ही देर बाद एक बार गरीब तत्तक गुरु जी के पास आया और उसने

बड़ी दीनता से कहा—"महाराज, आज इस क्षुद्र सेवक के ऊपर कृपा हो। आज्ञा हो तो कुछ रूखा सूखा टुकड़ा, जो मेरे यहाँ है, महाराज की भिक्षा के लिए अर्पण कर जाऊँ।" गुरु-जी ने उससे भी कह दिया—"हाँ भाई दे जाना। दो पहर के समय वह अमीर नाना प्रकार के व्यंजन सजा कर लाया। गुरुजी ने उस सजे हुए थाल को एक ओर रखवा लिया और आप बैठकर दर्शनार्थ आये हुए लोगों से बातें करने लगे। उस अमीर ने समझा गुरुजी थोड़ी देर बाद प्रसाद पावेंगे, अतः वह भी वहीं बैठ गया। इसके बाद वह तक्षक जो उसके घर मे थे, मिस्से कुस्से टिक्कड़ और साग लेकर आया। गुरुजी ने उसे बड़े प्रेम से लिया और मालिक का भोग लगाकर पाने लगे। अब तो लोगो के आश्चर्य का ठिकाना नही रहा।

उस अमीर ने पूछा—"क्यो महाराज, मेरे ऐसे अच्छे अच्छे पदार्थों को छोड़ कर आप इस तक्षक की सूखी रोटियो को क्यों इतने प्रेम के साथ खाने लगे?" इस पर गुरुजी ने उस थाल को मँगवाया और उसमे से कुछ पदार्थ लेकर मसलने लगे। मसलते ही उसमें से ख़ून टपकने लगा। फिर उन्होंने तक्षक की रोटियो को मसला उनमें से दूध टपकने लगा। तब उन्होंने बैठे हुए आदमियो को सम्बोधित करके कहा—"ये पदार्थ दूसरों का अन्याय से ख़ून चूस कर तैयार किये गये है, इसलिए इनमें से ख़ून निकला और इस तक्षक ने मिहनत करके ईमानदारी के साथ इस अन्न को उपार्जन किया है।

अतः इसमें से दूध की धार निकली है।" यह सुनकर वह अमीर बहुत लज्जित हुआ और गुरु जी के पैरों पर पड़ गया।

(३)

जब ये मक्के में पहुँचे, तब मक्के की ओर पैर करके सो रहे। प्रातः काल एक मुसलमान आया। जब उसने यह कौतुक देखा तब वह आपे से बाहर हो गया। उसने इनसे कहा—"तू मक्के की ओर पैर करके सो रहा है?" इस पर इन्होंने कहा—"भाई, ख़ुदा तो चारो दिशाओं में है। मैं फिर किधर पैर करूँ?" परन्तु वह इनकी इतनी गूढ़ बात को कब समझने वाला था। उसने इनका पैर पकड़ के घसीटना आरम्भ किया। वह इनके जिधर भी पैर करता उधर ही मक्के का दरवाज़ा भी फिरता जाता। इस बात से वह बहुत लज्जित हुआ। उसने कहा—'आप अवश्य ही कोई पीर पैग़म्बर है।" इस बात से इनकी ख्याति सम्पूर्ण शहर में फैल गई और सभी लोग इन्हें वली अल्लाह समझने लगे।

(४)

जब नानकदेव हसन-अबदाल की पहाड़ी पर भ्रमण करते हुए पहुँचे, तब वहाँ इनके साथी मरदान को बड़े ज़ोर की प्यास लगी। वहाँ पहाड़ पर पानी कहाँ था? पास में हा एक फ़कीर रहता था, वह वहाँ सिद्ध करके मशहूर था, उसके पास एक पानी का कुंड था, मरदाना ने उससे जाकर पानी माँगा।

परन्तु मरदाने को बहुत सी प्रार्थना करने पर भी उसने इसे पानी नहीं दिया। तब तो गुरुजी को बहुत बुरा लगा। उन्होंने पानी के सोते को ही अपने पास खींच लिया। इस पर उस फ़कीर ने क्रुद्ध होकर गुरुजी के ऊपर एक शिला चलाई, परन्तु इन्होंने उसे हाथ पर ही रोक लिया। हाथ से रोकने पर उस शिला मे पंजे का निशान होगया। वह निशान अभी तक बना हुआ है। उसे लोग "पंजा साहब" कहते है।

(५)

जब ये नैनीताल अलमोड़ा की ओर भ्रमण कर रहे थे तब घूमते हुए ये एक जंगल में पहुँचे। वहाॅ पर बहुत से गोरख-पन्थी योगी रहते थे। उन्हें अपनी सिद्धाई का बडा अभिमान था, जो भी साधु वहाँ आता वे उससे कुछ सिद्धाई दिखाने को कहते। इसी प्रकार उन्होने इनसे भी कुछ करामात दिखाने के लिए कहा। वहाॅ पर एक रीठे का पेड़ था, इन्होंने रीठे के फलों को अपनी योग-शक्ति से आधा मीठा बना दिया और उनसे कहा—"आधा तो हमने मीठा कर दिया है, अब आधे को तुम करो।" उन्होंने बहुत प्रयत्न किया, किन्तु उनके हिस्से का आधा रीठा मीठा नहीं हुआ। पहले वह स्थान गोरख-मता के नाम से प्रसिद्ध था, तब से उसका नाम "नानकमता" होगया। यह पेड़ अब भी मौजूद है, उसके फल अबतक आधे मीठे होते है।

गुरुनानक देव एकेश्वरवादी थे। वे एक ईश्वर के अतिरिक्त और किसी को नही मानते थे। वे एक ईश्वर को छोडकर किसी दूसरे का स्मरण करना उचित नही समझते थे। एक बार उन्होने कहा था।

पारमार्थिक सिद्धान्त और उपदेश

दूजा काहे सिमरिए जम्मे ते मर जाय।
एको सिमरो नानका, जो जल थल रहिआ समाय॥

अन्य सन्त महात्माओ की भाँति इन्होने भी नाम की ख़ूब महिमा गाई है। जिसने ससार मे आकर नाम स्मरण नही किया उसने कुछ भी नहीं किया, उसका सभी समय व्यर्थ ही बीता, वह पुरुष मद भाग्य है। नानकजी कहते है—

अट्ठ पहर मचंदड़ा, कच्चे कूडे कंम।
नाम अराधन ना मिलै, नानक हीन करंम॥

सचमुच उसका भाग्य ही खोटा है। इन संसारी भोगो से कोई भी सुखी नही हुआ। संसार में जिधर भी देखते है उधर ही हाय हाय मची हुई है। सभी पैसे के पीछे पागल हुए फिरते है। वे यह नहीं सोचते कि यह पैसा अन्त मे हमारे किसी काम मे भी न आवेगा। जो जिस प्रकार आया है उसी प्रकार चला जायगा। जिसने नाम रूपी धन का सचय किया है, वही अन्त मे सुख प्राप्त कर सकेगा। नाम के बिना चाहे अमीर हो अथवा ग़रीब दोनो ही छूछे जायंगे।

क्या लीता धनबतिया, क्या छोड़्या निर्धनियाँ।
नानक सच्चे नाम बिनु, आग्गे दोवें सक्खणियाँ ॥*

अन्त मे तो खाली हाथो जाना ही है। तो फिर मनुष्य देह पाकर उसे भगवत् भक्ति मे क्यो न लगावे। जिसने भगवान् से प्रीति की है, और उसे अन्त तक निभाया है, वह भगवान् के पास तक पहुँच जायगा। उसे फिर कोई भी नही रोक सकता। नानकजी कहते है—

जेही पिरीति लगे[1]हियाँ, तोड[2] निबाहू होइ।
नानक दरगह[3] जाँदियाँ, ठक[4] न सकै कोइ॥

इसीलिए आप मन को चेतावनी देते हैं कि अरे मन, इस मनुष्य देह को प्राप्त करके भगवान् के चरणों में चित्त लगा। इस संसार मे सत्संगति और हरि-कथा ये ही दो अमूल्य धन हैं। इस सम्बन्ध में नानकजी का एक बहुत ही सुन्दर पद सुनिये—

रे मन ! रामसो कर प्रीत।
श्रवण गोविन्द गुण सुनो अरु गाउ रसना गीत ॥१॥

* खाली ही हाथो।

१—लगाई है। २—अंत समय तक। ३—दरगाह = निवास। ४—रोकटोक।

कर साधु संगत सुमिरि माधो होय पतित पुनीत ॥२॥
काल व्याल ज्यों पर्यो डोलै मुख पसारे मीत ॥३॥
आजकल पुनि तोहि ग्रसि है समझ राखो चीत ॥४॥
कहे नानक राम भजले जात अवसर बीत ॥५॥

अन्त में इस संसार से अकेले ही जाना है, जिन्हे तू अपना समझे बैठा है, वे सभी अन्त समय मे तुझसे पृथक् हो जायँगे।

मित्राँ दोस्त माल धन, छुड्डि[5] चले अति भाइ।
संगी न कोई नानका[6], उह हंस[7] अकेला जाइ॥

भगवान् के यहाँ जाति पाँति की पूछ नही। उन्हें जो भी प्रेम से सुमिरेगा वही उन्हें पावेगा। साहब के दीदार को सच्चे इश्क की ज़रूरत है। बिना सच्चे प्रेम के उसे कोई प्राप्त नही कर सकता, फिर चाहे वह कितने ही ऊँचे कुल का क्यों न हो। भगवान् जाति पूछ कर दाति नही देते। नानकजी कहते है—

खत्री ब्रह्मण सूद बैस, जातीं पूछि न देई दाति।
नानक भागें पाइयै, त्रिह पहरे पिछली राति॥

नानकजी ने भी कबीरदासजी की भाँति पठित मूर्ख पण्डितों और मुल्लाओ की ख़ूब ख़बर ली है। वे कहते हैं, ख़ाली पढ़ लेने से परमात्मा थोड़े ही मिल जायगा। पढ़कर अनुभव नही हुआ तो वे कोरे ही हैं। उनसे तो अपठित ही भले है। वे

५—छोड़कर। ६—वहाँ पर। ७—जीव।

इस बात का अनुभव तो करते है कि हम कुछ नहा जानते, परन्तु इन पढ़े लिखे परिडतो को तो इस बात का अभिमान हो जाता है कि हम सब कुछ जानते है। इसीलिए नानकजी लोगो को इन कोरे पोथी पत्रावाले परिडत मौलबियो के पास जाने से रोकने है। कहते है—

पाँधे मिस्सर अंधुले[१], काजी मुल्लाँ कोरु[२]।
(नानक) तिनाँ पास नभिटीयै[३], जो सबदे दे[४] चोरु॥

नानकजी मूर्ति पूजा के कायल, सत्य नाम के उपासक थे। वे निर्गुण, निर्भय अकाल सत्य नाम के उपासक थे। प्रभु-प्राप्ति का साधन वे परमात्मा की अनन्यभाव से चिन्तना को ही बताते थे। परमात्मा में विश्वास रक्खो और योग का अभ्यास करो। योग के ऊपर उन्होने अन्य सन्त महात्माओं की भाँति बहुत अधिक जोर दिया है। एक स्थान पर ये कहते है—

तीनों बन्द लगाय के सुनि अनहद टंकोर।
नानक सुन्न समाधि में, नही साँझ नहिं भोर॥

योग की प्रणाली इनकी अन्य सभी महात्माओं की सी ही है। "प्राण संगली" में इनके यथार्थ योग-ज्ञान का परिचय मिलता है।

१—अंधे है। २—कोरे, छूँछे। ३—बैठिये। ४—के।

ये हिन्दू, मुसलमान आदि के भेद-भावों को नही मानते थे। इनका कथन है कि सभी उसी एक ईश्वर के पुत्र हैं। फिर भेद-भाव कैसा ? एक क़ाज़ी के यह पूछने पर कि "आप हिन्दू है या मुसलमान—" नानकजी ने कहा था—

हिन्दू कहो तो मारिये, मुसलमान भी नाहि।
पाँच तत्व का पूतला, नानक मेरा नाम ॥

इतना सब होने पर भी ये ऊँचे दरजे के भक्त थे। इन्होंने नाम की बडी भारी महिमा गाई है। स्नान, ध्यान, दान, पुराय, तीर्थ, व्रत आदि सभी का महात्म्य वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त इन्होने स्वयं भी कोई ऐसा पंथ जोकि आजकल इनके नाम से चल रहा है—नहीं चलाया। ये हिन्दू मुसलमान सभी को समान समझकर उपदेश देते थे। बहुत से मुसलमान भी इनके शिष्य बने। किन्तु उनकी तादाद इतनी ही है, जितनी कि आटे में नमक की। नानकजी के सभी उपदेश हिन्दू शास्त्रो के आधार पर है।

उपसंहार

नानकजी अपने समय के सुधारक और भक्त दोनों ही थे। उनका जन्म ऐसे भयंकर समय में हुआ था, जब भारतवर्ष मे मुसलमानो ही का बोलबाला था। ऐसे समय में इतनी निर्भीकतापूर्वक मुसलमानी रीति रिवाजों का खंडन करना कोई साधारण काम नहीं था। उस समय धर्म के लिए सिर को

धड़ से अलग कर देना तो साधारण काम समझा जाता था। जिसने मज़हब के ख़िलाफ़ तनिक भी चीचपड़ की कि झट क़त्ल का ही हुक्म होता था। उस समय में निर्भय होकर हिन्दू मुसलमान दोनों ही की बातों का खंडन करना बड़े साहस का काम था। नानकदेव में वह साहस था और उन्होंने किया भी।

सम्वत् १५९० में इनके माता और पिता दोनो ही चल बसे। इनकी अवस्था भी ६०, ६५ वर्ष की हो चुकी थी। अतः इन्हें यह चिन्ता हुई कि हमारे पश्चात् हमारी गद्दी का अधिकारी कौन हो? इन्होंने अपने बड़े पुत्र श्रीचन्द्रजी से कहा, किन्तु वे तो पहले ही से विरक्त थे। उन्होंने साफ इनकार कर दिया। छोटे पुत्र लक्ष्मीचन्द पर इनका विश्वास नही था, उनसे ये सन्तुष्ट नहीं रहते थे। अतः इन्होंने अपने विश्वसनीय शिष्य अंगद को अपने बाद गद्दी का अधिकारी चुना। अंगद बड़े गुरुभक्त थे, नानकदेव ने कई बार इनकी कड़ी कड़ी परीक्षायें ली, किन्तु ये उनमें अनुत्तीर्ण नहीं हुए।

जब इन्हें अपने मन के माफ़िक गद्दी का अधिकारी मिल गया तब ये बड़े सन्तुष्ट हुए। होते करते सवत् १५९६ का आश्विन मास आ उपस्थित हुआ। उसी मास की कृष्ण पक्ष की १० मी के दिन ७० वर्ष की अवस्था में नानकदेव इस असार संसार से सदा के लिए चल बसे। इनका शरीर तो नष्ट हो

गया, किन्तु इनका नाम अमर हो गया। सच है "कीर्तिर्यस्य सजीवति"।

इनकी मृत्यु के सम्बन्ध में भी कबीरदासजी की ही भाँति आख्यायिका प्रसिद्ध है। जब हिन्दू, मुसलमान, फूँकने और दफ़नाने के लिए झगडने लगे तब शव गायब हो गया। तब हिन्दू मुसलमान दोनो ने ही कफन को आधा आधा बाँटकर जलाया और दफ़नाया।

नानकजी के पश्चात् उनके गद्दी पर दस गुरु और हो गये। ये दसो के दसो बड़े सदाचारी और तपोनिष्ठ निकले। किसी भी सम्प्रदाय में इस प्रकार दस पीढ़ी इतनी विशुद्ध नही दीख पड़ती है। पंजाब के सिक्खो मे जो आजकल कुछ जागृति और उत्साह की मात्रा दीख पडती है, उसका कारण इन दस गुरुओ की सच्चरित्रता और विशुद्धता ही है। दसवें गुरु गोविन्दसिहजी हुए है। उन्होंने मुसलमान शासको का नाको-दम कर दिया। इनके वीर पुत्रों ने भी अपने शरीर को धर्म की वेदी पर बलिदान चढ़ाकर अपने नाम को सदा के लिए अमर बना लिया। गुरु गोविन्दसिंह बड़े दूरदर्शी थे, उन्हें इस बात का विश्वास था कि अब आगे इतना निस्पृह, निर्मल और सदाचारी पुरुष गुरु की गद्दी के लिए मिलना मुश्किल है, इसलिए उन्होंने अपने से पूर्व ६ गुरुओं की बानियो को संग्रह करके "ग्रन्थ साहब" बना दिया और अपने शिष्यों को आज्ञा की कि अबसे गुरु कोई मनुष्य न हो कर "ग्रन्थ साहब"

ही गुरु होंगे। इसीलिए सिक्ख लोग "ग्रन्थ साहब" को ही "गुरु ग्रन्थ साहब" कहते हैं और उसकी ठाकुरजी की भाँति पूजा करते हैं।

गुरुनानक देव ने किसी सम्प्रदाय विशेष का संगठन नही किया था, वे सबको स्वतन्त्र रीति से उपदेश दिया करते थे। उनके बाद के ९ गुरुओं ने भी उसी रीति का अनुसरण किया। गुरुगोविन्दसिंहजी ने अवस्था विशेष के कारण एक समुदाय बनाया था, किन्तु उन्होने भी उसे हिन्दुओं से पृथक् नही किया था। आज कल कुछ सिख अपने को हिन्दुओ से पृथक् करने का प्रयत्न कर रहे है। अपनी अपनी इच्छा ही तो है। इस बात से गुरु नानक देव का उपदेश तो सार्थक नहीं होगा। उलटे उनके सिद्धान्तो का और खंडन होता है। अपनी अपनी समझ ही तो है। नानकजी फिर आकर अपने भूले भटके सिक्खों को शिक्षा देंगे। हमारा तो ऐसा ही दृढ़ विश्वास है।

गुरुनानक देव के भजन बड़े ही सुन्दर मर्मस्पर्शी और भक्ति भाव में पगे हुए हैं। यहाँ पर नमूने के तौर पर उनके दो चार भजन और उपदेश उद्धृत किये जाते है।

कुछ भजन और उपदेश

(१)

सुमरन करले मेरे मना।
तेरि विति जाति उमर हरिनाम बिना॥

कूप नीर बिनु, धेनु छीर बिनु, मंदिर दीप बिना।
जैसे तरुवर फल बिन हीना, तैसे प्राणी हरिनाम बिना॥
देह नैन बिन, रैन चन्द्र बिन, धरती मेह बिना।
जैसे पंडित वेद बिहीना, तैसे प्राणी हरिनाम बिना॥
काम क्रोध मद लोभ निहारो, छाँड दे अब संत जना।
कहे नानकशा सुन भगवन्ता, या जग मे नहिं कोई अपना।

(२)

मन की मनही माहिं रही।
ना हरि भजे न तीरथ सेये, चोटी काल गही॥ १॥
दारा मीत पूत रथ संपति, धन जन पूर्न मही।
और सकल मिथ्या यह जानो, भजना राम सही॥ २॥
फिरत फिरत बहुते जुग हार्‍यो, मानस देह लही।
नानक कहत मिलन की बिरियाँ, सुमिरत कहा नही॥ ३॥

(३)

रे मन कौन गत होइ है तेरी।
गहि जग में राम नाम, सो तो नहिँ सुन्यो कान।
विषयन सो अति लुभान, मति नाहिन फेरी॥ १॥
मानस को जनम लीन्ह, सिमरन नहिँ निमिष कीन्ह।
दारा सुत भयो दीन, पगहुँ परो बेरी॥ २॥
नानक जन कह पुकार, सुपने ज्यों जग पसार।
सिमरत नहिँ क्यों मुरार, माया जा की चेरी॥ ३॥

(४)

जेकरि गागर कूप महि घाली, बिनु नीची भरिये नहिं थाली ॥
समझि बूझि गुरके पग लागी, पल महि भरिये बिलम न लागी॥
रिदै अशुद्ध कहा सिर निवावै, जो मनसा धारै सोइ फल पावै।

(५)

गूँगे भये जिन्हूँ रस चाख्या, पाया स्वाद न जाई भाख्या ॥
लिव लागी मनुआ अलसाना, सर्व निरन्तर ब्रह्म समाना ॥
नाद अनाहद अहिनिशि राते, पिया महाँ रस सहजे माते ॥

(६)

नामु रत्न जिसु जन हथि चढ़िआ,
उह गर्भकुंट महिं बहुडि न पडिआ ।
नाम की महिमा सुनहु जन भाई, नाम की शोभा वेद सुनाई ॥
नाम का मरहम सत को होवै, उह पड़ै न जोनी बहुडि न रोवै ॥
नानक कहै सुनहु रे मीता,नामका महरमु कोई हरिजन कीता ॥



महात्मा श्रीदादूदयालजी

जाति न पूछो साधकी, पूछि लीजिये ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान॥

"वृक्ष फल से पहचाना जाता है, साधु ज्ञान से जाना जाता है, महाजन की पहचान उसकी सम्पत्ति से होती है, सोने का खरापन कसौटी से जाना जाता है, हीरा की परख जौहरी के ही सामने होती है, कमल के पैदा होने का स्थान कोई नहीं पूछता, चन्द्रमा को चन्द्रिका के सम्मुख उसके दोष को कोई नही जानता, मोती सीप में से ही पैदा होता है, किन्तु सीप का आदर न कर लोग मोती को ही प्यार करते है, इसी प्रकार संसार में कोई उच्च कुल में उत्पन्न होने ही के कारण पूज्य नही हो सकता। मनुष्य की पूजा उसके गुणों के कारण होती है। जिन्होंने संसार के सभी बन्धन तृण के समान तोड़ दिये, जिन्होंने संसारी विषयो से अपने को बिलकुल पृथक् कर लिया, जो संसार मे "पद्म पत्र मिवाम्भसा" की भाँति रहते हैं, जिन्हें सुख दुःखादि द्वन्द्व हर्ष शोकान्वित नहीं कर सकते, जो मानापमान और शत्रु मित्र को समान समझने लगे है, उनकी भला जाति क्या? 'हरिजन' ही उनकी जाति है, जगदीश्वर ही उनके पिता है, जगदम्बा ही उनकी माता है, संत जन ही उनके कुटुम्ब हैं, सम्पूर्ण बसुधा ही उनकी जन्म-भूमि

है। अहा, वे महापुरुष धन्य हैं, जिन्होंने ऐसे संता के सत्संग से अपने को कृतकृत्य बनाया है और वे भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होने ऐसे महात्माओं के मुखारबिन्द से निसृत उपदेशामृत का पान किया है। ऐसे महात्माओ के उपदेश संसार सागर में डूबते हुए प्राणियो के लिए महापोत का काम देते है, जिसके द्वारा अनेको प्राणी पार हो सकते हैं, सच्चाई के साथ दृढता से इनका पल्ला पकड़ने की ज़रूरत है। महात्मा दादूदयालजी ऐसे ही एक महापोत रूपी संत हो चुके है कि जिनके नाम से आज भी लखो मनुष्य अपने को कृतकृत्य मानकर इस संसार सागर को बात की बात में तर जाना चाहते है।

जन्म और वंश-परिचय

विद्वानों का मत है कि दादूदयालजी का जन्म फाल्गुन सुदी अष्टमी सम्वत् १६०१ वि० में हुआ था। ये कहाँ और किसके यहाँ प्रकट हुए इस विषय में अभी विद्वानों मे मतभेद है, किन्तु इतिहास-लेखको का मत यही है कि इनका जन्म गुजरात के परम प्रसिद्ध नगर अहमदाबाद में हुआ। सर्व-साधारण लोगों मे यह बात प्रसिद्ध है कि ये जाति के धुनिया थे, कोई कोई इन्हें मोची भी बताते है, किन्तु दादू-पन्थियों का कहना है कि ये गुजराती ब्राह्मण थे। वे लोग इनके जन्म के सम्बन्ध में इस प्रकार कहते हैं कि एक टापू में बहुत से योगी तप कर रहे थे। वहाँ पर एक योगी को यह आकाशवाणी सुनाई पड़ी कि "तुम

संसार में जाकर जीवों का उद्धार करो।" योगिराज उस वाणी को सुनकर अहमदाबाद नगर मे आये। वहाँ पर उन्हें लोदीराम नामक एक गुजराती ब्राह्मण मिला। उसके कोई सन्तान नही थी। उसने योगिराज से सन्तान के लिए प्रार्थना की। योगिराज उस ब्राह्मण के शील-स्वभाव तथा प्रेम-भक्ति से बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उससे कहा—"तुम कल प्रातः ख़ूब तड़के उठकर साबरमती के तट पर जाना, वहाँ तुम्हें एक शिशु मिलेगा, उसे उठा लाना।" लोदीराम यह सुनकर परम प्रसन्न हुआ और वह महात्माजी को प्रणाम करके चला गया। दूसरे दिन वह ख़ूब तडके साबरमतो के किनारे पहुँचा। वहाँ जाकर वह क्या देखता है कि एक अपूर्व लावण्य-युक्त सुन्दर और तेजवान् बालक साबरमती मे बहा चला आ रहा है। बालक के मुख पर मधुर मधुर हँसी विराजमान है, चेहरा तेज से जगमग जगमग कर रहा है, अँधेरे मे भी उस बालक के तेज से चारो ओर प्रकाश सा मालूम होता है। निस्संतान ब्राह्मण उस अपूर्व रूप, लावण्ययुक्त सुन्दर शिशु को पाकर मारे ख़ुशी के फूला न समाया और उसे सावधानी से उठाकर अपने घर ले गया। असल मे वह बालक और कोई नहीं था, उन्ही योगिराज महाराज ने अपनी काया-कल्प करके शिशु का रूप धारण कर लिया था। कालान्तर में उन्होने दादूदयाल के नाम से ससारी जीवो का उद्धार किया।

बालकपन में ये भी असाधारण बालको की भाँति ही भगवत् चर्चा, कथा-कीर्तन तथा भजन में ही अपना समय व्यतीत करते थे, बालकों के साथ खेलकूद मे भी ये भगवत्चरित्र सम्बन्धी ही खेल खेला करते थे। ११ वर्ष की अवस्था में आकर परमपुरुष ने इन्हे स्वयं दीक्षा दी और इनके मस्तक पर हाथ रक्खा। इस सम्बन्ध मे इन्होंने स्वयं लिखा है—

बाल्यकाल और दीक्षा

(दादू) गैब माहि गुरुदेव मिल्या, पाया हम परसाद।
मस्तक मेरे पर धरचा, दूष्या अगम अगाध॥

कोई कोई कमालजी को तथा वृद्धानन्द नामक किसी महात्मा को इनका गुरु बताते है, किन्तु ये कोरी कल्पना ही मात्र है, असल मे इनके गुरु गोविन्द ही थे। ऐसे महापुरुष नाममात्र को भले ही किसी को गुरु धारण करले, यथार्थ गुरु तो इनका वही है, जिसकी आज्ञा से ये जनता का उद्धार करने के लिए आते हैं।

२६ वर्ष तक दादूदयालजी क्या करते रहे, इसका हाल ठीक ठीक नही मिलता। सर्वसाधारण लोगो का विश्वास है कि ये इतने दिन तक रुई धुनने का काम करते रहे। दादू पन्थियों ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि दादूदयालजी ने कुछ काल तक लोक दिखावे के लिए रुई धुनने का काम कर लिया था, जिससे अधिक प्रतिष्ठा न हो। अस्तु—कुछ भो सही, २६ वर्ष तक दादूदयालजी कोई सांसा-

तीर्थयात्रा और भ्रमण

रिक व्यापार ही करते रहे होंगे। ये आजन्म अविवाहित हो रहे। २६ वर्ष की अवस्था में ये देश-पर्यटन के लिए निकले। अनेक स्थानो में घूमते हुए सम्वत् १६३० वि० में ये साँभर आये और वहाँ लगभग ६ वर्ष तक रहे। उस स्थान को किसी कारण से छोड़ कर आँवेर में आ विराजे, जो जैपुर राज्य की पुरानी राजधानी थी। वहाँ आप १४ वर्ष तक रहे। सम्वत् १६५० में आँविर को भी आपने छोड़ दिया और राजपूताने के अनेक राज्यों में ८-९ वर्ष तक भ्रमण करते रहे। उस समय इनकी ख्याति चारों ओर फैल गई थी। राज दरबारों में भी इनका सम्मान होने लगा था। उस समय दिल्ली के तख़्त पर अकबर बादशाह था। उसने भी इनकी प्रशंसा सुनी और उसकी प्रार्थना करने पर सम्वत् १६४२ में दादू-दयालजी ने उससे फतहपुर सीकरी में भेंट की। अकबर साधु महात्माओं से बड़ा प्रेम करता था, उसे अच्छे अच्छे साधुओं से मिलने का बड़ा चाव था। दादूदयालजी से बहुत दिनों तक इसका निरन्तर सत्संग होता रहा। अकबर बादशाह ने दादूदयाल-जी से ईश्वर की जाति, रंग रूप के सम्बन्ध में पूछा। इस पर दादूदयालजी ने उत्तर दिया —

(दादू) इसक अलहकी जाति है इसक अलह का अंग।
इसक अलह औजूद है, इसक अलह का रंग॥

इसी प्रकार सुनते हैं, अकबर से इनकी कई बार गोष्ठी हुई। ये जयपुर, मारवाड़ बीकानेर आदि रजबाड़ों में भी

बहुत दिनो तक रहे। विशेष कर आप का भ्रमण राजपूताने ही मे होता रहा। अन्त में सम्वत् १६५६ में आप नराना भराने के पहाड़ी पर आकर ठहर गये।

शील स्वभाव

दादूदयालजी बड़े हो सरल, विनयी और अभिमान-रहित महा पुरुष थे। ये सब को दादा कहा करते थे, अतः लोग इन्हे "दादू" कहने लगे और ये बहुत ही अधिक दयालु थे, इसीलिए लोगों ने इनके नाम के पीछे 'दयाल' का विशेषण जोड दिया। इनकी दयालुता के सम्बन्ध में बहुत सी कथाएँ प्रसिद्ध हैं, इनमें से तीन कथाएँ हम नीचे लिखते है।

(१)

दादूदयालजी बहुत ही सादे ढँग से रहते थे। साधारण आदमी उनके वेष को देखकर इन्हें पागल ही समझता। दादूदयालजी की ख्याति देश मे सर्वत्र फैल गई थी। इनका नाम सुनकर काशी के दो विद्वान् पंडित इनसे योग की दीक्षा लेने की नियत से इनके पास आये। उन दिनो ये भराने की पहाडी के पास रहते थे। पंडित लोग जब पहाड़ी के पास पहुँचे तब उन्हें वहाँ कोई स्थान न दीखा। उन्हें सामने एक बावला सा आदमी आता हुआ दिखाई दिया। उसे देख कर पंडितों ने पूछा—"क्यों भाई, यहाँ दादूदयालजी कहाँ रहते हैं? उनका स्थान कौनसा है?" यह सुनकर वह आदमी हँस पड़ा। पंडितों ने समझा, कोई पागल है। इसलिए उन्होंने

इन्हें खूब तंग किया। इनके सिर पर दो चार चपत भी जमादीं, ये तनिक भी नाराज़ न हुए और हाथ के इशारे से दादूदयाल-जी का स्थान बताकर दूसरी ओर चले गये। वे पंडित जब दादूदयालजी के स्थान पर पहुँचे तब वहाँ उन्होंने देखा कि बहुत से आदमी वहाँ पर दादूदयालजी के दर्शनो के निमित्त बैठे हुए है। उस समय दादूदयालजी वहाँ नही थे, कही पहाडी पर चले गये थे। ये लोग भी वहाँ जाकर बैठ गये। बहुत देर के पश्चात् दादूदयाल जी वहाँ आये। बैठे हुए दर्श-नार्थी उन्हे आता हुआ देख कर आदर के साथ खड़े हो गये। दोनो पंडित भी अन्य लोगो के साथ शिष्टाचार के लिए खड़े हुए। जब उन्होंने दादूदयालजी के मुख की ओर देखा, तब तो उनकी विचित्र दशा हो गई, मुँह सूख गया। काटो तो बदन में लोहू नही। अरे यह क्या, ये तो वे ही महापुरुष है, जिन्हे हमने थोड़ी देर पहले पागल समझ कर पीटा था। इनकी ऐसी दशा देखकर दादूदयालजी हँसे। सब से पहले आप उन्ही दोनो से मिले और बोले—"भाई, तुम इतने चिन्तित क्यों होते हो? अरे, जब बाज़ार मे दो पैसे की हाँडी ख़रीदने जाते हैं, तब उसे ख़ूब ठोक बजाकर लेते हैं। तुमने कोई बुरा काम थोड़े ही किया है। लोक में कहावत है—"पानी पीजे छान कर गुरु कीजे जान कर।" तुमने हमे ठोक बजा कर देख लिया। यह अच्छा ही किया।" यह सुन कर उन बेचारे पंडितों की क्या दशा हुई होगी, इसका अनुभव तो वे ही

कर सकते है। अन्त मे वे लोग दादूदयालजी के शिष्य हुए और उनसे योग की शिक्षा ग्रहण करके अपने स्थान को लौट गये।

(२)

एक बार ये एक स्थान मे बैठे भजन कर रहे थे। समाधि मे मस्त थे, अपने शरीर का भी भान नही था। इनकी ऐसी दशा देख कर इनके कुछ विरोधियो ने इनका समाधि-स्थान चारो ओर से ईंटो से घेर कर बन्द कर दिया। जब इनकी समाधि भंग हुई तब इन्होंने अपने को चारो ओर से बन्द पाया। यह देख कर इन्होने फिर समाधि लगाली। तीन चार दिन के पश्चात् आस पास के सभ्य लोगो को यह समाचार विदित हुआ। उन्होने आकर ईंटो को हटाया और दादूदयालजी से प्रार्थना की कि "आज्ञा हो तो उन दुष्टो को यथोचित दंड दिया जाय।" इस पर दादूदयालजी ने जवाब दिया—"भाई, जिनके कारण कि हमें भगवत्-भजन करने का अधिक सुभीता प्राप्त हुआ, वे धन्यवाद के पात्र है। उन्हें दंड न देकर पारितोषिक देना चाहिए।"

एक बार आप किसी मुसलमान काजी के साथ बैठे हुए ज्ञानगोष्ठी कर रहे थे। बातों ही बातों में काजी साहब बिगड़ गये और झुँझला कर उन्होने दादूदयालजी के गाल पर ज़ोर से एक तमाचा मार दिया। तमाचे को खाकर दादूदयालजी तनिक भी कुपित नही हुए, किन्तु उन्होने नम्रतापूर्वक अपना दूसरा गाल काजी के सामने कर दिया और कहा—"एक

तमाचा इसमे और मार दीजिये जिससे कि दोनो गालो को बराबर बराबर हिस्सा मिल सके।" काजी यह सुनकर बड़ा लज्जित हुआ और उसने अपने अपराध के लिए इनसे क्षमा माँगी।

जब हम इन कहानियो को सुनते है, तब दिल पानी पानी हो जाता है। इतनी बड़ी सहनशीलता क्या मनुष्य के जीवन मे संभव हो सकती है? किन्तु नही, जिन्होंने अपने विरोधियो से ही शिक्षा ग्रहण करने का व्रत ले रक्खा है, उनके सम्बन्ध मे कोई भी बात असंभव नहीं है। दादूदयालजी कहते है, निंदक तो बड़ा दयाल है, वह बिना ही कौड़ी दाम लिये हमारा उपकार किया करता है। उन्ही के शब्दों मे आप निन्दक की स्तुति सुन लीजिये—

निदक बाबा वीर हमारा।
बिन ही कौडी बहै बिचारा॥
कोटि कर्म के कलमष काटै।
काज सँवारै बिन ही साटै॥
आपन डूबै और को तारै।
ऐसा प्रीतम पार उतारै॥
जुग जुग जीवो निदक मोरा।
रामदेव तुम करौ निहोरा॥
निदक मेरा पर उपकारी।
दादू निंदा करै हमारी॥

जिसके सामने इतना ऊँचा आदर्श हो, जो निंदक को भी अपना उपकारी गुरु समझता हो, उसके लिए फिर क्रोध करने के लिए स्थान ही कहाँ रहा? सचमुच ऐसे ही महानुभाव 'दयालु' कहलाने के पात्र है। लोगों ने दादूदयालजी को "दयाल" की उपाधि उनकी दयालुता के अनुरूप ही दे रक्खी थी।

प्रचलित कथाएँ

अन्य साधु महात्माओं की भाँति इनके सम्बन्ध मे भी बहुत सी लोकोत्तर कथाएँ प्रचलित है, उनमे आँधी नामक ग्राम की कथा बहुत प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि आप एक बार आँधी ग्राम मे चतुर्मासा बिता रहे थे। उस वर्ष वहाँ वर्षा नहीं हुई। बिना वर्षा के सभी जीव जन्तु त्राहि त्राहि करने लगे। जीवों की विकलता इनसे देखी नही गई और आपने इस प्रकार भगवान् से प्रार्थना की—

आज्ञा अपरंपार की, बसि अंबर भरतार।
हरे पटम्बर पहिरि करि, धरती करै सिंगार॥
बसुधा सब फूलै फलै, पिरथी अनंत अपार।
गगन गरजि जल थल भरै, दादू जै जैकार॥
काला मुँह करि कालका, साईं सदा सुकाल।
मेघ तुम्हारे घरि घणाँ, बरसहु दीनदयाल॥

भक्तवत्सल भगवान् इनकी दीन विनय सुनकर प्रसन्न हुए और पानी बरसा कर सभी जीवों को सुखी किया।

दादूदयालजी एक निर्गुण निराकार परब्रह्म के उपासक थे।

पारमार्थिक विचार और उपदेश

उन्होंने भगवान् की निर्गुण उपासना को ही सर्वश्रेष्ठ बताया है। वे कहते है, जिसे तू इधर उधर खोजता फिरता है, वह बाहर कहीं नहीं है, तेरे घट में ही बिराज रहा है—

दादू देखौं निज पीव कौं, दूसर देखौं नाहिं।
सबै दिसा सौं सोधिकर, पाया घट ही माँहिं॥

जब घट ही में है, तब उसे पा कैसे सकते हैं? इसके उत्तर में दादूदयालजी कहते है—

सब घटि माहै रमि रह्या, बिरला बूझै कोइ।
सोई बूझै राम को, जो राम सनेही होइ॥

राम-सनेही होने के लिए अनन्य भक्ति की आवश्यकता है। बिना अनन्य भक्ति के कोई उसे पा ही नहीं सकता। संसार से चित्त हटाकर एक मात्र उनका ही आराधन करो, बहिर्मुख वृत्ति को रोककर अन्तर्मुख वृत्ति करो, ऐसा करने से झट पिउ मिल जायँगे—

सुरति अपूठी फेरि करि, आतम माहैं आण।
लागि रहै गुरदेव सौं, दादू सोई सयाण॥
एक मना लागा रहै, अंत मिलैगा सोइ।
दादू जाके मन बसै, ताकौं दरसन होइ॥

दादूदयालजी ने भी कबीरदासजी की भाँति वाह्याडम्बरों का खंडन किया है। ये चित्त शुद्धि को ही परमात्मा प्राप्ति का

एक मात्र उपाय मानते है। नीचे के पद में उन्होंने अपना असली मत प्रकट किया है—

भाई ऐसा पन्थ हमारा।
द्वै पक्ष रहित पंथ गहि पूरा, अवर्ण एक अधारा।
बाद विवाद काहू सों नाहीं, माँही जगत थै न्यारा।
सम दृष्टि सुभाय सहज मै, आपहि आद विचारा ॥१॥
मै तै मेरी यहु मति नांहीं, निर्बैरी निरकारा।
पूर्ण सबै देखि आपापर, निरालंभ निर्धारा ॥ २ ॥
काहू के संग मोह न ममता, संगी सिरजन हारा।
मनही मनसूँ समझि सयानो, आनँद एक अपारा ॥ ३ ॥
काम कलपना कदे न कीजै, पूर्ण ब्रह्म पियारा।
रहि पंथ पहुँचि पार गहि दादू, सो तत सहज सँभारा ॥

दादूदयालजी भी जीव और ब्रह्म मे भेद भाव नही मानते थे। उनका मत है कि जब तक जीव के ऊपर अज्ञान का परदा पड़ा हुआ है, जब तक कि जीव माया के कारण अपने स्वरूप को भूले हुए बैठा है, तभी तक वह अपने को परमात्मा से पृथक् समझता है। जब उसे ज्ञान के द्वारा अपने सत्स्वरूप का बोध हो जायगा, तब उसका द्वैधी भाव मिट जायगा। आप कहते है—

काचा उछलै ऊफणै, काया हाँड़ी माहिं।
दादू पाका मिलि रहै, जीव ब्रह्म द्वै नाहि ॥

जब तक अन्न कच्चा होता है, तभी तक हाँड़ी मे से उफनता है। जहाँ पक गया कि बस एकमएक हो रहता है।

दादूदयालजी इस माया को भी स्वप्नवत् मिथ्या ही मानते है। यह दृश्य जगत् वास्तव में कुछ है नहीं। जैसे सोता हुआ पुरुष स्वप्न में भाँति भाँति की चीज़ें देखता है, परन्तु आँख खुलने पर कुछ भी नही रहता, इसी प्रकार माया के कारण यह संसार नाना प्रकार का दीखता है। जहाँ माया का पर्दा हटा नही कि वहाँ फिर कुछ भी शेष नही रह जाता—

दादू स्वप्नै सूता प्राणिया, कीये भोग बिलास।
जागत झूठा ह्वै गया, ताकी कैसी आस॥
जे नाही सो देखिये, सूता स्वप्नै माहिं।
दादू झूठा ह्वै गया, जागै तौ कछु नाहिं॥

दादूदयालजी ने भी अन्य संतों की भाँति अजपा जाप, अनहद शब्द श्रवण, अमृत बिन्दुपान, परमात्मा के परमरूप का ध्यान धारणा और समाधि आदि विषयों का वर्णन कियाहै। उन्होंने सुरति शब्द के ऊपर बहुत अधिक जोर दिया है। इनकी विनय और भक्ति की अनन्यता बहुत उच्च श्रेणी की है। एक पद सुनिये—

तूं ही तूं गुरुदेव हमारा, सब कुछ मेरे नाम तुम्हारा।
तुम्हही पूजा तुम्हही सेवा, तुम्हही पाती तुम्हहीं देवा॥१॥
जोग जग्य तूं साधन जापं, तुम्हही मेरे आपै आपं॥२॥
तप तीर्थ तूं व्रत सनानां, तुम्हही ज्ञानां, तुम्हहीं ध्यानां॥३॥
वेद भेद तू पाठ पुराना, दादू के तुम्ह पिंड प्राना॥४॥

दादूदयालजी ने एक ही दोहे में अपना सार मत कैसी खूबी से व्यक्त किया है—

आपा मेटै हरि भजै, तन मन तजै विकार।
निर्बैरी सब जीव सौ, दादू यह मत-सार॥

उपसंहार

दादूदयालजी बड़े ही विचारवान् और गम्भीर सन्त हुए है। इन्होंने कबीरदासजी की तरह कड़ाई के साथ कही भी किसी बात का खंडन नही किया है। हमे तो इनकी सम्पूर्ण वाणी भर में कोई विशेष खंडनात्मक साखी अथवा पद नहीं मिला। इन्होंने भगवत्, भक्ति पर ही अधिक जोर दिया है। इन की विनय, दीनता, प्रार्थना और अनन्यता बहुत ही अद्भुत है। पढ़ते पढ़ते चित्त भक्ति-सागर मे तल्लीन हो जाता है। सर्वत्र वही विरह, वही दीनता, वही रो-रोकर प्रभु से बालको की भाँति प्रार्थना करना, ये सब बाते ऐसी है कि कैसा भी निष्ठुर हृदयवाला पुरुष क्यों न हो, वह भी एक बार तो प्रभु के प्रेम में पागल होकर भक्ति-सागर मे गोता लगाने ही लगता है। उपदेश करने की शैली इनकी ऐसी अद्भुत थी कि कैसा भी आदमी क्यों न हो, जिसने एक बार इनका उपदेश सुन लिया, वह सदा के लिए उनका भक्त होगया। सभी सन्त महात्माओं मे एक प्रकार की आकर्षणशक्ति होती है। वे योग्य अधिकारी को अपनी दृष्टि मात्र से ही अपने वश मे कर लेते हैं। दादूदयालजी में भी इस शक्ति का अभाव नहीं था। बहुत से शिष्य तो इनके दर्शनमात्र ही से इनके शरणापन्न हुए थे। इनके प्रधान और प्रसिद्ध शिष्य रज्जबजी अपना विवाह

करने जा रहे थे। सिरपर म्हौर बाँधे घोड़े पर चढ़े हुए बरात के साथ साथ चल रहे थे। रास्ते मे दादूदयालजी जाते हुए मिले। दयालजी ने इनकी ओर दया की दृष्टि से ताक भर दिया, बस फिर क्या था? ये घोड़े पर से उतरकर दादूदयाल जी के चरणो मे गिर पड़े। सिर का म्हौर उतार कर अपने छोटे भाई को पहना दिया और आप इनके साथ हो लिए। दादू पन्थी सम्प्रदाय में रज्जबजी एक पहुँचे हुए सन्त हुए हैं, उनकी वाणी भी बड़ी अद्भुत है।

इसी प्रकार बखनाजी नारायण गाँव में होली खेल रहे थे, दादूदयालजी ने इन्हे देख कर यह पद गाया—"ऐसी देह रची रे भाई, राम निरञ्जन गावो आई।" बस इस पद के सुनते ही वे संसारी होली का खेलना छोड़ हरि के साथ होली खेलने लगे। ये भी दादू पन्थ मे अच्छे सन्त हुए है। इन दोनो मुसलमान शिष्यो के अतिरिक्त सुन्दरदासजी, जगन्नाथजी आदि इनके बहुत से हिन्दू शिष्य भी थे। सुन्दरदासजी की कविता हिन्दी संसार में बहुत अधिक प्रसिद्ध है। इनकी कविता बड़ी लोकप्रिय है, सभी श्रेणी के पुरुष इसे बड़े चाव से पढ़ते हैं। दादूदयालजी भी अन्य संत महात्माओ की भाँति हिन्दू और मुसलमानों में भेद भाव नही मानते थे। आप कहते है—

(दादू) दोनों भाई हाथ पग, दोनों भाई कान।
दोनो भाई नैंन हैं। हिन्दू मुसलमान॥

दादू पंथ के लोग हिन्दू और मुसलमान दोनो ही मे पाये जाते है। इनमे हिन्दुओ की ही संख्या बहुत अधिक है। दादू पन्थी साधू दो प्रकार के होते है, एक तो विरक्त और दूसरे नागे। दादू सम्प्रदाय में नागो की सृष्टि जयपुर के राज-घराने के एक पुरुष ने की थी। जयपुर में अब भी नागों की एक फौज है।

दादूदयालजी के परलोक गमन करने के सम्बन्ध में यह प्रचलित है कि जब उन्होने देखा कि हमारा अन्तिम समय निकट है तब वे भराने की पहाड़ी पर चले गये और वहीं एकान्त मे जाकर चोला छोड़ दिया। उन्हें इस बात का सन्देह था कि हमारे हिन्दू मुसलमान शिष्य हमारे शव के पीछे झगड़ा करेंगे, इसीलिए वे एकान्त मे चले गये। इन्होने साधु की मृत्यु एकान्त में ही उत्तम बताई है। जैसा कि नीचे की साखो से प्रकट होता है।

हरि भज साफल जीवना, पर उपगार समाइ।
दादू मरणा तहं भला, जहँ पशु पंछी खाइ॥

दादूदयालजी ने सम्वत् १६६० में अपनी इह लौकिक लीला समाप्त की। जिस स्थान पर उन्होने अपना शरीर त्यागन किया, वह स्थान दादू पन्थियो के लिए बहुत ही पुनीत है। नराना में प्रति वर्ष फागुन सुदी ४ से द्वादशी तक दादू-पन्थियों का एक बड़ा भारी मेला होता है, जिसमे देश के कोने कोने से दादू-पन्थी साधु आ आकर जुटते है। दादू पन्थियों

की ५२ गद्दियाँ बताई जाती हैं, जिनमें नराना की गद्दी मुख्य समझी जाती है।

दादूदयालजी ने अपने हाथ से कोई ग्रन्थ नही बनाया। वे जो साखी बोलते थे, उनके शिष्य आदि उन्हें लिख लेते थे। वही दादू-पन्थियों का ग्रन्थ साहब है। इसमे कबीर साहब की भी बहुत सी साखी सम्मिलित है। दादूदयालजी के शिष्यों ने बहुत ग्रन्थ बनाये है। इनके द्वारा सर्वसाधारण का बड़ा उपकार हुआ है। हिन्दी साहित्य मे 'विचार सागर' वेदान्त का बड़ा ही उत्तम और जगत्-प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके रचयिता साधु निश्चलदासजी भी दादू पन्थी महात्मा ही थे। इनके अतिरिक्त रज्जबजी, जगन्नाथजी, बखनाजी तथा सुन्दरदासजी ने हिन्दी भाषा मे बहुत से ग्रन्थ निर्माण किये हैं। हिन्दी साहित्य के भंडार को भरने में इन महात्माओं के ग्रन्थो ने बड़ी सहायता पहुँचाई है। हिन्दी भाषा इस उपकार के लिए इन महात्माओं की चिरऋणी रहेगी। दादू पन्थियों के बहुत से उत्तम उत्तम ग्रन्थ अभी अप्रकाशित ही पड़े हैं। उनका प्रकाशित होना परम आवश्यक है। आशा है हिन्दी प्रेमी—विशेषकर परमार्थी—महानुभाव इस ओर ध्यान देंगे।

दादूदयालजी देश विदेश घूमते रहे। ये प्रतिभाशाली पुरुष थे, अतः इन्हें बहुत सी प्रान्तीय भाषाओं का ज्ञान भी हो गया था, इनकी फारसी, गुजराती, मारवाड़ी, पंजाबी, हिन्दी,

तथा मराठी आदि भाषाओं में अच्छी गति रही होगी। यह बात इनके पदों से स्पष्ट प्रकट होती है। इनके बहुत से पद गुजराती तथा फारसी के भी हैं। किन्तु उन सब की भाषा हिन्दी ही है। महात्मा दादूदयालजी के कुछ पदों को हम नीचे उद्धृत करते हैं—

दादूदयालजी के कुछ पद

(१)

पीव बिन पल पल जुग भया, कठिन दिवस क्यूँ जाय।
दादू दुखिया राम बिन, काल रूप सब खाय॥

(२)

ज्यूँ अमली कै चित अमल है, सूरे के सगराम।
निर्धन कै चित धन बसै, यूँ दादू के राम॥

(३)

ईहै जग जीवन तो भला, जब लग हिरदै राम॥
राम बिनां जे जीवना, सो दादू बेकाम॥

(४)

दादू कहै तूं है तैसी भगति दे, तूं है तैसा प्रेम।
तूं है तैसी सुर्ति दे, तूं है तैसा नेम॥

(५)

हम कसियैं क्या होयगा, विड़द तुम्हारा जाय।
पीछै ही पछिताहुगे, तासैं प्रगटहु आय॥

(६)

ज्ञान ध्यान सब छाड़िदे, जप तप साधन जोग ।
दादू बिरहाले रहै, छाड सकल रस भोग ॥

(७)

मुझ भावै सो मै किया, तुझ भावै सो नाहि ।
दादू गुनहगार है, मै देख्या मन माहि ॥

(८)

खुसी तुम्हारो त्यूं करो, हमतौ मानी हारि ।
भावै बंदा बकसिए, भावै गहि कर मारि ॥

(९)

अजहुँ न निकसै प्राण कठोर ॥
दरसन बिना बहुत दिन बीते; सुन्दर प्रीतम मोर ॥१॥
चारि पहर चारौ जुग बीते, रैनि गँवाई भोर ॥२॥
अवधि गई अजहूँ नहि आये, कतहुँ रहे चित चोर ॥३॥
कबहूँ नैन निरखि नहि देखे, मारग चितवत चोर ॥४॥
दादू ऐसे आतुर विरहिणि, जैस चंद चकोर ॥५॥

(१०)

साथी सावधान ह्वै रहिए ।
पलक माहि परमेसुर जानै, काह होव काह कहिए ॥
(बाबा) बाट घाट कुछ समझ न आवै, दूर गमन हम जाना ।
परदेसी पथ चलै अकेला, औघट घाट पयाना ॥ १ ॥

(बाबा) संग न साथी कोई नही तेरा, यहु सब हाठ पसारा।
तरवर पंखी सबै सिधाए, तेरा कोण गवाना ॥ २ ॥
(बाबा) सबै बढाऊ पंथ सिराणै, अस्थिर नाही कोई।
अंतकाल कौ आगै पीछैं, बिछुरत बार न होई ॥
(बाबा) काची काया कोण भरासा, रैनि गई का सोवै।
दादू सवल सुकृत लीजै, सावधान किन होवै ॥

(११)

निरंजन क्यूँ रहै,
मौन गहै वैराग, केते जुग गये ॥ टेक ॥
जागै जगपतिराय, हँसि बोलै नही।
परगट घूँघट माँहि, पट खोलै नही ॥ १ ॥
सदिकै करूँ ससार, सब जग वारणैं।
छाड़ो सब परवार, तेरे कारणैं ॥ २ ॥
वारूँ पिंड प्राण, पाऊँ सिर धरूँ।
ज्यूँ ज्यूँ भावै राम, सो सेवा करूँ ॥ ३ ॥
दीनानाथ दयाल, बिलंब न कीजिये।
दादू बलि बलि जाइ, सेज सुख दीजिये ॥ ४ ॥

(१२)

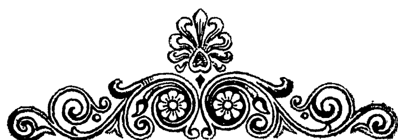
हम थै दूर रही गति तेरी।
तुम्ह हो तैसी तुम्ह ही जानो, कहा बपुरी मति मेरी ॥

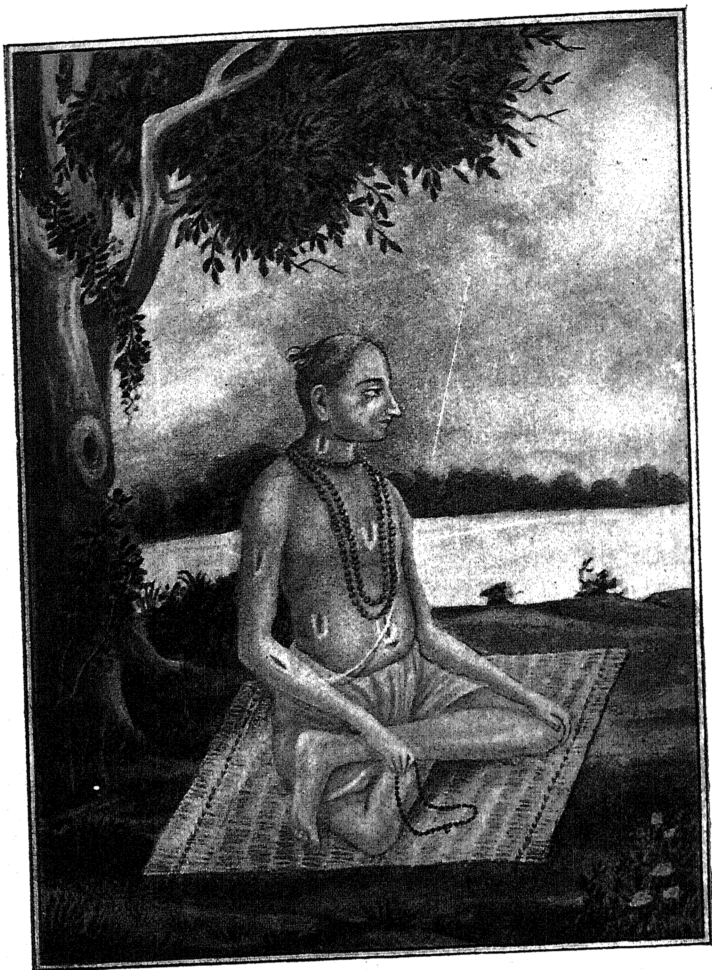
(२८६)

मन थै आगम दृष्टि अगोचर, मनसा का गम नाही।
सुर्ति समाय बुद्धि बल थाके, बचन न पहुँचै तांही ॥१॥
जोग न ध्यान ज्ञान गम नाही, समझि समझि सब हारे।
उनमनी रहत प्राण घट साधे, पार न गहत तुम्हारे ॥२॥
खोजि परे गति जाय न जाणी, अब है गहन कैसें आवै।
दादू अविगति देव दया करि, भाग बड़े सो पावै ॥३॥

(१३)

भाई रे ऐसा एक विचारा, यो हरि गुरु कहै हमारा ॥
जागत सूते सोवत सूते, जब लग राम न जानां।
जागत जागे सोवत जागे, जब राम नाम मन मानां ॥१॥
देखत अंधे अंध भी अंधे, जब लग सत्त न सूझै।
देखत देखै अंध भी देखै, जब राम सनेही बूझै ॥२॥
बोलत गूँगे गूँग भी गूँगे, जब लग तत्त न चीन्हां।
बोलत बोले गूँग भी बोले, जब राम नाम कह दीन्हां ॥३॥
जीवत मूए मुए भी मूए, जब लग नहीं प्रकास्मा।
जीवत जीए मुए भी जीए, दादू राम निवासा ॥४॥





गोस्वामी तुलसीदास

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी

आनन्दकानने ह्यस्मिन् तुलसी जंगमस्तरुः।
कविता मंजरी यस्य राम भ्रमर भूषिता॥

गोस्वामी तुलसीदासजी के सम्बन्ध मे पूरी प्रामाणिक बहुत कम मिलती है। इधर हिन्दी में तथा अन्य भाषाओ ास्वामीजी के सम्बन्ध में बहुत ही कुछ लिखा पढ़ी हो रहो देशी विदेशो सभी विद्वान् इस बात से सहमत हैं कि सीदासजी एक सच्चे सुधारक, ईश्वर-भक्त, अपूर्व प्रतिभा- ो, विश्वकवि तथा अपने समय के अद्वितीय महापुरुष थे। र्सन साहब जैसे अन्य धर्मावलम्बी, अन्य भाषाभाषी शी विद्वान् ने गोस्वामीजी के सम्बन्ध में जैसी खोज की अभी तक वैसी किसी भी देशी विद्वान् ने नहीं की। वामीजी के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत सी घट- अभी विवादास्पद है। बहुत सी बातें तो निश्चित सी ही ाई हैं, खोज बराबर जारी है, धीरे धीरे सभी बातें कुछ ा में पूर्णरीत्या नहीं तो कुछ अंशों में मानने योग्य तो हो जायँगी।

तुलसीदासजी का जन्म-स्थान राजापुर, जिला बाँदा मे बताया जाता है। यह नगर यमुनाजी के किनारे पर बसा हुआ है और एक साधारण क़सबा है। यहाँ पर अब भी गोस्वामीजी की एक कुटिया विद्यमान है। यहाँ पर उनके हाथ की लिखी हुई एक रामायण भी बताई जाता है। विद्वानो ने अनुमान से निश्चित किया है कि गोस्वामीजी का जन्म संवत् १५८६ मे हुआ था। इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे और माता का नाम हुलसी था। ये सब बातें भी अनुमान से ही लगाई गई है। तुलसीदासजी की कविता में कई स्थानों मे "हुलसी" का नाम आया है। यथा—"रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी, तुलसीदास हित हिय 'हुलसी' सी।

वंश-परिचय और जन्म

एक यह बात भी प्रसिद्ध है कि खानाखाना अब्दुलरहीम "रहिमन" के पास तुलसीदासजी ने 'सुरतिय नरतिय नागतिय यह चाहति सब कोइ" यह समस्या भेजी थी। रहीम-जी ने इसकी पूर्ति इस प्रकार की थी—"गोद लिये हुलसी फिरै तुलसी सो सुत होय"। इसमें भी "हुलसी" का ही नाम आया है। इन्ही सब बातों के आधार पर लोगों का अनुमान है कि उनकी माता का नाम "हुलसी" था।

इनकी जाति के विषय में भी विद्वान् एक मत नही है। कोई इन्हें कान्यकुब्ज बताते है और कोई सरयूपारीण। कोई कोई तो इन्हे ब्राह्मण ही नही बताते। इन्होने अपनी जाति के सम्बन्ध

में स्पष्टरीत्या तो कही भी नही लिखा, परन्तु एक स्थान पर उन्होंने इस प्रकार लिखा है।

दियो सुकुल जनम सरीर सुंदर हेतु जो फल चारिको।
जो पाय पंडित परम पद पावत पुरारि मुरारिको॥
यह भरतखंड समीप सुरसरि, थल भलो सगति भली।
तेरी कुमति कायर कलपवल्ली चहति विष फल फली॥

इससे यह अनुमान तो किया जा सकता है कि वे ब्राह्मण थे, किन्तु कौन जाने कवि ने किस भाव में यह बात कही है। यह सब होने पर भी यह बात निश्चित है कि वे ब्राह्मण थे, फिर चाहे कान्यकुब्ज हो, अथवा सरयूपारीण। यह कोई विशेष महत्त्व की बात नही है।

बाल्यकाल

तुलसीदासजी के बाल्यकाल के विषय मे विशेष बातें अभी तक ज्ञात नही हुई हैं। उनका बाल्यकाल कैसा बीता, उन्होंने कितनी अवस्था तक, कहाँ विद्या प्राप्त की, किन किन शास्त्रो का अध्ययन किया इत्यादि बातें अभी मालूम नही हुईं। अभी तक यह बात भी ठीक ठीक मालूम नही हुई कि उनका बाल्यावस्था का असली नाम क्या था। विनयपत्रिका मे एक स्थान पर लिखा है—"रामको गुलाम नाम रामबोला राम राख्यो।" इससे लोग अनुमान लगाते है कि उनका पहला नाम 'राम बोला" रहा होगा। महात्मा रघुबरदासजी का लिखा हुआ

एक "तुलसी चरित्र' नामक बड़ा भारी ग्रन्थ है। उसमे इनका पहला नाम तुलाराम अथवा तुलसीराम ही मिलता है।

'रामबोला' की अपेक्षा यह नाम कुछ युक्ति-संगत भी जँचता है। कारण कि 'राम बोला' एक तो कोई प्रसिद्ध और उपयुक्त नाम नही है. दूसरे कविता में रामबोला के मानी है राम ने बोल दिया। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उनका नाम ही रामबोला था। तीसरे सभ्य कुल मे ऐसे अप्रसिद्ध नाम रक्खे भी नही जाते। इसके विपरीत तुलसीराम उपयुक्त और प्रसिद्ध नाम है। वैष्णवो में प्रायः यह नियम है कि वैष्णव होने पर वे सन्यासियो की भाँति पहले नाम को अधिकतर बदलते नहीं है. ख़ाली उसमे दास पद जोड़ देते है। तुलसीदासजी का भी वैष्णव होने पर उनके गुरुजी ने तुलसीरामजी की जगह तुलसीदास कर दिया होगा।

प्रसंगानुसार तुलसीदासजी ने अपने ग्रन्थो मे कई स्थानो पर अपने बाल्यकाल के सम्बन्ध मे लिखा है। जैसे विनय-पत्रिका मे वे एक स्थान पर लिखत हैं—

नाम राम रावरो हित मेरे।
स्वारथ परमारथ साथिन सो भुज उठाय कहौं टेरे।
जनक जननि तज्यो जननि करम बिनु बिधि सिरज्यो अवडेरे।
मोहुसे कोउ कहत रामको, सो प्रसंग केहि केरे।
फिर्‌यो ललात बिन नाम उदर लगि दुखहु दुखित मोरि हेरे॥
नाम-प्रसाद लहत रसाल फल अब हौं बहुर बहेरे।

साधत साधुलोक परलोकहि सुनि गुनि जनत घनेरे।
तुलसी के अवलंब नाम ही को एक गाँठि केइ फेरे॥

(२)

द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पाहूँ।
है दयाल दुनी दसौ दिशा दुःख दोष-दलन छमि कियो—
न संभाषन काहूँ।
तनु तज्यो कुटिल कीट ज्यो तज्यो माता-पिता हूँ।
काहे को रोस दोष काहि धौं मेरे ही अभाग मोसो—
सकुचत सब छुइ छाहूँ।
दुखित देख सतन कहेउ सोचै जनि मन माहूँ।
तोसे पसु पाँवर पातकी परिहरे न गए रघुबर—
ओर निबाहूँ।
तुलसी तिहारो भए भयो सुखी प्रीति प्रतीति निबाहूँ।
नामकी महिमा सोलु नाथ को मेरो भलो बिलोकि अब
ते सकुचाहुँ सिहाहूँ।

इन बातो के आधार पर विद्वान लोग अनुमान लगाते है कि इनका जन्म अभुक्त मूल में हुआ होगा। अभुक्तमूल में बालक का जन्म अशुभ समझा जाता है, इसी कारण से संभव है इनके माता पिता ने इन्हे पैदा होते ही छोड़ दिया हो। तुलसीदासजी ने कवितावली रामायण मे एक स्थान पर और भी माता पिता से छोड़ देने की बात कही है—

"मातु पिता जग जाइ तज्यो,
विधि हू न लिख्यो कछु भाल भलाई।"

इन उद्धरणो से यही जान पडता है कि चाहे इनके माता पिता ने इनका जन्म अशुभ समझ कर इन्हें परित्याग कर दिया हो अथवा वे इन्हें बालक ही छोड कर परलोकवासी होगये हों, दोनों ही दशा मे ये अनाथ हो रह गये और भिक्षा-वृत्ति करके ही अपना निर्वाह करते रहे।

पारिवारिक जीवन

यह बात लोक में प्रसिद्ध है कि तुलसीदासजी का विवाह दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ था। यही नही, उसके गर्भ से एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ था, जिसका नाम तारक था। इनकी स्त्री ही इनके वैराग्य का कारण हुई।

प्रियादासजी ने 'भक्तमाल' की टीका मे भी इसका एक कवित्त में संक्षेप से वर्णन किया है। कथा इस प्रकार है कि वे अपनी स्त्री से बहुत अधिक स्नेह करते थे। एक दिन वह विना ही कहे अपने मायके चली गई। तुलसीदासजी को जब यह बात मालूम हुई तब वे भी अपनी ससुराल को चल दिये। रास्ते में एक नदी पडी। एक मुर्दे के सहारे उन्होने उसे पार किया। जब वे अपनी ससुराल में पहुँचे और अपनी स्त्री से मिले तब उसने इनका कुछ भी आदर-सत्कार नहीं किया। वह इनके इस व्यवहार पर बड़ी लज्जित हुई। उसने इनसे खीजकर कहा—

लाज न लागत आपुको, दौरे आएहु साथ।
धिक् धिक् ऐसे प्रेम को, कहा कहहुँ मैं नाथ॥
अस्थि-चर्म-मय देह मम, तामें जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम महँ, होत न तौ भव भीति॥

बस फिर क्या था, इतना सुनना था कि ये स्त्री के प्रेम को छोड़कर श्रीरामचन्द्रजी से प्रीति करने चल पड़े।

हम लोग कह सकते हैं कि तुलसीदासजी को अपनी स्त्री के ताने के कारण वैराग्य उत्पन्न हो गया।

वैराग्य और तप

यह बात तो एक बहाना मात्र है। लोक मे एक कहावत है "गगा तो आने ही वाली थी, भागीरथ के सिर पड़ी।" तुलसीदासजी के हृदय में पूर्व जन्मो के सत्संस्कारो के कारण वैराग्य तो पहले ही से था, किन्तु वह स्त्री के वचनो के पूर्व अव्यक्त रूप से थे। जमा हुआ घी जिस प्रकार गर्मी पाते ही पिघल कर बहने लगता है, उसी प्रकार स्त्री के ताने से तुलसीदासजी का अव्यक्त वैराग्य व्यक्त हो गया। जो चित्त कि अबतक सांसारिक वासनाओं मे अनुरक्त था, उसे पलटकर रघुनाथजी की ओर लगा दिया। यदि उनके हृदय में पहले से जमा हुआ वैराग्य न होता, तो एक स्त्री क्या सैकड़ों स्त्रियाँ इससे भी अधिक कड़े वाक्य कहती तो भी उन्हें चेत न होता। हम नित्य प्रति देखते है कि प्रायः नित्य ही अनेकों गृहस्थो की स्त्रियाँ अपने पतियो से बुरी भली कहती हैं, उनमें से कितने तुलसीदास हो गये है? अस्तु—कहने का

मतलब इतना ही है कि तुलसीदासजी को पहले से ही वैराग्य था।

स्त्री की बात सुनकर वे फिर घर नहीं लौटे, सीधे काशीजी चले गये और वहाँ जाकर ये भगवत्-भजन में रत हो गये। इनके दीक्षा-गुरु कौन थे, इसका ठीक ठीक पता अभी तक नहीं चला है। इतना तो निश्चय है कि इनके गुरु सोरो (सूकर क्षेत्र) ज़ि० एटा में रहते थे, कारण कि इन्होंने रामायण के आदि में लिखा है—

मैं पुनि निज गुरुसन सुनी, कथा सुसूकर खेत।
समुझी नहिं तस बालपन, तब अति रहेउँ अचेत॥

इससे यही सिद्ध होता है कि इन्होंने अपने गुरुजी से सोरों में रामकथा सुनी थी। उस समय इन्हें इतनी समझ नहीं थी। इसके दो मतलब निकल सकते हैं, एक तो यह कि ये उस समय बहुत छोटे रहे होंगे या उस समय तक इनकी बुद्धि विकसित नहीं हुई होगी। कुछ लोगों का अनुमान है कि इनके गुरु श्रीनरहरिदासजी थे। उनके अनुमान का कारण निम्न लिखित सोरठा है—

"बंदउँ गुरु पद कंज, कृपासिन्धु नर रूप-हरि।
महा मोह तम पुंज, जासु बचन रविकर निकर॥

इस पद में जो "नरहरि" शब्द आया है, वही उनके अनुमान का मूल कारण है। परन्तु अनुमान उतना प्रामाणिक नहीं समझा जा सकता।

अन्य सुधारक और महापुरुषो की भाँति इन्होंने भी तीर्थ-यात्रा तथा भ्रमण खूब किया है। ये पंजाब,

यात्रा और भ्रमण

विहार, तिरहुत, बंगाल और उड़ीसा के प्रदेशो मे अवश्य घूमे होंगे। यह बात इनकी कविता से प्रकट होती है। इसके अतिरिक्त ये मथुरा, वृन्दावन, कुरुक्षेत्र, प्रयाग, अयोध्या, चित्रकूट, सूकरक्षेत्र और जगन्नाथ-पुरी आदि तीर्थो मे भी गये है। इनके वैरागी वेष और स्वतंत्र स्वभाव को देखकर लोग इन्हें बुरा भला अवश्य कहा करते होंगे। तभी तो इन्होने लिखा है—

'धूत कहौ'' अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ।
काहू कि बेटी से वेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगारन सोऊ॥
''तुलसी'' सरनाम गुलाम है रामको, जाको रुचै सुकहै कछु ओऊ।
माँगि कै खैबो मसाद को सोयबो, लेवे को एक न देवे को दोऊ॥

यह सवैया भर्तृहरि जी के निम्नलिखित श्लोक की छाया मात्र ही जान पडता है—

''चांडालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथवा तापसः।
तत्वज्ञान निवेश पेशलमतिः योगीश्वरः कोऽपिकिम॥
इत्युत्पन्न विकल्प जल्प मुखरैः संभाष्यमाणा जनै।
र्न क्रुद्धा पथिनैव तुष्ट मनसो यान्ति स्वयं योगिनः॥

इससे पता चलता है कि लोगों के संदेह के कारण इन्हें यात्रा मे कष्ट भी रहता होगा। संभव है कभी कभी भूखों भी

रहना पड़ता हो। ये यात्रा पैदल ही किया करते थे। पास मे द्रव्य या तो रखते ही न होंगे, यदि रखते भी होंगे तो बहुत थोड़ा, साधारण काज काम चलाने योग्य।

योग-क्षेम के निमित्त वृत्ति

यह तो निश्चय ही है कि तुलसीदासजी भिक्षा के द्वारा ही अपना काम चलाते थे। अब यह प्रश्न उठता है कि वे कैसी भिक्षा करते थे। घर घर से मधुकरी माँगते थे अथवा किसी एक के यहाँ भोजन कर आते या स्वयं ही भोजन बनाते थे। रामानंदी सम्प्रदाय मे होने के कारण यह तो निश्चय ही है कि भोजन के विषय मे ये इतनी विशेष छूआ-छूत नही मानते थे। शुद्धतापूर्वक द्विजाति के हाथ का बना हुआ भोजन ये पा लेते थे, किन्तु काशी मे रहते समय ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि ये अपने हाथ से ही भोजन बनाते रहे होगे। इनका रहन-सहन एक साधारण भागवत वैष्णव का सा रहा होगा। आवश्यक सामान के अतिरिक्त ये भोजन की सामग्री भी अपने पास रखते रहे होंगे। काशी मे इनकी यथेष्ठ प्रसिद्धि हो चुकी थी, अतः भिक्षा के लिए इन्हे कही जाना नही पड़ता होगा। भक्त लोग स्वय ही सब सामग्री पहुँचा जाते होगे। हाँ ये जब भ्रमण में रहते होंगे तब इन्हे अवश्य भिक्षा करनी पड़ती होगी, सो किसी अच्छे भक्त के घर जाकर ही कर आते होगे।

किंवदन्तियां

तुलसीदासजी के सम्बन्ध में भी बहुत सी कथाएँ प्रचलित है। सारग्राही सज्जनों के निमित्त उनमें से कुछ कथाएँ संक्षेप में नीचे लिखी जाती है।

(१)

तुलसीदासजी जब घर छोड़कर अयोध्या मे रहने लगे तब नित्य प्रति शौच से जो जल बचता उसे एक छोकरा के वृक्ष पर डाल देते। उसपर कोई प्रेत रहता था। उस जल को पाकर वह प्रसन्न हुआ और प्रकट होकर गोस्वामीजी से वरदान मॉगने को कहा। गोस्वामीजी ने कहा—"मुझे श्रीरामचन्द्रजी के दर्शनो के सिवा और कुछ भी नही चाहिए।" तब उस प्रेत ने जवाब दिया—"भगवान् के दर्शन कराना तो मेरी शक्ति के बाहर की बात है। यदि ऐसा ही होता तो हम इस अधम योनि मे क्यो पड़े रहते। किन्तु हाँ, मै आपको एक तरकीब बता सकता हूँ। अमुक स्थान मे जो हरि-कथा होती है, वहाँ हनुमान्‌जी वृद्ध ब्राह्मण का रूप धारण करके सुनने आते है। वे सब श्रोताओ के पीछे उठकर जाते है। आप उनके चरण पकड़ लीजिये, तब आपको दर्शन हो जायँगे।"

यह सुनकर तुलसीदासजी प्रसन्न होकर चले गये। दूसरे दिन कथा जब बन्द होगई और सब श्रोता चले गये, तब वृद्ध

ब्राह्मण रूपधारी हनुमान्‌जी के तुलसीदासजी ने पैर पकड़ लिये। उन्होंने बहुत मना किया, परन्तु ये माने ही नहीं। तब वे रघुनाथजी का दर्शन कराने का आश्वासन देकर अन्तर्धान होगये।

दूसरे दिन जब ये जंगल से लौट रहे थे, तब इन्होंने क्या देखा कि एक घुड़सवार हाथ मे धनुषबाण लिये एक हरिन के पीछे दौड़ा चला जा रहा है। इन्होने साधारण शिकारी समझ कर उसकी ओर कोई विशेष ध्यान नही दिया। थोडी देर मे हनुमान्‌जी ने पूछा—"कहो, कर लिये दर्शन ?" तब तो ये उनके पैरो पड़ गये और बोले—"अभाग्यवश मैंने तो देखकर भी उनकी ओर से मुँह मोड़ लिया।" यह सुनकर हनुमान्‌जी फिर दर्शन कराने का वादा करके अन्तर्धान हो गये।

अगले दिन तुलसीदासजी जब जंगल में गये, तब उन्होंने देखा कि रामलीला हो रही है। वे बडी देरतक श्रद्धापूर्वक प्रेम से रामलीला देखते रहे। जब लौटकर नगर में आये तब उन्होंने रामलीला की बात अन्य लोगों से भी कही। सुनकर सभी लोग कहने लगे—"तुलसीदासजी, आप कैसी बातें कर रहे हैं। रामलीला तो क्वार के महीने मे होती है, आजकल भला रामलीला कहाँ ?" यह सुनकर तुलसीदासजी को हनुमान्‌जी की कल वाली बात याद आ गई और वे रघुनाथजी के प्रेम मे मग्न हो गये।

(२)

एक दिन एक हत्यारा आया। तुलसीदासजी ने उससे रामनाम कहला कर उसकी हत्या निवारण कर दी और उसके साथ भोजन भी किया। जब पंडितों ने यह बात सुनी तब सभी जुटकर तुलसीदासजी के पास आये और पूछने लगे—"तुमने इस हत्यारे की हत्या किस प्रकार निवारण करदी।" तुलसीदासजी ने राम-नाम की महिमा वर्णन की और कहा—"राम नाम के सम्मुख भारी से भारी पातक भी नहीं ठहर सकता। पंडितो ने कहा—"हमें तुम्हारी इस बात से संतोष नहीं होता।" यदि विश्वनाथजी का नंदी इसके हाथ से भोजन करले तो हमे विश्वास हो कि इसकी हत्या छूट गई।" तुलसीदासजी ने इसे स्वीकार किया। एक थाल में खाद्य पदार्थ उसके हाथ से ले जाकर नंदीश्वर के सामने रक्खे गये। सभी लोगो के देखते देखते नंदीश्वर उस भोग को खा गये। तब तो सभी पडित लज्जित हो गये और तुलसीदासजी की उस दिन से बहुत अधिक ख्याति हो गई।

(३)

एक दिन रात्रि में बहुत से चोर तुलसीदासजी के स्थान में चोरी करने आये, किन्तु चोरो ने देखा एक नीले रंग का पुरुष हाथ में धनुष बाण लिये वहाँ पहरा दे रहा है। वे कई बार आये, किन्तु उन्होंने उस धनुषधारी को सभी बार पहरा देते ही पाया।

दूसरे दिन उन्होने आकर तुलसीदासजी से पूछा—"महाराज यह आपका पहरेदार तो रात्रि भर बडी ही सावधानी से पहरा देता है।" तुलसीदासजी ने कहा—"भाई, मेरे यहाँ तो कोई भी पहरेदार नही है।" उन्होने कहा—"नही महाराज, हम कैसे माने? रात्रि मे हम कई बार आये। जब जब हम आये, तब तब उसे पहरा देते ही पाया। उसका रंग नीला था, हाथ मे धनुषबाण लिये हुए था।" तुलसीदासजी सब भेद का समझ गये। उन्होने यह सोच कर कि "मेरे इस थोड़े से सामान के पीछे रघुनाथजी को इतना कष्ट सहन करना पड़ता है"—सभी सामान कगालो को बाँट दिया।

(४)

एक दिन एक ब्राह्मणी अपने पति के साथ सती होने के लिए श्मशान मे जा रही थी। रास्ते में उसे तुलसीदासजी मिल गये। उसने गोस्वामीजी को प्रणाम किया। गोस्वामीजी ने उसे आशीर्वाद दिया—"सौभाग्यवती हो।" यह सुनकर उसने कहा—'भगवन्, आपने यह कैसा आशीर्वाद दिया, मै तो अपने पति के साथ सती होने को श्मशान मे जा रही हूँ। यह सुनकर तुलसीदासजी ने कहा—'अब तो हम कह चुके।" यह कहकर वे उसके मृतक पति के पास गये और रामनाम के महात्म्य से उसे फिर से जिला दिया।

(५)

दिल्ली के बादशाह ने जब गोस्वामीजी की प्रशंसा सुनी तब उन्हें अपने दरबार मे बुलाया। उचित सत्कार करने के अनन्तर उसने इनसे कोई करामात दिखाने को कहा। इन्होंने जवाब दिया—"मैं तो राम नाम के सिवा और कोई भी करामात नही जानता।" यह सुनकर उसने इन्हें यह कहकर क़िले मे बंद करवा दिया कि देखें तुम्हारे राम नाम की महिमा। तुम्हे इस वन्धन से वे मुक्त करते है कि नही। गोस्वामीजी ने हनुमान्‌जी को स्मरण किया। स्मरण करते ही लाखों बानरो ने क़िले को घेर लिया और नाना भाँति के उत्पात करने लगे। जब यह ख़बर बादशाह के कानो तक पहुँची तब वह जाकर तुलसीदासजी के पैरों पर पड़ गया और अपने अपराध की क्षमा माँगी। गोस्वामीजी ने उसका अपराध क्षमा कर दिया और कहा—"अब यह क़िला रघुनाथजी का हो गया, इसे छोड़कर अब तुम दूसरी जगह चले जाओ।" बादशाह यह सुनकर उस क़िले को छोड़ दूसरी जगह चला गया।

(६)

एक बार नाभाजी तुलसीदासजी की प्रशंसा सुनकर उनसे मिलने काशी आये, किन्तु उस समय तुलसीदासजी भजन-ध्यान में ऐसे मग्न थे कि नाभाजी से भेंट ही न कर सके। नाभाजी बिना मिले ही वृन्दावन लौट गये। जब यह ख़बर

तुलसीदासजी ने पाई, तब ये उनसे मिलने वृन्दावन गये। उस समय वैष्णव लोग भोजन करनेवाले थे, ये भी उनमें सबसे नीचे एक तरफ़ जाकर बैठ गये। खीर लेने को इनके पास कोई बर्तन नहीं था, परोसने वाला यही सोच रहा था कि इन्हें खीर किसमें परोसी जाय। इन्होंने झट से पास में पड़ी हुई एक जूती को उठाकर कहा—मुझे इसमें खीर परस दीजिये। यह कहकर इन्होंने नीचे का दोहा पढ़ा—

तुलसी जिनके मुखन सों, धोखेहु निकसत राम।
तिनके पग की पगहरी, मेरे तन को चाम॥

तुलसीदासजी का नाम सुनते ही नाभाजी खिल उठे। उन्होंने इन्हें छाती से चिपटा लिया और बोले—"आज मुझे भक्तमाल के लिए एक सुमेरु मिल गया। उसी समय उन्होंने यह छप्पय बनाकर कहा—

त्रेता काव्य निबंध करी सतकोटि रमायन।
इक अच्छर उच्चरे ब्रह्म हत्यादि परायन॥
अब भक्तन सुख देन बहुरि वपुधरि (लीला) विस्तारी।
रामचरन-रसमत्त रहत अहनिसि ब्रत धारी॥
संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लयो।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीकि तुलसी भयो॥

(७)

एक बार ये मथुराजी में गये। एक साधु इन्हें रामचन्द्रजी के दर्शन कराने के बहाने मदनगोपालजी के मंदिर में ले गया।

वहाँ जब तुलसीदासजी ने देखा कि ये तो मुरली बजा रहे हैं, तब आपने कहा—

का बरनउँ छबि आज की, भले बिराजेउ नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै, (जब) धनुषबान लेउ हाथ॥

उसी समय कहते है भगवान् ने मुरली फेंक कर धनुषबाण धारण कर लिया। एक दोहा भी प्रसिद्ध है।

कित मुरली कित चंद्रिका, कित गोपिन को साथ।
अपने जन के कारने, कृष्ण बने रघुनाथ॥

(८)

एक बार तुलसीदासजी भ्रमण करते हुए बलिया ज़िले के कांत नामक नगर में आये। वहाँ उन्होने लोगों के अशुद्ध व्यवहार को देख कर भोजन नहीं किया। थोड़ी दूर पर उन्हे मॅगरू नाम का अहीर मिला। उसने दुग्ध से गोस्वामीजी का आतिथ्य किया। गोस्वामीजी उसके आतिथ्य से प्रसन्न हुए और उससे कुछ वर माँगने को कहा। उसने भगवत्भक्ति और अपने कुल की अभिवृद्धि का वरदान माँगा। तुलसीदास-जी ने कहा—"चोरी न करोगे और किसी को सताओगे न तो तुम्हारे ये दोनों काम हो जायँगे। बलिया ज़िले मे मॅगरू का वंश आज तक भी है। उनके वंश के अहीर चोरी नहीं करते।

(९)

तुलसीदासजी रामायण लिखते समय जब संकट मे पड़ जाते तब हनुमानजी आकर उनकी सहायता करते। बालकांड

मे जब धनुष-भङ्ग की कथा लिखते लिखते "बूड़्यो सकल समाज" इस सोरठे का यह आधा चरण लिख गये तब उन्हे स्वयं शंका हुई कि इसमे तो रामभक्त विश्वामित्र, वशिष्ठ सभी आ गये। उस समय हनुमानजी ने आकर उनसे कहा—इसके आगे "चढे जो प्रथमहि मोह बस" इतना और लिख दो। इस बात से गोस्वामीजी का समाधान हो गया।

(१०)

एक बार युद्ध के अवसर पर हनुमानजी ने अपने नखो से शिलाओं पर एक रामायण लिख कर रामचन्द्रजी के सामने सही करने को उपस्थित की। रामचन्द्रजी ने कहा—"मैं तो वाल्मीकजी की रामायण पर सही कर चुका हूँ, अब तुम उन्ही से जाकर सही कराओ।" यह सुनकर हनुमानजी बाल्मीक-जी के पास गये। बाल्मीकजी ग्रन्थ को देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्हे इस ग्रन्थ के सामने अपनी रामायण फीकी मालूम पडने लगी। इससे उन्हें डाह भी हुआ। उन्होंने हनूमान-जी की स्तुति की। हनुमानजी ने प्रसन्न होकर वरदान माँगने को कहा। बाल्मीकजी ने यही वर माँगा कि आप अपने इस ग्रन्थ को समुद्र में फेंक दीजिये। हनुमानजी ने कहा—"इस ग्रन्थ को तो मैं समुद्र में फेंके देता हूँ, किन्तु कलियुग में मैं तुलसीदास की जिह्वा पर बैठ कर एक ऐसी रामायण की रचना कराऊँगा जिसके सम्मुख तुम्हारा यह ग्रन्थ फीका पड जायगा।

(११)

एक राजा की प्रार्थना करने पर इन्होंने उनकी लड़की को रामनाम के प्रभाव से लडका बना दिया।

(१२)

गोस्वामीजी के दर्शनों को बहुत से लोग आया करते थे। उन दिनों गोस्वामीजी गुफ़ा के भीतर रहते थे। एक बार निकल कर सबको दर्शन दे जाते। तीन लड़के नियमपूर्वक दर्शन करने आते। एक दिन वे नही आये। तुलसीदासजी ने उस दिन अन्य लोगों को भी दर्शन नही दिया। दूसरे दिन वे लड़के आये। उनकी परीक्षा के हेतु उस दिन भी गोस्वामीजी दर्शन देने न निकले। इससे वे तीनों दर्शन न मिलने के कारण वियोग में तड़प कर मर गये। गोस्वामीजी को जब यह बात मालूम हुई तब उन्हें रघुनाथ जी का चरणामृत पिलाकर जिला दिया।

(१३)

एक तान्त्रिक दंडी को यक्षिणी सिद्ध थी। उसकी स्त्री को कोई वैरागी भगा ले गया। यक्षिणी के प्रभाव से बादशाह को पकड़वा मगाया और उससे हुकुम जारी करा दिया कि सब लोगों की मालाएँ उतरवाली जायँ और तिलक मिटवा दिये जायँ। ऐसा ही किया गया। जब लोग तुलसीदासजी के पास भी तिलक मिटाने और माला छीनने आये तब उन्हें उनका

विकट रूप देख पडा। उसे देख कर वे भयभीत हो गये। फिर किसी की माला नहीं उतरवाई गई।

(१४)

मिसिरिख (ज़ि० सीतापुर) के एक गाँव के पास इन्होंने एक सूखी डाली गाड़ दी, जो हरी हो गई। इसका नाम उन्होंने बंशीवट रख दिया। आज भी वहाँ अगहन शुक्ला पंचमी को रामलीला होती है।

(१५)

जब ये अपनी विनयपत्रिका लिख चुके तब उसे विश्वनाथजी के मंदिर में ले गये और विश्वनाथजी से उस पर सही करने की प्रार्थना की। इनकी प्रार्थना स्वीकार हुई और विश्वनाथजी ने उस पर सही करदी।

इसी प्रकार तुलसोदासजी के सम्बन्ध में और भी बहुत सी कथायें प्रसिद्ध है। यहाँ पर हमने संक्षेप में मुख्य मुख्य कथाओ का ही उल्लेख कर दिया है। पाठक इनकी यथार्थना के सम्बन्ध में अपनी अपनी बुद्धि और भाव के अनुसार निश्चय करलें।

व्यावहारिक विचार और उपदेश

गोस्वामीजी भक्त होने के साथ ही एक अच्छे उपदेशक तथा असाधारण सुधारक भी थे, यही कारण है कि इन्होंने सर्वसाधारण लोगों के लिए भी बहुत सी उपदेश की बातें बताई है। वे वर्णाश्रम-धर्म के पूर्ण पक्षपाती थे।

उन्होंने सभी वर्ण और आश्रम के लोगों के धर्म बताये है। नीचे रामचरितमानस से कुछ चौपाई उद्धृत की जाती हैं। उनसे यह प्रतीत हो जायगा कि किसका क्या कर्तव्य है। जो अपने कर्तव्य का पालन न करके अन्य कार्य करता है वह शोचनीय है।

शोचिय विप्र जु वेद विहीना,
तजि निज धर्म विषय लवलीना।
शोचिय नृपति जो नीति न जाना,
जेहि न प्रजा प्रिय प्राण समाना॥

शोचिय वैश्य कृपण धनवानू,
जो न अतिथि शिव भक्त सुजानू।
शोचिय शूद्र विप्र अपमानी,
मुखर मानप्रिय ज्ञान गुमानी॥
शोचिय पुनि पतिवंचकनारी,
कुटिल कलह प्रिय इच्छा चारी।
शोचिय बटु निज व्रत परिहरई,
जो नहि गुरु आयसु अनुसरई॥

शोचिय गृही जो मोहवश, करे कर्मपथ त्याग।
शोचिय यती प्रपंचरत, विगत विवेक विराग॥

वैखानस सोइ शोचनयोगू,
तप विहाय जेहि भावै भोगू।

शोचिय पिशुन अकारन क्रोधी,
जननि जनक गुरु बन्धु विरोधी ॥
सब बिधि शोचिय पर अपकारी,
निज तनु पोषक निर्दय भारी।
शोचनीय सबही बिधि सोई,
जो न छाँडि छल हरिजन होई ॥

इन चौपाइयों में इन्होंने सभी के धर्म बता दिये है। मनुष्य का मुख्य उद्देश्य वे छल कपट को छोडकर हरि का भजन करना ही बताते है। अपने अपनेधर्मों का पालन करते हुए परमात्मा की ओर बढ़ते जाना यही मनुष्य का कर्तव्य कर्म है।

गोस्वामीजो ने विविध विषयों पर भाँति भाँति के नीति के उपदेश भी दिये है। किस अवसर पर मनुष्य को क्या करना चाहिए, किस अवसर पर कौन सी बात कर्तव्य है, कौन सी अकर्तव्य है इत्यादि सभी विषय के उपदेश उनके ग्रन्थों में अनेक स्थानों में पाये जाते है। यहाँ पर हम स्थल संकोच के कारण उन सब का पूरा पूरा उद्धरण देने में असमर्थ है। उदाहरण के लिए कुछ उपदेश नीचे लिखे जाते हैं।

(१)

सरनागत कहँ जे तजहि, निज अनहित अनुमानि।
ते नर पामर, पापमय, तिन्हैं विलोकत हानि ॥

(२)

सचिव, बैद, गुरु तीनि जहँ, प्रिय बोलहि भय आस।

(३)

राज देह अरु धर्म को, होय बेगि ही नास ॥

(४)

सारदूल को स्वाँग करि, कूकर की करतूति।
तुलसी तापर चाहिए, कीरति विजय विभूति ॥

(५)

नीच निरादर ही सुखद, आदर सुखद विसाल।
कदली बदली बिटप गति, पेखहु पनस रसाल ॥

(६)

रसना साँपिनि बदन बिल, जो न जपहि हरिनाम।
तुलसी प्रेम न राम सों, ताहि विधाता बाम ॥

(७)

तुलसी मीठे वचन तें, सुख उपजत चहुँ ओर।
वशीकरण एक मंत्र है, तजि देउ वचन कठोर।

(८)

तुलसी कर पर कर करौ, कर तर कर न करौ।
जा दिन कर तर कर करौ, ता दिन मरन करौ ॥

(९)

तुलसी जग में आइ के, कर लीजै दो काम।
देवे को टुकडा भलो, लैवे को हरि नाम ॥

उपर्युक्त दोहों मे, कितने भावपूर्ण और गम्भीर उपदेश हैं। यदि मनुष्य इन उपदेशों के अनुरूप अपने जीवन को बना ले तो फिर उसे संसार में सुख ही सुख है।

पारमार्थिक विचार और उपदेश

तुलसीदासजी का पारमार्थिक सिद्धान्त सभी पुरानी परम्परा के ही अनुसार है। वे श्राद्ध, मूर्ति-पूजा, जप, तप, योग, पुनर्जन्म, व्रत, अनुष्ठान सभी के पक्ष में हैं। आत्म-शुद्धि के निमित्त वे इन्हें आवश्यक समझते हैं। किन्तु ये सब प्रभु-प्राप्ति के बहुत ही छोटे साधन हैं, इसलिए इन्होंने इनको विशेष महत्त्व नहीं दिया है।

गोस्वामीजी अद्वैतवाद को ही चर्मलक्ष्य मानते है। वेदान्तियो के अनुसार वे भी अद्वैत ब्रह्म को मानते है जैसे—

जड़ चेतन जगजीव जत, सकल राम मय जानि।
बन्दौं सबके पद कमल, सदा जोरि जुग पानि॥

एक अनीह अरूप अनामा, अज सच्चिदानन्द पर धामा।
सीय राममय सब जग जानो, करौं प्रणाम जोरि युगपानी॥

जीव और ब्रह्म में भी ये कुछ भेद नहीं मानते थे। वेदान्तियों की यह बात कि "जीवो ब्रह्मैव नापरा" उन्हें स्वीकार है। जैसे—

जौं सबके रह ज्ञान एक रस, ईश्वर जीवहि भेद कहहुँ कस।

फिर ईश्वर और जीव मे भेद क्या है? जिस प्रकार वेदान्ती ईश्वर और जीव का भेद बताते हुए कहते है कि जो

माया से परिछिन्न है वह तो जीव है और जो माया से परे है वही ब्रह्म है। गोस्वामीजी को भी यह सिद्धान्त स्वीकार है। लक्ष्मणजी के ईश्वर और जीव के भेद पूछने पर वे रामचन्द्र के द्वारा उत्तर दिलाते हैं—

माया ईस न आपु कहँ, जान कहिय सो जीव।
बन्ध मोच्छ-प्रद सर्वपर, माया प्रेरक सीव॥

वेदान्ती जिस प्रकार इस जगत् को मिथ्या मानते है, गोस्वामीजी भी इसे मिथ्या ही समझते है और वेदान्ती जैसे रज्जुसर्प और रजत सीप के दृष्टान्त देते है, ये भी सब उन्ही दृष्टान्तों को दुहराते है यथा—

जथा गगन घन पटल निहारी, झाँपेउ भानु कहहिं कुविचारी।
जासु सत्यता तें जड माया, भास सत्य इव मोह सहाया॥
रजत सीप मँह भास जिमि, जथा भानुकर वारि।
जदपि मृखा तिहुँकाल सोइ, भ्रम न सकै कोउ टार॥

वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार ये जितने भी नाम रूपात्मक पदार्थ है वे सभी मिथ्या है। तुलसीदासजी भी यही बात कहते है यथा—

गो गोचर जहँ लौ मन जाई, सो सब माया जानो भाई।

यह सब मानते हुए भी वेदान्तियों की और इनकी उपासना-पद्धति में बहुत अन्तर है। परमार्थ दृष्टि से तो ये जीव में और ब्रह्म में कुछ अन्तर नही समझते है, परन्तु व्यवहार में

जब तक पूर्ण ज्ञान न हो तबतक ईश्वर को श्रेष्ठ मानकर अथवा उसे स्वामी मानकर दास भाव से उसकी भक्ति करनी चाहिए। जैसा कि वे कहते हैं—

मुधा भेद जदपि कृत माया, बिनु हरि जाइन कोटि उपाया।

अन्तिम निष्ठा के सम्बन्ध में तो वे ज्ञान और भक्ति मे कुछ भेद भाव मानते ही नही यथा—

भगतिहि ग्यानहि नहि कछु भेदा,
उभय हरहि भव सभव खेदा।

परन्तु साधन की दृष्टि से वे भक्ति को ही श्रेष्ठ समझते है, उनके विचार मे बिना हरिभक्ति के इस संसार से पार होना दुस्तर है। यथा—

हरिमाया कृत दोष गुन, बिनु हरि भजन न जाहि।
भजिय राम सन काम तजि, अस विचार मन माहि॥

भक्ति को वे अविद्या के नाश के लिए बहुत सुगम और सरल उपाय समझते है। यथा—

भगति करत बिनु जतन प्रयासा,
संसृति मूल अविद्या नासा।

भक्ति को वे ९ प्रकार की बताते है। भक्ति-शास्त्रो मे भी नवधा ही भक्ति बताई गई है। यथा—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम्।
अर्चनं बन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

परन्तु तुलसीदासजी की नवधाभक्ति इससे भिन्न ही है। सबरी को श्रीरामचन्द्रजी नवधा भक्ति का उपदेश करते हुए बताते हैं—

नवधा भक्ति कहौं तोहि पाहीं,
सावधान सुनु धरु मनमाहीं।
प्रथम भक्ति संतनकर संगा,
दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भक्ति अमान।
चौथि भक्ति मम गुण गण, करै कपट तजि गान॥
मंत्र जाप मम दृढ़ विश्वासा, पंचम भजन सो वेद प्रकाशा।
छट दम शील विरति बहु कर्मा, निरत निरंतर सज्जन धर्मा॥
सप्तम सब मोहि मय जग देखै, मोते संत अधिक करि लेखै।
अष्टम यथा लाभ संतोषा, सपनेहु नहिं देखै परदोषा॥
नवम सरल सबसौ छल हीना, मम भरोस जिय हर्ष न दीना॥

इस प्रकार गोस्वामीजी ने ९ प्रकार की भक्ति बताई है। जिन लोगों में इनमें से एक प्रकार की भक्ति हो वे पुरुष भी धन्य है।

संक्षेप में तुलसीदासजी सगुणोपासना के पक्षपाती, भक्ति को प्रभु प्राप्ति का साधन माननेवाले तथा अन्त में निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त करने वाले थे। उन्हें भक्त अत्यंत प्रिय थे। वे स्वयं रघुनाथजी के अनन्य भक्त थे। उन्हें उन पुरुषों पर

आश्चर्य होता था जो ऐसे कृपालु भगवान को छोड़कर संसारी प्रपंचो मे फँसे हुए है—

अस प्रभु दीनबन्धु हरि, कारण रहित कृपाल।
तुलसीदास शठ नाहि भजु, छाँड़ि कपट जंजाल ॥

उपसंहार

गोस्वामी तुलसीदासजी के सम्बन्ध में हमे जो कुछ कहना था वह कह चुके। उनकी मृत्यु के सम्बन्ध मे एक दोहा बहुत ही प्रचलित है। वह यह है—

सम्वत् सोलह सौ असी, असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर ॥

इससे प्रतीत होता है कि काशीजी मे असीघाट पर संवत् १६८० मे इन्होने इस नश्वर शरीर का त्याग कर दिया। मृत्यु के पूर्व इन्हे बाहु की पीड़ा से बहुत अधिक कष्ट हुआ होगा। कवितावली रामायण के अन्तिम कवित्तो से ऐसा अनुमान किया जाता है। उन कवित्तो में इन्होने हनुमानजी से बाहु-पीड़ा मेटने की प्रार्थना की है। उनमे से ३ कवित्त यहाँ उद्धृत किये जाते है।

(१)

बाहु तरु मूल बाहु सूल कपि कछु बेलि,
उपजी सकेलि कपि केलि ही उपारिये।

भाल की कि काल की कि रोष की त्रिदोष की है,
बेदन बिषम पाप ताप छल छाँह की।
करम न फूट की कि जंत्र मंत्र बूट की,
पराहि जाहि पापिनी मलीन मन माँह की ॥
पैहहि सजाई नत कहहि बजाइ तोहि,
बावरी न होहि बानि जानि कपिनाह की।
आन हनुमान् की दोहाई बलवान् की,
सपथ महाबीर की जो रहे पीर बाँह की ॥

(२)

आपने ही पापतें त्रितापतें कि सापतें,
बढ़ी है बाँह बेदन सही न कही जाति है।
औषध अनेक जंत्र मंत्र टोटकादि किये,
बादि भये देवता मनाये अधिकाति है ॥
करतार भरतार हरतार कर्मकाल को है,
जग जाल जो न मानत इताति है।
चेरो तेरो तुलसी तूँ मेरो कहो रामदूत,
ढील तेरो वीर मोहि पीर न पिराति है ॥

(३)

पाप पीर पेट पीर बाँह पीर मुँह पीर,
जराजुर सकल सरीर पीरमई है।

देव भूत पितर करम खल कालग्रह,
मोहि पर दवरि कमान कसी दई है॥
हौं तो बिन मोलही बिकानो बलिवारे ही तें,
ओट राम नाम की ललाट लिखि लई है।
कुंभज के किंकर विकल बूडे गोखुरनि,
हाय रामराय ऐसी हाल कहूँ भई है॥

इन पद्यों के पढ़ने से प्रतीत होता है कि इन्हें बाहु-पीड़ा के कारण बहुत ही अधिक कष्ट हुआ होगा। इतने बड़े सन्त को भी दुष्ट रोग ने नहीं छोड़ा।

तुलसीदासजी के नाम से बहुत से ग्रन्थ मिलते है। उनमे निम्नलिखित १२ ही बहुत प्रसिद्ध है—रामायण, कवितावली, विनयपत्रिका, गीतावली रामायण, दोहावली, रामाज्ञा, बरवैरामायण, रामलला नहछू, पार्वती मंगल, जानकी मगल, कृष्ण गीतावली और वैराग्य संदीपनी।

तुलसीदासजी भक्त तो पूर्ण थे ही, साथ ही ज्ञानी भी उच्च-कोटि के थे। यद्यपि उन्होने नाम की महिमा गाते गाते यहाँ तक कह दिया है—

"भाव कुभाव अनख आलस हूँ, नाम जपत मंगल दिसि दस हूँ"

किन्तु यथार्थ में यह उनका असली सिद्धान्त नही है। यह चौपाई तो नाम की बडी भारी महिमा है, इस हेतु से लिखी गई है। असल मे उनका सिद्धान्त यही है कि

भक्ति भी समझकर ज्ञानपूर्वक करनी चाहिए। बिना विवेक के भक्ति किसी काम की नहीं।

तुलसीदासजी की कविता बड़ी ही मनोहर और हृदय-ग्राही है। सूरदासजी की कविता को छोड़ कर आजतक हिन्दी भाषा में इतनी सुन्दर कविता किसी भी कवि ने नहीं की। यद्यपि प्रसंगवश आई हुई कविताओं को पढ़ कर ही पाठक वृन्द उनकी अद्भुत कवित्व-शक्ति, अपूर्व आभा और असीम ज्ञान-गरिमा का परिचय पा चुके होंगे, किन्तु वे कविताएँ कवित्व की दृष्टि से उद्धृत नही की गईं। यहाँ पर हम उनकी कुछ ऐसी कविताएँ उद्धृत करते हैं जिनसे उनकी अपूर्व कवित्व-शक्ति का परिचय मिलता है।

कुछ कवितायें

(१)

श्रीरामचन्द्र कृपालु भजु मन हरन भव-भय दारुणम्।
नवकंज-लोचन कंज-मुख, करकंज पद-कंजारुणम्॥
कंदर्प अगणित अमित छबि, नवनील नीरज सुंदरम्।
पट पीत मानहुँ तड़ित-रुचि सुचि नौमि जनक सुतावरम्॥
भजु दीनबन्धु दिनेस दानव, दैत्य वंश निकंदनम्।
रघुनंद, आनदकंद, कोसलचंद, दसरथ नंदनम्॥
सिर मुकुट, कुंडल, तिलक चारु, उदार अंग विभूषणम्।

आजानु भुज, सरचाप धर, संग्राम जित खर-दूषणम् ॥
इति वदत तुलसीदास शंकर, शेष मुनि मन-रंजनम् ।
मम हृदय-कंज निवास करु, कामादि खल-दल-गंजनम् ॥

(२)

तन की दुति श्याम सरोरुह लोचन, कंज की मंजुलताई हरैं ।
अति सुंदर सोहत धूरि भरे, छबि भूरि अनंग की दूरि धरैं ॥
दमकैं दँतियाँ दुति दामिनि ज्यौं, किलकैं कल बाल-बिनोद करैं ।
अवधेस के बालक चारि सदा, तुलसी मन मंदिर में बिहरैं ॥

(३)

पुरतें निकसी रघुवीर-बधू, धरि धीर दये मग में डग द्वै ।
झलकी भरि भाल कनी जल की, पट सूखि गये मधुराधर वै ॥
फिरि बूझति है चलनोऽब कितो, पिय पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै ।
तियकी लखि आतुरता पियकी, अँखियाँ अति चारु चलीं जलच्वै ॥

(४)

पग नूपुर औ पहुँची कर-कंजन,
मंजु बनी मनि-माल हिए ।
नवनील कलेवर, पीत झँगा,
झलकैं पुलकैं नृप गोद लिये ॥
अरबिंद-सो आनन रूप-मरंद,
अनन्दित लोचन भृंग पिए ।

मनमें न बसो अस बालक जो,
तुलसी जग में फल कौन जिए ।

(५)

भये प्रकट कृपाला, दीन दयाला,
कौशिल्या हितकारी ।
हर्षित महनारी, मुनिमन हारी,
अद्भुत रूप निहारी ॥
लोचन अभिरामा, तनु घनश्यामा,
निज आयुध भुजचारी ।
भूषण बनमाला, नयन विशाला,
शोभा सिन्धु खरारी ॥
कह दुहुँ कर जोरी, अस्तुति तोरी,
केहि विधि करौं अनंता ।
माया गुण ज्ञाना-तीत अमाना,
वेद पुराण भनंता ॥
करुणा सुख सागर, सब गुण आगर,
जेहि गावहिं श्रुति संता ।
सो मम हित लागी, जन अनुरागी,
प्रकट भये श्रीकंता ॥
ब्रह्माण्ड निकाया, निर्मित माया,
रोम रोम प्रति वेद कहै ।

मम उर सो बासी, यह उपहासी,
सुनत धीर मति थिर न रहै ॥
उपजा जब ज्ञाना, प्रभु मुसकाना.
चरित बहुत बिधि कीन चहै ।
कहि कथा सुनाई, मातु बुझाई,
जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै ॥
माता पुनि बोली, सो मति डोली,
तजहु तात यह रूपा ।
कीजै शिशु लीला, अति प्रिय शीला,
यह सुख परम अनूपा ॥
सुनि वचन सुजाना, रोदन ठाना,
हुइ बालक सुरभूपा ।
यह चरित जो गावहि, हरि पद पावहि,
ते न परहिं भव कूपा ॥

(६)

नमामि भक्तवत्सलं, कृपालु शील कोमलम् ।
भजामि ते पदांबुजं अकामिनां स्वधामदम् ॥
निकाम श्याम सुंदरं, भवाम्बुनाथ मंदिरम् ।
प्रफुल्ल कंज लोचनं, मदादि दोष मोचनम् ॥
प्रलंब बाहु विक्रमं, प्रभोऽप्रमेय वैभवम् ।
निषंग चाप सायकं, धरं त्रिलोक नायकम् ॥

दिनेशवंश मंडनं, महेश चाप खंडनम् ।
मुनीन्द्र संत रंजनं, सुरारि वृंद भंजनम् ॥
मनोज वैरि वंदितं, अजादि देव सेवितम् ।
विशुद्ध बोध विग्रहं, समस्त दूषणापहम् ॥
नमामि इंदिरापतिं, सुखाकरं सतां गतिम् ।
भजे सशक्ति सानुजं शचीपति प्रियानुजम् ॥
त्वदंघ्रिमूल ये नरा भजन्ति हीन मत्सराः ।
पतन्ति नो भवार्णवे वितर्क वीचि संकुले ॥
विविक्त वासिनः सदा, भजन्ति मुक्त ये मुदा ।
निरस्य इन्द्रयादिकं प्रयान्ति ते गतिं स्वकाम् ॥
त्वमेकमद्भुतं प्रभुं निरीहमीश्वरं विभुम् ।
जगद्गुरुं च शाश्वतं, तुरीयमेव केवलम् ॥
भजामि भाव वल्लभं, कुयोगिनां सुदुर्लभम् ।
स्वभक्त कल्पपादपं, समस्त सेव्यमन्वहम् ॥
अनूप रूप भूपतिं, नतोऽहमुर्विजापतिम् ।
प्रसीद मे नमामि ते, पदाब्ज भक्ति देहि मे ॥
पठन्ति ये स्तवं इदं, नरादरेण ते पदम् ।
व्रजन्ति नात्र संशयस्त्वदीय भाव संयुतम् ॥

श्रीज्ञानेश्वरजी महाराज

आचार्यों ने सम्पूर्ण जीवों को चार श्रेणियो मे विभक्त किया है। उनकी संज्ञाये ये है—नित्य, बद्ध, मुमुक्षु और मुक्त। नित्य जीव कभी जन्मते-मरते नही है, वे सदा, सर्वदा एक रस ही रहे आते है। जैसे नारदादि ऋषि। बद्धजीव वे कहलाते हैं, जो संसार के अतिरिक्त और कुछ समझते ही नहीं, वे सदा संसारी भोगो के ही पीछे पागल हुए फिरते रहते है और इसी प्रकार चौरासी लक्ष्य योनियों मे चक्कर लगाते रहते है। मुमुक्षु जीव वह कहलाता है, जो इस संसार की अनित्यता को अनुभव करके यथार्थ आनन्द की प्राप्ति की इच्छा से सद्गुरु की शरण मे जाता है और वहाँ गुरु की सेवा में रह कर मोक्ष के लिए प्रयत्न करता है। मुक्त जीव वे होते है जिन्हें कभी भी संसार का बन्धन नही व्यापता। वे अपनी इच्छा से शरीर धारण करके जगत् में आते हैं। संसार के त्रितापो से दुःखित प्राणियो को वे अपने सदुपदेशों द्वारा सुख और शान्ति के सच्चे मार्ग तक पहुँचाते है। उन्हें संसारी माया व्याप्त नही होती। वे सुख दुख से परे होते है। राग द्वेष उनके पास फटकता नहीं। वे शीतोष्ण आदि मात्राओ के परिणाम से विचलित नहीं होते। उनके लिए संसार में आकर न तो ज्ञानार्जन ही

करना होता है और न वे सदा शास्त्रो की ही ओर ताकते रहते हैं। वे अज्ञानी उत्पन्न होकर ज्ञानी नहीं बनते, किन्तु उत्पन्न होने के पूर्व ही वे ज्ञानी होते है। बिना पढ़े ही वे शास्त्रों की गूढ़ से गूढ़ बातों को अपने आप ही बताने लगते है। संसार के व्यापारों में रत हुए बद्ध जीव उन्हें उस समय समझ नहीं सकते हैं। वे बेचारे समझें भी तो कैसे, उनकी आँखों पर तो अज्ञान की पट्टी बँधी हुई है, वे मोह रूपी मदिरा का पान करने के कारण पागल हुए रहते हैं। नशे मे चूर हुआ प्रमादी पुरुष भले बुरे की पहचान नहीं कर सकता, वह तो सभी को अपने जैसा ही समझता है। मुक्त जीवों को मान अपमान की परवाह नहीं रहती। उनकी चाहे कोई निन्दा करो अथवा स्तुति, उनके लिए दोनों समान हैं। वे कुछ समय तक संसार में अपना कार्य्य करके फिर अपने सत् स्वरूप में ही जाकर मिल जाते है। उनके पश्चात् विचारवानों की सहायता से लोग उन्हें समझते है और फिर उनके सदुपदेशो से अनन्तकाल तक लाभ उठाते हैं। ऐसे महा पुरुष समय समय पर देश के किसी भाग में उत्पन्न होकर उस प्रान्त को गौरवान्वित बनाया करते है। विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में दक्षिण देश मे एक ऐसे ही महापुरुष का आविर्भाव हुआ। वे महापुरुष कुल २१ वर्ष तक ही इस धराधाम पर विराजे, किन्तु इस अलपकाल में ही उन्होंने संसारी लोगो के निमित्त इतने उपकार का कार्य्य किया कि अनन्तकाल तक उनका नाम इस भूतल पर अमर

रहेगा। उन महापुरुष का नाम था श्रीज्ञानेश्वरजी महाराज।

वंश-परिचय और जन्म

महाराष्ट्र प्रदेश मे "आलन्दी" नाम का एक बहुत ही प्राचीन नगर है। उस नगर में विट्ठलपन्त नाम के एक अत्यंत ही धार्मिक विवेक वैराग्य सम्पन्न परम सात्विक ब्राह्मण निवास करते थे। जैसे वे धार्मिक और विवेकी थे वैसी ही पतिपरायणा और विवेकवती उनकी धर्मपत्नी थी। पन्तजी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं था, उनकी स्त्री परम सती साध्वी थी, भोजन वस्त्रों के लिए घर में कुछ कमी नही थी। भगवान ने उन्हें विद्या और बुद्धि भी प्रदान की थी। इन्ही सब कारणो से उनका दाम्पत्य जीवन दुखमय नही था, उन्हें यदि कोई दुःख था, तो वह एक यही था कि उनके कोई सन्तति नही थी। विट्ठल पन्त तो इस बात की कुछ विशेष परवाह नही करते थे, किन्तु उनकी धर्मपत्नी अपनी कोख को ख़ाली देखकर कभी कभी बहुत दुःखित हो जाती थीं। पन्तजी ने उन्हें अनेको बार समझाया, किन्तु स्त्रियाँ सन्तान के लिए कितनी लालायित रहती हैं, इसका अनुमान पुरुष नहीं कर सकते। यही कारण था कि पन्तजी के अनेकों बार समझाने बुझाने पर भी उनकी पत्नी का मनःसंताप दूर नहीं हुआ। पन्तजी ने अपनी स्त्री से कई बार सन्यासी होने की भी

आज्ञा माँगी थीं, किन्तु इनकी पत्नी सदा इन्हें इस कार्य्य से रोकती ही रही। एक दिन उन्होंने अपनी धर्म-पत्नी से कहा—

मैं गंगाजी-स्नान करने के निमित्त जाना चाहता हूँ, तुम्हारी इसमें क्या सम्मति है।" उनकी स्त्री उस समय कुछ उद्विग्न थीं। अन्यमनस्कता के कारण उनके मुँह से सहसा निकल पड़ा—"जाइये।" बस, पन्तजी ने इसे ही अपनी पत्नी की सम्मति समझ कर सन्यासी होने का निश्चय कर लिया और वे शीघ्र ही अपने घर से निकल पड़े। वहाँ से चल कर वे काशीजी मे आये। काशीजी में उस समय रामानन्द स्वामी का बड़ा भारी नाम था। वे उस समय के सर्वश्रेष्ठ धर्म-प्रचारक, समाज-सुधारक और परम विद्वान् साधु थे। पन्तजी ने उन्ही से आकर सन्यास की दीक्षा लेली और वहीं भगवती भागीरथी के तट पर रहकर शास्त्र-चिन्तन और वेदान्त विचार करने लगे। स्वामी रामानन्दजी को यह बात विदित नहीं थी कि यह अपनी स्त्री की इच्छा के बिना ही सन्यासी होगया है। पूछने पर इन्होंने कह दिया था कि मैं अपनी स्त्री की आज्ञा लेकर आया हूँ।

एक बार रामानन्द स्वामी रामेश्वर की यात्रा के लिए गये। रास्ते में ये आलन्दी में भी ठहरे। इनका नाम देश के कोने कोने में व्याप्त हो चुका था। ये जहाँ भी कहीं जाते वहीं झुंड के झुंड स्त्री-पुरुष इनके दर्शनों के लिए आजाते। आलन्दी में अन्य बहुत सी स्त्रियों के साथ विट्ठल पन्त की स्त्री भी स्वामीजी के

दर्शनों के लिए आई। पन्तजी की पत्नी ने स्वामीजी की भक्ति भाव से वन्दना की और स्वामीजी ने भी प्रसन्न होकर उसे आशीर्वाद दिया कि "पुत्रवती हो।" स्वामीजी के मुख से ऐसी असंभव बात सुनकर पन्तजी की स्त्री कुछ मुस्कराई। स्वामीजी ने इसका कारण पूछा, तो उसने कहा—"स्वामीजी महाराज, आप तो मुझे पुत्रवती होने का अशीर्वाद दे रहे है और मेरे पूज्य पति देव तो मेरी इच्छा के बिना ही, काशी जाकर सन्यासी हो गये हैं।" सब बाते सुन लेने पर स्वामीजी को निश्चय हो गया कि वही पुरुष इस स्त्री का पति है।

काशी आकर स्वामीजी ने पन्तजी को समझाया कि "बिना सन्तति के स्त्री।को छोड़ कर तुम्हारा सन्यासी होकर रहना ठीक नही है। इस समय तुम मेरी आज्ञा से अपने घर जाओ और फिर गृहस्थी बन कर रहो।" पन्तजी ने गुरु-आज्ञा शिरोधार्य्य की और वे सन्यास आश्रम को छोड़कर फिर गृहस्थो बन गये और आलन्दी में आकर अपनो पत्नी के साथ रहने लगे। विधि का बिधान तो देखिये, गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर इनके क्रमशः चार सन्तानें हुईं। सब से पहले निवृत्तिनाथजी हुए, उसके अनन्तर ज्ञानेश्वरजी, फिर सोपानदेव और अन्त में मुक्ताबाई नाम की एक लडकी हुई। ये सब के सब बाल्यकाल से ही अद्वितीय प्रतिभा-सम्पन्न, परम ज्ञानवान् और भक्ति के साक्षात् स्वरूप ही जान पड़ते थे।

यह बात हम पहले ही बता चुके हैं कि मुक्तजीव जन्म से ही ज्ञानी हुआ करते हैं। ज्ञानेश्वरजी भी जन्म के ही ज्ञानी थे. धीरे धीरे इनकी अवस्था ८ वर्ष की हुई, उस समय इनके ज्येष्ठ बन्धु निवृत्तिनाथजी की अवस्था १० वर्ष की थी। इनके पिता को अब बालको के उपनयन संस्कार कराने की चिन्ता हुई। किन्तु यह काम उस समय इनके लिए सरल नहीं था। ये सन्यासाश्रम का परित्याग करके गृहस्थी हुए थे। यह कार्य शास्त्र की मर्यादा के विरुद्ध था, कोई भी पडित सन्यासी के पुत्रों को दीक्षा देने के लिए राज़ी न हुआ। विट्ठल पन्त ने अनेक विद्वानो से प्रार्थना की, सभी पंडितों के पैर पूजे, कठिन से कठिन प्रायश्चित करने के लिए कहा, किन्तु पंडितों ने स्पष्ट कह दिया—"इस कर्म के लिए कोई प्रायश्चित्त ही नहीं है। बस इसका तो यही प्रायश्चित्त है, अपने जीवन का अपने आप ही अन्त कर दो। देहान्त के अतिरिक्त दूसरा कोई प्रायश्चित्त हो ही नही सकता।" विट्ठल पन्त ने विद्वान् ब्राह्मणों की व्यवस्था शिरोधार्य्य की। वे अपने गुरु की आज्ञा शिरोधार्य्य करके गृहस्थी हुए थे। जिस प्रकार गुरु की आज्ञा से उन्होंने सन्यास-धर्म को छोडने का निश्चय किया था, उसी प्रकार ब्राह्मणों की आज्ञा से उन्होंने अपने प्राणों का भी अन्त करने का निश्चय कर लिया। वे प्रयाग में गंगा-यमुना और सरस्वती के संगम पर पहुँचे और हँसते हँसते उन्होंने गंगाजी मे कूद कर अपने प्राणों को विसर्जन कर दिया।

प्रयाग से जब निवृत्तिनाथजी लौटकर आये तब उस समय उनकी अवस्था कुल १० वर्ष की थी। ज्ञानेश्वरजी ८ वर्ष के थे और उनसे भी छोटे दो भाई बहिन उनके और थे। ये सब के सभी बालक थे, इनके परिवार के लोगों ने इन्हें पैतृक सम्पत्ति मे से हिस्सा देना तो अलग रहा, उलटा इन्हें घर से भी निकाल दिया। बेचारे निरे बालक थे, करते ही क्या, इतना सब होने पर भी वे निराश न हुए और वहीं एक स्थान पर सब बहिन-भाई रहने लगे।

योग-क्षेम के निमित्त वृत्ति

पैतृक सम्पत्ति से तो ये वंचित ही रहे, छोटी अवस्था मे और कुछ ये कर ही नहीं सकते थे, अतः इन्हें भिक्षा-वृत्ति का ही आश्रय लेना पड़ा। भिक्षा के द्वारा चारों बहिन-भाई अपना निर्वाह करते और सदा शास्त्र-चिन्तन करते रहते।

इनके पिता के शरीर त्याग देने पर भी कोई ब्राह्मण इनका उपनयन कराने के लिए तैयार नहीं था। निवृत्तिनाथजी को इस बात की ऐसी विशेष चिन्ता भी नहीं थी, किन्तु ज्ञानेश्वर महाराज की प्रबल इच्छा थी कि उपनयन संस्कार अवश्य हो। उनका विचार था कि वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा का पालन अवश्य होना चाहिए। ब्राह्मणों ने उनसे कहा—"यदि पैठन के पंडितगण इस बात की व्यवस्था दे दें तो हम उपनयन करा सकते हैं।" इसलिए ये चारो बहिन भाई पैठन में गये। वहाँ

पहले तो ब्राह्मणों ने इन्हे व्यवस्था नही दी। उन्होंने कह दिया— सन्यासी के पुत्रों का उपनयन सस्कार शास्त्र-सम्मत नही है। किन्तु जब इन्होने अपने अपूर्व चमत्कार दिखाये, तब पंडितों ने इन्हें एक व्यवस्था-पत्र लिख दिया कि "ये चारों ही बालक अवतारी पुरुष हैं—इन्हें प्रायश्चित्त करने की आवश्यकता नही।" इस प्रकार ये पंडितों की व्यवस्था लेकर अपने गाँव में आये और वहीं आकर रहने लगे।

दीक्षा, तप और तीर्थ-यात्रा

इनकी प्रतिभा जन्म से ही अलौकिक थी, अतः इन्हें किसी भी प्रकार की वाह्य दीक्षा की आवश्यकता न थी, किन्तु तो भी इन्होने अपने बड़े भाई निवृत्तिनाथजी से योगाभ्यास की दीक्षा ली। निवृत्तिनाथजी जब छोटे ही थे, तब एक बार रास्ता भूलकर अञ्जनो पर्वत की एक गुफ़ा में पहुँच गये। वहाँ पर गैनीनाथजी महाराज तप कर रहे थे, इन्होने उनके चरणो में प्रणाम किया और प्रेम में गद्गद् हो कर वे उनके चरणों मे लोटने लगे। इनके ऐसे कोमल स्वभाव और प्रेम को, देखकर नाथजी परम प्रसन्न हुए और योग्य अधिकारी समझकर उन्होंने इन्हें योग का उपदेश किया। उसी ज्ञान को आकर निवृत्तिनाथजी ने अपने तीनो बहिन भाइयों को भी बताया। उसी दिन से ये सभी अभ्यास करने लगे।

पैठन से लौटने पर ये आलन्दी में आकर रहने लगे थे। आलन्दी में इनका समय भजन, ध्यान, कथा-कीर्तन और ब्रह्म-विचार में ही व्यतीत होता था। ये श्रीमद्भागवत, योगवाशिष्ठ तथा गीताजी का निरन्तर अध्ययन करते थे। १५ वर्ष की अवस्था में आपने गीता के ऊपर ज्ञानेश्वरी या भावार्थ-दीपिका नामकी टीका लिखी। इसीसे इनके अलौकिक होने का प्रमाण मिलता है। १५ वर्ष की अल्पावस्था में साधारण बालकों को किसी विषय पर ठीक ठीक विचार करने का भी ज्ञान नहीं होता, उस अवस्था में ऐसे विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ की रचना करना साधारण मनुष्य का काम नहीं है। अस्तु, गीता की टीका समाप्त करके आपने तीर्थ-यात्रा करने का निश्चय किया। अपने सभी बहिन-भाइयों के साथ आपने तीर्थ-यात्रा की। काशी, प्रयाग, बद्री, केदारनाथ, मथुरा, वृन्दावन, द्वारिका आदि तीर्थों में भ्रमण करते हुए आप पण्ढरपुर पहुँचे। वहाँ श्रीविट्ठलनाथ-जी का दर्शन करके भाई-बहिन के साथ आलन्दी लौटकर आ गये और अन्त तक वहीं रहे।

लोकोत्तर चमत्कार

अन्य साधु-महात्मा और सन्तों की भाँति श्रीज्ञानेश्वर महाराज के विषय में भी बहुत सी चामत्कारिक घटनाएँ हैं। वे जिस जिस तीर्थ में गये, वहाँ वहाँ पर इनके बहुत से

चमत्कार हुए । उन घटनाओं में से दो चार घटनायें हम नीचे उद्धृत करते हैं ।

(१)

पैठन में जब ये सब बहिन-भाई विद्वानों से व्यवस्था माँगने गये तब उन्होंने इन्हें व्यवस्था देने से मना कर दिया । इन्होंने उनसे बहुत सी बातें की । पडित लोग इनसे वेदों के सम्बन्ध में बातें करने लगे । इन्होंने कहा—"वेद का क्या मत है, यह इस भैंसे से पूछो । सभी सुनकर चकित होगये । इन्होंने भैंसे को आज्ञा दी कि अमुक वेद का अमुक मन्त्र बोलो तो सही । इन की आज्ञा पाते ही भैंसा वेद-मन्त्र बोलने लगा । सभी पंडित आश्चर्य्य चकित रह गये और उन्हें अवतारी पुरुष माना ।

(२)

इसी प्रकार श्राद्ध के सम्बन्ध में बात-चीत होने पर इन्होंने पितृलोक से सजीव पितरों को बुला दिया और उन्होंने अपने हाथों से श्राद्धान्न ग्रहण किया ।

(३)

जब ये तीर्थ-यात्रा करते हुए काशीजी में पहुँचे तब वहां एकान्त स्थान में जाकर ठहरे । उस समय काशी में मुद्गलाचार्य नाम के एक सत्पुरुष यज्ञ कर रहे थे । उस अवसर पर ज्ञानेश्वर महाराज भी वहां जा पहुँचे ।

यज्ञ में इस बात पर वाद-विवाद हो रहा था कि यज्ञ के समय अग्रपूजा किस की हो। यज्ञो में यही विषय बड़े बखेड़े का होता है। महाराज युधिष्ठिर के यज्ञ में भी इस विषय पर बड़ा झंझट हुआ। जब बहुत वाद-विवाद के पश्चात् कृष्ण भगवान् को अग्र पूजा का अधिकारी ठहराया गया और उनकी अग्रपूजा होने लगी तब शिशुपाल इस बात से बहुत ही क्रुद्ध हुआ। वह कृष्ण भगवान् को हज़ारो गालियाँ देने लगा। लड़ने तक को तैयार हुआ। भगवान् ने अपने चक्र-सुदर्शन से उसका शिरच्छेदन किया। इस प्रकार एक बड़े राजा की बलि देने के अनन्तर यह विधि समाप्त की गई। यही झगडा मुद्गलाचार्य्य के यज्ञ में भी उपस्थित था। आचार्य्य ने अन्य कोई उपाय न देख कर यह निर्णय किया कि मैं हथिनी को सूँड़ मे माला डाले देता हूँ, यह हथिनी जिसके गले मे माला पहना दे उसी की अग्रपूजा हो। यह सम्मति सबको अच्छी लगी। ऐसा ही किया भी गया। हथिनी ने यज्ञ मे बैठे हुए सभी पंडितों को एक एक करके देखा। जब वह ज्ञानेश्वर महाराज के निकट पहुँची, तब उसने इनके गले में माला डाल दी। सब लोग इस बात से अत्यंत प्रसन्न हुए और यज्ञ मे उनकी अग्रपूजा हुई।

कहते है कि इनका दिया हुआ यज्ञ का पुरोडास श्रीविश्वनाथजी ने अपने हाथों से स्वयं ग्रहण किया। इस बात से लोगों को इनके अलौकिक पुरुष होने में तनिक भी सन्देह नहीं रहा।

(४)

एक बार चाङ्गदेव नाम के एक योगिराज बाघ पर चढ़ कर इनसे मिलने आये। उनकी इस अद्भुत सामर्थ्य को देख कर सभी ग्रामवासी आश्चर्य्य चकित हो गये। ज्ञानेश्वर महाराज समझ गये कि ये योगिराज अपनी सिद्धाई दिखाने के लिए बाघ पर चढ़कर आये है। आपने उनका अभिमान चूर करना चाहा। महाराज अपने भाई बहिन सहित योगिराज को देखने के लिए एक भीत पर चढ़ गये और दीवार को चलने की आज्ञा दी। आज्ञा पाते ही दीवार चलने लगी। यह देख कर योगिराज बड़े लज्जित हुए और महाराज के पैरो में आकर पड़ गये। महाराज ने उन्हे उठाकर छाती से लगाया और बहुत से ज्ञानोपदेश दिये।

पारमार्थिक विचार और उपदेश

श्रीज्ञानेश्वर महाराज अद्वैतवादी थे। वे ब्रह्म को सत्य और जगत् को मिथ्या मानते थे। ज्ञान प्राप्त हो जाने पर जीव भी ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, इस सिद्धान्त को भी वे अक्षरशः मानते थे, किन्तु साथ ही वे शुद्धाभक्ति के भी पक्षपाती थे। भक्ति के सम्बन्ध में आप कहते हैं—"स्वप्न का दिखाई देना न देना जैसे अपने अस्तित्व पर निर्भर है, वैसे ही जिस प्रकाश से विश्व की उत्पत्ति या लय होती है॥१॥ वह जो मेरा स्वाभाविक प्रकाश है, उसी को हे कपिध्वज! भक्ति कहते हैं॥ २॥ अतः आर्तों में यह भक्ति इच्छा रूप हो, जिस

वस्तु की अपेक्षा करती है, वह मैं ही हूँ ॥ ३ ॥ जिज्ञासु में भी हे वीरेश ! यही भक्ति जिज्ञासा रूप होकर मुझे जिज्ञास्य रूप से प्रकट करती है ॥ ४ ॥ और हे अर्जुन ! यही भक्ति अर्थ प्राप्ति की इच्छा बन मानो मुझे ही अपनी प्राप्ति के पीछे लगाकर मुझे अर्थ नाम का पात्र बनाती है ॥ ५ ॥ एवं यदि मेरी भक्ति अज्ञान के साथ हो, तो वह मुझ सर्वसाक्षी को दृश्य रूप से बताती है ॥ ६ ॥ दर्पण मे मुख से ही मुख दिखाई देता है, इसमें कुछ सन्देह नही; परन्तु यह जो मिथ्या द्वितीयत्व है, उसका हेतु दर्पण है ॥ ७ ॥ दृष्टि वास्तव में चन्द्रमा को ही ग्रहण करती है, पर एक चन्द्र के जो दो रूप दिखाई देते हैं, वह नेत्र के ही कारण दिखाई पड़ते हैं ॥ ८ ॥ वैसे ही हे धनञ्जय ! वास्तव में मैं ही सर्वत्र निज को ही देखता हूँ, परन्तु जो मिथ्या दृश्य-पदार्थ दिखाई देते हैं, वह अज्ञान का कारण है ॥ ९ ॥ यह अज्ञान उस चौथे भक्त का मिट जाता है, और प्रतिबिम्ब जैसे बिम्ब मे मिल जाय, वैसे ही मेरी साक्षिरूपता मुझमे ही समा जाती है ॥ १० ॥ सोना जब मिश्रित स्थिति में रहता है, तब भी सोना ही होता है, परन्तु मिश्रण अलगाने पर जैसे हन शुद्ध रूप से शेष रहता है ॥ ११ ॥ अजी ! पूर्णमासी के पहले चन्द्रमा क्या सावयव नही रहता, परन्तु जैसे उस दिन उसकी पूर्णता उससे आ मिलती है ॥ १२ ॥ वैसे ही दिखाई तो मैं ही देता हूँ, पर अज्ञान के कारण दृश्य रूप से और भिन्न दिखाई देता हूँ, और दृष्टत्व विलीन होने पर मुझे ही अपनी प्राप्ति हो

जाती है॥ १३ ॥ अतएव हे पार्थ ! दृश्य-पथ के परे जो मेरा भक्तियोग है, उसे मैंने चौथा कहा है॥ १४ ॥"

अब यहाँ यह शंका हो सकती है कि भक्ति तो भेदवाद में ही हो सकती है। जिस का भजन करें वह अलग हो और भजन करनेवाला कोई दूसरा हो। जब जीव ही ब्रह्म हो गया तब फिर भक्ति किसकी की जाय। जबतक दास्य भाव बना हुआ है, तबतक एकरूपता कैसी ? परमहंस रामकृष्ण देव इसके सम्बन्ध में कहा करते थे कि "मिठाई खाने से रोग हो जाता है, परन्तु मिश्री की गणना अन्य मिठाइयों मे नही है। जगन्नाथ का प्रसाद अन्न नही समझा जाता। उसी प्रकार भगवत् दासत्त्व का बना रहना द्वैत नही कहा जा सकता। यह तो अन्त तक बना रहे तो अति उत्तम है।" ज्ञानेश्वरजी महाराज भी इस सम्बन्ध में कहते हैं—

"ज्ञानी को कुछ भी कार्य्य नहीं रहता। इसलिए भक्त उसी एक को जानो, जो ज्ञानी हो ॥१॥ क्योंकि उसके लिए ज्ञान के प्रकाश से भेद रूपी अन्धकार का नाश होजाता है, और एकता के कारण वह मद्रूप होजाता है, तथापि वह भक्त ही बना रहता है ॥२॥ परन्तु दूसरों को स्फटिक पर जैसे क्षण भर जल का भास होता है, वैसा उस ज्ञानी का हाल नही होता। उसका वर्णन अद्भुत है ॥३॥ जैसे वायु जब आकाश में विलीन होजाती है, तब क्या वायुत्व अलग नही रहता ? वैसे ही यद्यपि उसका ऐक्य होजाता है, तथापि "अ[illegible]"

संज्ञा बनी रहती है ।४॥ यदि हिलाकर वायु देखी जाय तो आकाश से भिन्न दिखाई देगी, अन्यथा आकाश तो स्वभावतः वैसा ही बना रहता है ॥५॥ वैसे ही वह शरीर से कर्म करता है, इससे भक्त जान पड़ता है, परन्तु आत्मानुभव के कारण वह मद्रूप ही है ॥६॥ ज्ञान का उदय होने के कारण वह मुझे अपना आत्मा ही समझता है, इसलिए मैं भी हर्ष युक्त हो, उसे वैसा ही समझता हूँ ॥७। अजी, जीव के परे का सकेत पाकर जो व्यवहार करना जानता है, वह क्या देह की भिन्नता के कारण आत्मा से भिन्न हो सकता है ?"

एक दूसरे स्थान पर श्रीज्ञानेश्वर महाराज ने कहा है— "चन्दन के संग जैसे सुगन्ध रहती है, चन्द्रमा के सङ्ग जैसे चन्द्रिका रहती है, वैसे ही अद्वैत-ज्ञान के संग भक्ति भी अवश्य रहती है।" ज्ञान की अन्तिम अवस्था और भक्ति की अन्तिम अवस्था यथार्थ मे एक ही है, उसे ही भगवान् ने परा भक्ति कहा है । ज्ञानेश्वर महाराज का भी यही मत मालूम पड़ता है ।

ज्ञानेश्वर महाराज सगुणोपासक थे । वे तीर्थ, व्रत, सेवा, पूजा, श्राद्ध, तर्पण सभी बातों को मानते थे । इन कार्यो से परमार्थ के मार्ग में बहुत कुछ मदद मिलता है । आत्म-शुद्धि के लिए ये सभी कार्य्य आवश्यक है ।

उपसंहार

ज्ञानेश्वर महाराज अपने समय के सन्त महात्माओं में से एक उच्च कोटि के महात्मा हुए है। इनकी अलौकिक प्रतिभा, विलक्षण बुद्धि, अद्भुत कार्य्य-शक्ति और विलक्षण व्यवहार-पटुता का ज्ञान, इनकी बनाई हुई गीता की टीका से मिलता है। मराठी भाषा के ये महात्मा आदि कवि समझे जाते हैं। इन्होंने सम्पूर्ण गीता की "भावार्थ-दीपिका" नाम की टीका मराठी भाषा के अभंगो (गीतो) मे बनाई है। यह टीका तो नाम मात्र की है, यथार्थ मे यह एक स्वतन्त्र मूल ग्रन्थ ही है । स्थान स्थान पर महाराज का अद्भुत पांडित्य प्रकट होता है। गीता के गूढ भावों को जैसी सरलता से ज्ञानेश्वरजी महाराज ने समझाया है, वैसी सरलता से देशी भाषा के शायद ही किसी कवि ने समझाया हो । एक एक विषय के सैकड़ो दृष्टान्त दे डाले है, समझाने की प्रणाली ऐसी चित्ताकर्षक और मनोरंजनपूर्ण है कि इतना गहन विषय होने पर भी पाठक पढ़ते पढ़ते ऊबता नही, किन्तु चित्त मे उत्सुकता बढ़ती हो जाती है कि देखें आगे क्या कहते है । इस ग्रन्थरत्न के द्वारा महाराज ने ससारी जीवों का बहुत ही अधिक कल्याण किया है। महाराष्ट्र मे इस ग्रन्थ का बड़ा भारी मान है। विद्वत्समाज में इसका आदर इसी प्रकार है, जिस प्रकार कि उत्तर भारत में तुलसीकृत रामायण का है। महाराज

ने इस ग्रन्थ को अपनी अवस्था के १५ वें वर्ष में लिखा था। इसीसे इनकी विलक्षण बुद्धि और अलौकिक प्रतिभा का प्रमाण मिलता है।

ज्ञानेश्वर महाराज का जन्म सम्वत् १३३२ वि० में बताया जाता है। ये २१ वर्ष तक इस धराधाम पर विराजमान रहे। इनके अन्तर्धान होने के सम्बन्ध मे यह प्रसिद्ध है कि इन्होंने जीवित ही समाधि ली थी। जब इनकी अवस्था २१ वर्ष की हो गई, तब इन्होंने अपने आप ही इन्द्राणी नदी के तट पर एक गुफा तैयार कराई। बहुत से सन्त महात्मा इस समाचार को सुनकर वहाँ एकत्रित होगये थे। सब ने मिलकर एकादशी को व्रत किया। द्वादशी के दिन सभी सन्तों के साथ महाराज ने पारायण किया। भजन-कीर्त्तन बराबर होता ही रहा। त्रयोदशी के दिन इन्होंने स्वयं ही समाधि में बैठने के लिए तुलसीपत्र और विल्वपत्र का आसन बनाया। सभी सन्त महात्माओं से अन्तिम विदाई ली और सभी ने रुँधे हुए कण्ठ से महाराज को अनुमति प्रदान की। भगवान् श्री विट्ठलजी ने प्रकट होकर स्वयं इनके ग्रन्थों की स्तुति की और इनके गले में फूलों की माला पहिनाई। श्रीज्ञानेश्वर महाराज ने विट्ठलनाथ की वन्दना की, साधु सन्तों ने महाराज की पद-रज मस्तक पर चढ़ाई। सभी ने महाराज का जय जयकार किया। उस गगन-भेदी जय जयकार के बीच महाराज ने समाधि ली। इनका एक हाथ स्वयं भगवान् विट्ठलनाथजी ने पकड़ा और दूसरा

इनके ज्येष्ठ बन्धु निवृत्तिनाथ ने। इस प्रकार उन्होंने अपनी सांसारिक लीला संवरण की। वे अपनी इच्छा से ही जगत् में आये थे और अपने कार्य्य की समाप्ति होने पर अपनी ही इच्छा से इस संसार से प्रथक् हो गये। उनका नश्वर शरीर भले ही नष्ट हो गया हो, किन्तु कभी भी नष्ट न होने वाली उनकी विमल कीर्ति संसार के अन्त तक अक्षुण्ण बनी रहेगी।

हमने इस ग्रन्थ में कबीरदासजी के परवर्त्ती महात्माओं के ही चरित्रों का समावेश किया है। कबीरदासजी के जन्म सम्वत् के विषय में अभी ठीक ठीक पता नही चला। यह बात तो निश्चय ही है कि वे श्रीरामानन्द स्वामी के शिष्य थे। ज्ञानेश्वर महाराज के पूज्य पिता ने भी इन्हीं स्वामी रामानन्दजी से सन्यास-दीक्षा ली थी। इससे यही अनुमान किया जाता है कि महाराज का आविर्भाव भी कबीरदासजी के ही समय में हुआ होगा। ये दोनों ही महात्मा समकालीन जान पड़ते हैं।

ज्ञानेश्वर महाराज ने मराठी भाषा में और भी बहुत से ग्रन्थ तथा फुटकर पद बनाये हैं। किन्तु ज्ञानेश्वरी उनकी सबसे उत्तम और अद्भुत रचना है। इसी हेतु इसका प्रचार भी बहुत अधिक है। यहाँ हम स्थल-संकोच से दो चार श्लोकों का भावार्थ दिखाने में असमर्थ हैं। ख़ाली एक ही श्लोक का भाव नीचे उद्धृत किया जाता है। इसीसे पाठकों को विदित हो जायगा कि महाराज ने किस ख़ूबी से विस्तार के साथ

गीता के श्लोकों का भाव प्रदर्शित किया है। मूल ग्रन्थ मराठी भाषा के अभंगों में है, अतः बीच बीच में जो संख्याएँ दी गई हैं, वे अभंगों की ही संख्याएँ है।

(१)

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वत·।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

यह बात तुम पहले ही सुन चुके हो कि इस ज्ञान-भक्ति से मुक्त होकर जो भक्त मुझसे एक रूप हो जाता है, वह केवल मद्रूप है ॥१॥ क्योंकि हे कपिध्वज! हम सातवें अध्याय में हाथ उठा उठाकर कह चुके हैं कि ज्ञानी हमारा आत्मा है ॥२। इसी भक्ति के अत्यंत उत्तम होने के कारण हमने कल्प के आरम्भ मे श्रीभागवत के मिस से ब्रह्मदेव को उसका उपदेश किया ॥३॥ ज्ञानी इसे आत्मज्ञान कहते है, शिवोपासक इसे शक्ति कहते है और हम अपनी परम भक्ति कहते है ॥४॥ कर्म-योगियों को मद्रूप होते समय इस भक्ति-फल का लाभ हो जाता है, जिससे उन्हें सम्पूर्ण जगत् केवल मुझसे ही भरा दिखाई देता है ॥५॥ उस समय वैराग्य और विवेक सहित बन्ध, मोक्ष में लय पाता है और वृत्ति भी निवृत्ति-सहित विलीन हो जाती है ॥६॥ जब "त्वं" पद सहित "तत्" पद भी विलीन हो जाता है, तब जैसे आकाश अन्य चारों भूतों को लीलकर स्वयं शेष रह जाता है ॥७। वैसे ही साध्य और साधन के परे शुद्ध

स्वरूप जो मैं हूँ, उस मुझसे एक रूप हो, वह पुरुष मेरा उपभोग करता है ॥८॥ जैसे गङ्गा समुद्र से मिलकर भी समुद्र में जुदी शोभा देती है, उसी प्रकार वह मेरा उपभोग करता है ॥९॥ अथवा दर्पण को जैसे कोई साफ़ घिसा हुआ दर्पण दिखाया जाय, वैसा ही उस उपभोग का सुख जान पड़ता है ॥१०॥ अथवा जब दर्पण अलग करने से चेहरे का दिखाई देना बन्द हो जाता है, तब जैसे देखने वाला केवल अपने में ही द्रष्टत्व सुख का अनुभव लेता है ॥११॥ जागृत होने पर स्वप्न नहीं रहता और अपनी एकता ही दिखाई देती है, उसका उपभोग जैसे द्वैत के बिना हा लिया जाता है ॥१२॥ [जो समझते हों कि एक रूप होने पर उस वस्तु का उपभोग नही हो सकता, वे शब्द से ही शब्द का उच्चारण कैसे करते हैं ॥१३॥ उनके गाँव में सूर्य्य को प्रकाशित करने के लिए, दीपक का उपयोग करते हों, अथवा आकाश को धारण करने के लिए मण्डप खडा करते हों, तो दूसरी बात है ॥१४॥ अजी, राजत्व प्राप्त किये बिना ही क्या कोई राजसुख का उपभोग कर सकता है ? अन्धकार क्या सूर्य्य का आलिंगन कर सकता है ? ॥१५॥ और जो आकाश नही हो जाता उसे आकाश की व्याप्ति क्या जान पड़ सकती है ? घुँघुचियों के अलङ्कार रत्नों के अलङ्कारों की शोभा कहीं दे सकते है ? ॥१६॥ अतएव जो मद्रूप नहीं होता, उसे मेरा ज्ञान ही कहाँ होता है ? फिर मेरी भक्ति का तो कहना ही क्या ?] ॥१७॥ तरुणाङ्गी जैसे तारुण्य का भोग

कर लेती है, वैसे ही वह कर्मयोगी मद्रूप हो, मेरा उपभोग कर लेता है ॥१८॥ तरङ्गें जैसे सर्वतः जल का चुम्बन करती हैं, प्रभा जैसे बिम्ब में सर्वत्र प्रकाशित होती है, अथवा आकाश जैसे आकाश मे सर्वत्र व्याप्त है ॥१९॥ वैसे ही वह पुरुष मत्स्व-रूप होकर कोई क्रिया किये बिना ही मेरा भजन करता है। सोने की घनता जैसे स्वभावतः सोने ही को भजती है ॥२०॥ अथवा चन्दन की सुगन्ध जैसे चन्दन का ही सेवन करती है, अथवा चन्द्रिका जैसे स्वभावतः चन्द्रमा मे ही अनुरक्त रहती है ॥२१॥ वैसे ही अद्वैत स्थिति में, वास्तव में कोई क्रिया न होते हुए भी, भक्ति हो सकती है। यह बात केवल अनुभव के ही योग्य है, शब्दों से कहने योग्य नहीं ॥२२॥ अतः वह पुरुष प्रारब्ध कर्मानुसार जो कुछ बोलता है, उन शब्दों से वह मानों मुझे ही पुकारता है और वही बोलना मेरा उत्तर देना है ॥२३॥ जहाँ बोलनेवाले को केवल उसी बोलनेवाले की भेंट हो और दूसरा कोई न रहे, वहाँ वास्तव में बोलने की क्रिया ही नही होती। ऐसा जो मौन है, वही मेरा उत्तम स्तवन है ॥२४॥ अतएव वह पुरुष जो कुछ बोलता है उससे मेरी (बोलने वाले की) भेट होते ही वह मौन होजाता है, उसी मौन भाव से वह मेरी स्तुति करता है ॥२५॥ उसी प्रकार हे किरीटी! वह बुद्धि से अथवा दृष्टि से जो कुछ देखने की चेष्टा करता है, वह दर्शन क्रिया दृश्य का लोप कर उसे देखने वाले का ही रूप बना देती है ॥२६॥ दर्पण में देखने के पूर्व

जो देखनेवाले का स्वरूप है, वही जैसे दर्पण में देखने से दिखाई देता है, वैसे ही उस पुरुष का देखना देखनेवाले की प्राप्ति करा देता है ॥२७॥ दृश्य का लोप होकर दृष्टत्व जब द्रष्टा मे ही लीन होजाता है, तब केवल एकता रहने के कारण द्रष्टात्त्व भी नही रह सकता ॥२८॥ तब जैसे जागने पर स्वप्न में देखे हुए प्रिय जन को आलिङ्गन करने की चेष्टा करते समय द्वैत न रहकर केवल आप ही अकेले रहते हैं ॥२९॥ अथवा जैसे दो लकड़ियाँ घिसने से उनमे से जो अग्नि उत्पन्न होती है, वह लकड़ी और अग्नि नामक द्वैत का नाम मिटाकर केवल आप ही बच रहती है ॥३०॥ अथवा सूर्य्य अपने प्रति बिम्ब को हाथ में ले तो, जैसे उसकी प्रतिबिम्बोदित बिम्बता जाती है ॥३१॥ वैसे ही देखनेवाला यदि मद्रूप होकर दृश्य-देखने जाय, तो वह दृष्टत्व सहित विलीन हो जाता है ।३२॥ सूर्य्य अन्धकार को प्रकाशित करता है, तब जैसे प्रकाश न रहने से उसकी प्रकाशकता भी नहीं रहती, वैसे ही मद्रूप होने पर दृश्य सम्बन्धी दृष्टत्व भी नहीं रहता ॥३३॥ फिर देखना और न देखना ऐसी जो दशा होती है, वह वास्तव में मेरा दर्शन है ॥३४॥ हे किरीटी ! उस दर्शन का उपभोग मेरा भक्त हर किसी पदार्थ की भेंट से, उसमें द्रष्टा या दृश्य के परे की दृष्टि द्वारा, सर्वकाल लेता है ॥३५॥ और आकाश जैसे आकाश के ही बोझ से नहीं डिगता वैसे ही उसकी स्थिति मुझ आत्मा के कारण हो जाती है ॥३६॥ कल्प के अन्त में जैसे जल जल से

ही प्रतिबद्ध हो जाता है और उसका बहना बन्द हो जाता है, वैसे ही वह मुझ आत्मा से भरा हुआ रहता है ॥३७॥ पाँव निज को ही कैसे लाँघ सकता है? अग्नि निजको ही कैसे लग सकती है? जल स्वयं जल से स्नान करने के लिए कैसे प्रवृत्त हो सकता है? ॥३८॥ अतः उसके सर्वत्र मद्रूप होकर रहने के कारण उसका जो आवागमन बन्द हो जाता है, वही मानो मुझ अद्वितीय की यात्रा करना है ॥३९॥ जल की तरङ्ग यद्यपि अत्यन्त वेग से दौड़े तो भी उसे किसी भूमि-भाग का आक्रमण नही करना पडता ॥४०॥ क्योंकि वह जिस वस्तु का ग्रहण करे चाहे त्याग करे तो भी उसके चलने का मार्ग अथवा चलना सब एक जल के ही आश्रय है ॥४१॥ एव तरङ्ग कही जाय, तथापि हे पांडुपुत्र! जल ही होने के कारण जैसे उसकी एकात्मता नही टूटती ॥४२॥ वैसे ही वह पुरुष—जो मुझसे सना हुआ रहता है—सब भावों से मुझमें आ पहुँचता है और इस प्रकार यात्रा करनेवाला बनता है ॥४३॥ शरीर के स्वभाव वश यदि वह कुछ कर्म करने जाय, तो उसे मद्रूप समझकर वह उसका अगीकार करता है ॥४४॥ उस समय हे पांडु-सुत! कर्म और कर्त्ता नही रहते, किन्तु मैं ही निज रूप से निजको ही देखता हूँ। इस प्रकार वह केवल मद्रूप ही होकर रहता है ॥४५॥ दर्पण दर्पण को देखे तो जैसे वह देखना नहीं कहा जा सकता, सोने को सोने से ही ढाँकना ढाँकना नही कहा जा सकता ॥४६॥ दीपक को दीपक ही से प्रकाशित करना प्रकाशित

करना नहीं कहा जा सकता; वैसे ही मेरा कर्म करना "करना" कैसे कहा जा सकता है? ॥४७॥ कोई कर्म करता ही रहे, परन्तु यदि ऐसा न कहा जा सके कि वह कर्म करता है, तो उसका करना न करना ही कहा जायगा ॥४८॥ सम्पूर्ण क्रियाएँ मद्रूप हो जाने के कारण जो अकर्तृत्व की घटना होती है, उसीका नाम मेरी सांकेतिक पूजा है ॥४९॥ अतः हे कपिध्वज! जो कर्म किया जाने पर भी न किया सा होता है उससे वह पुरुष मेरी महापूजा करता है ॥५०॥ एव वह जो बोले सो मेरा स्तवन है, जो देखे सो मेरा दर्शन है और जो चले सो मुझ अद्वितीय की यात्रा है ॥५१॥ वह जो करे सो मेरी पूजा है, वह जो कल्पना करे सो मेरा जाप है, और उसकी नींद लेना ही मेरी समाधि है ॥५२॥ कङ्कण जैसे सोने से अनन्य होकर रहता है, वैसे ही वह भक्ति-योग के द्वारा मुझमें अनन्य होकर रहता है ॥५३॥ जल में तरङ्ग, कर्पूर में सुगन्ध अथवा रत्न में प्रकाश जैसे अनन्य है, ॥५४॥ किंबहुना, तन्तुओं से जैसे वस्त्र, मिट्टी से जैसे घड़ा, वैसे ही मेरा भक्त मुझसे एक रूप होकर रहता है ॥५५॥ हे सुमति! इस अद्वैत भक्ति के द्वारा वह आप ही सम्पूर्ण दृश्य मात्र में मुझ द्रष्टा को भरा हुआ देखता है ॥५६॥ जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं के द्वारा उपाधि और उपाधि-युक्त रूपों से, तथा भाव और अभाव रूपों से जो कुछ दृश्य प्रतीत होता है ॥५७॥ वह सब "मैं ही द्रष्टा हूँ" ऐसे ज्ञान के बीच, हे सुभट! आत्मानुभव के आनन्द से नाचता है ॥५८॥ सर्प का

आभास दिखाई देनेके पश्चात् जब रस्सी दृष्टिगोचर हो जाती है, तब जैसे यह निश्चय हो जाता है कि वह सर्प नहीं, रस्सी थी ॥५६॥ अलङ्कार गलाने पर जैसे यह निश्चय हो जाता है कि उसमे सोने के अतिरिक्त अलङ्कारत्व एक रत्ती भर भी नही था ॥६०॥ यह जानकर कि जल के अतिरिक्त तरङ्ग कोई वस्तु नही है, जैसे उस आकार का ग्रहण नहीं किया जाता ॥६१॥ अथवा स्वप्न-विकार के अनन्तर जागृत होकर देखने पर जैसे अपने सिवा और कुछ दिखाई नही देता ॥६२॥ वैसे ही उस पुरुष को ऐसा अनुभव होता है कि संसार मे जो भी कुछ है या नहीं है, उस सबसे ज्ञेय वस्तु ही प्रकाशित होती है और वह जानने वाला भी मैं ही हूँ, तथा वह उस अनुभव का उपभोग लेता है ॥६३॥ वह जान लेता है कि मैं अजन्मा हूँ, जरा रहित हूँ, मैं अविनाशी तथा अक्षर हूँ, मैं अपूर्व तथा अपार आनन्द रूप हूँ ॥६४॥ मैं अचल तथा अच्युत हूँ। मैं अन्तरहित तथा अद्वितीय हूँ,मैं आद्य हूँ तथा व्यक्त और अव्यक्त इन दोनो ही से रहित हूँ ॥ ६५ ॥ ईश्य और ईश्वर दोनों ही हूँ, मैं अनादि तथा अमर हूँ, मैं भय रहित हूँ तथा आधार और आधेय मैं ही हूँ ॥ ६६ ॥ मै सर्वदा सबका स्वामी हूँ, मैं सर्वदा स्वभाव सिद्ध हूँ, मै सर्वदा सर्वगत हूँ तथा सबके परे हूँ ॥ ६७ ॥ मै नूतन तथा पुराना हूँ, मै शून्य तथा सम्पूर्ण हूँ, मैं सूक्ष्म हूँ, तथा अणु से भिन्न जो कुछ है सो मैं ही हूँ ॥ ६८ ॥ मैं क्रिया रहित तथा एक हूँ, मैं संग रहित और शोक रहित हूँ, मैं व्याप्त हूँ, तथा व्यापक

और पुरुषोत्तम हूँ ॥ ६९ ॥ मैं शब्द रहित तथा श्रवण रहित हूँ, अरूप तथा अगोत्र हूँ, मैं समान तथा स्वतन्त्र और परब्रह्म हूँ। ॥ ७० ॥ इस प्रकार वह मुझ अद्वितीय को आत्मरूप जान इस अद्वैत भक्ति द्वारा वस्तुतः जानता है और इस ज्ञान का ज्ञाता भी मुझे ही जानता है ॥ ७१ ॥ जागृत होने पर जैसे अपनी एकता ही शेष रहती है और वह निज की निजमें ही ज्ञात होती है ॥ ७२ ॥ अथवा सूर्योदय होने पर जैसे वही सूर्य्य अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है तथा अपने से अपने अभेद का द्योतक भी वही होता है ॥७३॥ वैसे ही ज्ञेय वस्तुओं का लय हो जाने पर जो केवल ज्ञाता शेष रहता है वही निजको जानता है तथा यह ज्ञान भी जिसे होता है ॥७४॥ उसे अपनी अद्वितीयता के कारण हे धनञ्जय! इस बात की प्रतीति हो जाती है कि जो ज्ञानकला है, वह मैं ईश्वर ही हूँ ॥७५॥ फिर यह जानकर कि द्वैत और अद्वैत के परे निश्चय से एक मैं ही आत्मा शेष रहता हूँ, उसका ज्ञान आत्मानुभव में लीन हो जाता है ॥७६॥ तब जागृति होने पर जो हमारी एकता दिखाई देती है, वह भी नष्ट होजाय, तो जैसे हमारा स्वरूप न जाने कैसा होगा ॥७७॥ अथवा अलङ्कार देखते ही जैसे उसे लगाये बिना ही उसके आकार तथा अलङ्कार का नाश हो जाने पर सुवर्ण का निश्चय हो जाता है ॥७८॥ अथवा लवण जल हो जाता है, तब उसकी क्षारता जल रूप से रहती है और उस जल के भी नाश होने पर जैसे उसका जल रूप होना भी

नष्ट हो जाता है ॥७९॥ वैसे ही वह पुरुष मद्रूपता के भाव को आत्मानुभव के आनन्द की एकता में मिलाकर मुझ में ही प्रवेश करता है ॥८०॥ और जब तद्भाव का नाम ही नही रहता तब "मै" शब्द का प्रयोग किसके लिए हो सकता है ? इस प्रकार वह न 'मै' न 'वह' इन दोनों से रहित होकर मेरे स्वरूप में ही समा जाता है ॥८१॥ तब जैसे कपूर जल चुकता है, उसी समय अग्नि भी बुझ जाती है और दोनो के परे की वस्तु आकाश शेष रह जाता है ॥८२॥ अथवा एक मे से एक घटाने से जैसे शून्य शेष रहता है, वैसे ही सब भावाभाव का शेष मैं ही बच जाता हूँ ॥८३॥ और फिर ब्रह्म, आत्मा, ईश्वर आदि शब्दों की इच्छा ही नही रहती, तथा न बोलने के लिए भी वहाँ कुछ अवकाश नही रहता ॥८४॥ उस स्थिति मे निःशब्दता ही बिना बोले मुँह भर के बोली जाती है तथा ज्ञान और अज्ञान दोनो ही न जानकर ज्ञान होता है ॥८५॥ उसमें ज्ञान ही ज्ञान को जानता है, आनन्द ही आनन्द का ग्रहण करता है, सुख ही केवल सुख भोगता है ॥८६॥ लाभ को ही लाभ प्राप्त होता है, आकाश ही आकाश का आलिंगन करता है, और विस्मय ही खड़ा खड़ा आश्चर्य्य में डूब जाता है ॥ ८७ ॥ उस स्थिति में शम शान्त होजाता है, विश्रान्ति को विश्राम प्राप्त होता है और अनुभव अनुभूति के कारण पागल हो जाता है ॥ ८८ ॥ बहुत क्या कहें, इस प्रकार उस पुरुष को कर्मयोग की सुन्दर बेल की सेवा करने से केवल आत्मरूपी फल प्राप्त होता है ॥८९॥

हे किरीटी ! मेरा भक्त अपने मन को मुझे अर्पण कर, मैं जो कर्मरूपी राजा के मुकुट मे ज्ञान रूपी रत्न हूँ, वह भी वही बन जाता है॥ ६० ॥ अथवा कर्मयोग रूपी मन्दिर का जो मोक्षरूपी कलश है, उसके भी ऊपर का आकाश रूपी प्रसार बन जाता है ॥६१॥ नही, नही, संसार रूपी जंगल मे कर्मयोग एक सरल मार्ग है, उससे चलकर वह मेरे एकतारूपी ग्राम में पहुँच जाता है ॥ ६२ ॥ यह भी रहने दो, कर्मयोग रूपी प्रवाह से उसकी भक्तिरूपी चिद्गंगा आत्मानन्दरूपी समुद्र मे जा पहुँचती है ॥६३॥ हे मर्मज्ञ ! कर्मयोग की महिमा यहाँ तक है । अतः हम बारबार तुम्हे इसी का उपदेश करते हैं ॥६४॥ मैं ऐसा नही हूँ कि देश, काल, पदार्थ इत्यादि साधनों से मेरी प्राप्ति हो सके । मैं सब का सर्वस्व बना ही बनाया हूँ ॥६५॥ इसलिए मेरे लिए कुछ आयास करना नही पड़ता । मैं इस कर्मयोग के उपाय से निश्चय ही प्राप्त हूँ ॥६६॥ एक शिष्य है और एक गुरु है, ऐसा जो लोक मे व्यवहार प्रचलित है, वह केवल मेरी प्राप्ति की रीति जानने के हेतु ही है ॥६७॥ अजी हे किरीटी, पृथ्वी के पेट मे द्रव्य तो सिद्ध ही है, काष्ठ मे अग्नि सिद्ध ही है, थनों में दुग्ध सिद्ध ही है ॥६८॥ परन्तु इन सिद्ध वस्तुओ को पाने के लिए उपाय करने पड़ते है, वैसे ही मै भी सिद्ध हूँ और उपायो से प्राप्त होता हूँ ॥६९॥ यदि कोई पूछे कि देव ! फल-प्राप्ति के वर्णन के अनन्तर फिर उपाय का प्रस्ताव क्यो करते है, तो इसका अभिप्राय यह है ॥१००॥ कि गीतार्थ

की उत्तमता सब मोक्षप्राप्ति के विषय में है। अन्य शास्त्रो के उपाय अनुभव सिद्ध नही है ॥१०१॥ वायु से मेघ हट जाते है, पर उससे सूर्य्य की घटना नही हो सकती, हाथ से सेवार अलग हो सकती है पर उससे जल नही बन सकता ॥१०२॥ वैसे ही शास्त्र से आत्मानुभव का प्रतिबन्धक जो अविद्या मल है उसका नाश होता है, पर जो निर्मल आत्मा है उसे स्वयं मैं ही प्रकाशित करता हूँ ॥१०३॥ अतः अविद्या का विनाश करने के लिए सब शास्त्र योग्य है, परन्तु वे आत्मानुभव के लिए समर्थ नही है ॥१०४॥ इन अध्यात्म शास्त्रो से जब सत्य का निर्णय पूछा जाय, तब वे जिस स्थान का आश्रय करते है वह गीता ही है ॥१०५॥ सूर्य्य से विभूषित पूर्व दिशा के कारण जैसे सब दिशाये प्रकाशमयी दिखाई देती है, वैसे ही मानों इस गीतारूपी शास्त्रों के राजा से सब शास्त्र सनाथ हुए है ॥१०६॥ अस्तु, यद्यपि इस शास्त्र ने पिछले अध्यायों में आत्मा को हस्तगत करने के उपायों का बहुत विस्तार के साथ वर्णन किया है ॥१०७॥ तथापि यह सोचकर कि एक बार सुनने से वह अर्जुन की समझ में कदाचित् ही आवे, श्रीकृष्णचन्द्रजी कृपा करके ॥१०८॥ वही सिद्धान्त शिष्य के हृदय में स्थिर करने के उद्देश्य से फिर एक बार संक्षेप से वर्णन करते है ॥१०९॥ और प्रसंगानुसार गीता भी समाप्त होने को आई, इसलिए आदि से अन्त तक गीता की एकार्थता भी बताते है ॥११०॥ क्योंकि इस ग्रन्थ के मध्य भाग मे अनेक अधिकार-वर्णन के समय अनेक सिद्धान्तों

का निरूपण किया है ॥१११॥ अतः कदाचित कोई पूर्वा पर सम्बन्ध न जानकर यह मान ले कि, इस ग्रन्थ में उतने सब प्रस्तावों का प्रस्ताव किया गया है ॥११२॥ इसलिए श्रीकृष्णचन्द्रजी एक महा सिद्धान्त के अन्तर्गत अनेक सिद्धान्तों की श्रेणियों को एकत्रित कर के प्रारम्भिक ग्रन्थ को समाप्त करते हैं ॥११३॥ अविद्या का नाश ही इस ग्रन्थ की भूमिका है, मोक्ष-सम्पादन ही इसका फल है, और इन दोनों का साधनज्ञान है ॥११४॥ इतनी ही बात जो अनेक प्रकार से इस ग्रन्थ मे विस्तार से कही गई है उसीका फिर संक्षेपतः वर्णन करते है ॥११५॥ उद्देश्य से, उपाय-साध्य वस्तु प्राप्त होने पर भी, श्रीकृष्ण फिर उपाय वर्णन करने के लिए प्रवृत्त हुए है ॥११६॥



महात्मा रैदासजी

महात्मा भगवत रसिकजी ने एक स्थान में लिखा है—

हरिजन, हिजरा, हुरकिनी, सती, सूरमा सोइ।
प्रकट होयँ सब जाति में, इनकी जाति न कोइ॥

बात सोलहो आने ठीक है। इनकी जाति ही क्या हो सकती है, जहाँ भी उत्पन्न हो जायँ। जाति-पाँति तो संसार के व्यवहार के लिए है। जाति-पाँति का काम लौकिक कार्य्यों मे पड़ता है। किन्तु जो कार्य्य अलौकिक है, जिनका लोक से कुछ वास्ता नही, वहाँ जाति नहीं पूछी जाती। रामानन्दी वैष्णवो में एक बड़ी ही प्रसिद्ध कहावत है, "जाति पाँति पूछै ना कोय, हरिको भजै सो हरि का होय"। यही कारण है कि बहुत से महात्मा ऐसी जाति में, जो कि सर्वसाधारण की दृष्टि में निम्न श्रेणी की समझी जाती है—उत्पन्न हुए है। परन्तु जाति मे उत्पन्न होने के ही कारण वे नीचे नही समझे गये, किन्तु बडे बड़े राजा महाराजाओं ने बिना किसी भेदभाव के उनके चरणो मे मस्तक नवाया। महात्मा रैदासजी भी उन्ही महापुरुषों मे से एक थे।

महात्मा रैदासजी काशी के एक चमार के यहाँ उत्पन्न हुए थे। इनकी माता का नाम घुरबिनिया तथा पिता का नाम रग्घू था। इनके पिता जूता बना कर बेचा करते थे, यही उनका पैतृक व्यवसाय था।

वंशपरिचय और जन्म

प्रायः देखा गया है कि जो बालक जिस प्रकार के होने वाले होते हैं वे अपने बाल्यकाल में वैसे ही खेल खेला करते है। जिसे चोर होना होता है, वह बालकपन से ही छोटी मोटी चीज़ों को चुराने लगता है और धीरे धीरे वही आगे चल कर प्रसिद्ध चोर हो जाता है। इसी प्रकार जो भक्त होता है, उसके बालकपन से ही वैसे लक्षण प्रतीत होने लगते हैं। रैदासजी का भी यही हाल था। जबसे ये कुछ जानने तथा समझने लगे तभी से साधु-सेवा तथा सत्सग करने लगे। ये सदा अच्छे अच्छे महात्माओ की तलाश मे घूमा करते, जहाँ इन्हे कोई अच्छा महात्मा मिला, झट उसकी सेवा मे लग गये। ये जो कुछ भी पाते, सभी को साधु-सेवा मे ख़र्च करते।

बाल्यकाल

इनके पिता इनके इस काम से सदा असंतुष्ट रहते और इन्हें इसके लिए सदा डाटा-डपटा करते थे। उनका कहना था कि रुपये को किसी काम मे ख़र्च करना चाहिए, वैसे ही व्यर्थ में उसे बहा देना ठीक नही। किन्तु ये भगवत्, भक्ति और

साधु-सेवा के अतिरिक्त और कोई अच्छा कार्य्य समझते ही न थे। इसीलिए पिता के बहुत समझाने पर भी इन्होंने अपनी स्वाभाविक आदत को न छोड़ा। पिता इनके कार्यों से सहमत न हो सके और उन्होंने असन्तुष्ट होकर इन्हें अपने से अलग कर दिया।

पारिवारिक जीवन और व्यावहारिक वृत्ति

इनका विवाह पहले से ही हो चुका था, इसलिए पिता ने इनकी स्त्री के साथ इन्हें अपने से अलग कर दिया और निर्वाह के निमित्त न तो कुछ द्रव्य ही दिया और न कुछ गृहस्थ के लिए उपयोगी वस्तुएँ ही दीं। पिता के कहने पर ये प्रसन्नतापूर्वक अलग होगये।

ये अपना पैतृक धंधा—जूता बनाने का काम—ही करते थे और अपनी अन्तिम अवस्था तक उसे नहीं छोड़ा। भगवत्-भक्ति के लिए यह कोई आवश्यक थोड़े ही है कि अपने सांसारिक कार्य छोड़ने ही पड़े। अपने कार्य को कर्तव्य-कर्म समझकर निर्लेप भाव से करता हुआ भी मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है। जैसा कि भगवान् ने स्वयं कहा है—

> स्वे स्वे कर्मण्यभिरताः संसिद्धिं लभते नरः।
> स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिंविन्दन्ति मानवाः॥

रैदासजी ने भी इस महान् कठिन पथ का ही अनुसरण किया। कार्य को करते हुए उससे पृथक् रहना यह बहुत कठिन

कार्य है। जिसके अनेक जन्मों के अच्छे संस्कार हों वही इस कठिन कार्य्य को करने में समर्थ हो सकता है।

इनके पिता ने इन्हें कोई मकान भी रहने के लिए नही दिया था। जूते बना बनाकर इन्होंने कुछ द्रव्य एकत्रित किया और उसीसे एक छप्पर बनवा लिया। बस उसी छप्पर में बैठकर वे प्रकट मे तो जूता बनाते रहते और अन्दर में निरन्तर योग की ज्योति जलती रहती।

वैराग्य और तप

इन्हें जन्म से ही सांसारिक भोगो से वैराग्य था। समर्थ होने पर ये सत्गुरु की खोज करने लगे, परन्तु नीच जाति चमार के बालक को भला कौन दीक्षा देने को राजी हो सकता था। उसी समय काशी मे महात्मा रामानन्दजी विराजमान थे। उन्होने धर्मशिक्षा के लिए जाति-बन्धन को हटा दिया था। किसी भी जाति का पुरुष क्यो न हो, उसे धर्म की असली जिज्ञासा होनी चाहिए, वह बिना किसी रुकावट के उनके सम्प्रदाय में सम्मिलित हो सकता था।

रैदासजी ने जब उनका नाम सुना, तब वे उनकी सेवा में उपस्थित हुए और अपना सर्वस्व उनके चरणो पर अर्पण कर दिया। महात्मा रामानन्दजी ने भी इनका उत्कट धर्म-प्रेम और भगवान् के चरणों में अनुपम भक्ति-भाव देखकर इन्हें अपना लिया और मन्त्र-दीक्षा देकर अपना प्रधान शिष्य

बनाया। उसी दिन से ये अनन्य भाव से परमात्मा की भक्ति करने लगे।

रैदासजी अपने घर मे सालिगरामजी की एक मूर्ति रखते और उसीकी सेवा पूजा किया करते। इनका भजन, ध्यान अहर्निशि चलता रहता। रैदासजी जूता बनाते रहते थे और पास मे बैठे हुए सजातीय बन्धुओं से भगवान् के गुणों का वर्णन तथा कीर्त्तन करते रहते थे। इस प्रकार निरन्तर के अभ्यास से इन्होंने सिद्धि प्राप्त की।

अन्य महात्माओ की भाँति इनके सम्बन्ध मे भी कुछ कथाएँ प्रसिद्ध है। उनमे से कई कथाएँ हम यहाँ उद्धृत करते है।

(१)

एक बार एक महात्मा इनके पास आये। उनके पास एक पारस पत्थर था। इनकी भक्ति देखकर वे बड़े प्रसन्न हुए। साथ ही उन्हें इनकी दरिद्रावस्था पर दु:ख भी हुआ। उन्होंने पारस पत्थर को रैदासजी को दिखा कर कहा—"देखो, यह पारस पत्थर है। लोहे को इससे छुआ देने से लोहा सोना बन जाता है। इसे मैं तुम्हे दिये जाता हूँ, इससे तुम जितनी इच्छा हो, उतना सुवर्ण रोज़ बना लिया करना।" साथ ही उन्होंने एक राँपी (जूता सीने का एक औज़ार) को उससे छुआ कर सोना बना कर दिखा भी दिया।

रैदासजी ने कहा—"महाराज, मैं इसका क्या करूँगा, आप इसे ले जायँ। मुझे इसकी आवश्यकता नहीं है।" जब महात्मा ने बहुत अधिक आग्रह किया तब रैदासजी ने कहा—"यदि आप नहीं मानते है, तो इसे छप्पर में कहीं रख दीजिये।" महात्माजी ने छप्पर के एक कोने मे उसे रख दिया और रैदासजी को बता दिया कि अमुक स्थान में रखा है। इतना कह कर वे चले गये।

१०-१२ वर्ष के पश्चात् वे महात्मा घूमते फिरते फिर काशीजी आये। उन्हें रैदासजी की याद आगई। उन्होंने मन में विचारा कि अब तो रैदासजी बहुत अधिक धनवान होगये होंगे, चलकर एक बार उनसे भेंट तो कर लें। जब वे उनसे मिलने गये तब उनके आश्चर्य्य का ठिकाना न रहा, देखा कि रैदासजी अपने उसी पुराने झोपडे मे बैठे जूता सी रहे है। रैदासजी ने उनका बड़ा भारी सत्कार किया। बातो ही बातों में उन महात्मा ने रैदासजी से पारस पत्थर के बारे में पूछा। इस पर रैदासजी ने सीधे स्वभाव से कहा—"महाराज, जहाँ आप उसे रख गये हो वहीं खोज लीजिये, रक्खा होगा, मैने तो उसे छुआ नही है।" महात्माजी यह सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और उनकी निस्पृहता की सराहना करने लगे।

(२)

काशीजी में रैदासजी की बडी ख्याति हो गई। बडे बड़े लोग उनके दर्शनों के लिए आने लगे। एक दिन कोई बडे भारी

सेठ उनके दर्शनों के लिए आये। उस समय रैदासजी अपने १०—५ सजातीय भाइयों के साथ बैठे कथा कह रहे थे। वह सेठ भी वहाँ बैठकर कथा सुनने लगा। जब कथा समाप्त हो गई तब चरणामृत बाँटा गया। उन चमारो में से एक बुड्ढा सा चमार उठा और एक बड़े से जूते मे, कठौते में से, जिसमें कि चमार लोग अपने चमड़े को भिगोते हैं—पानी भर लाया और उसे ही सब लोगों को देने लगा। सबको बाँटता हुआ वह सेठजी के पास भी आया। सेठजी ने संकोच मे आकर उसे ले तो लिया परन्तु पीने की हिम्मत न पड़ी। लोगों को दिखाने के लिए तो वे उसे मुँह तक ले गये, किन्तु ऐसी चालाकी से उसे पीछे फेक दिया कि और लोग यह समझ लें कि उन्होंने इसे पी लिया है। चरणामृत बँट जाने पर सब लोग अपने अपने घर चले गये और वह सेठ भी चला गया।

घर जाकर उसने देखा कि उसके कपड़ों पर चमड़े के जैसे दाग़ पड़ गये है। वे कपड़े उतार कर उसने धोने के लिये धोबी को दे दिये। धोबी जब उन कपड़ो को धोने लगा तब बहुत प्रयत्न करने पर भी वे दाग़ नही छूटे।

जो दाग़ धोने से नही छूटते है, उन्हें धोबी लोग दाँतो से छुटाते है। वह धोबी भी उन दाग़ो को दातो से छुटाने लगा। उसका उस कपड़े को दाँतों से चबाना था कि उसे वेद-शास्त्र की सभी बातें स्मरण होने लगी। कपड़ा लेकर जब वह सेठ के पास पहुँचा तब ज्ञान की बड़ी ऊँची ऊँची बातें कहने लगा।

सेठ उसकी बातें सुनकर आश्चर्य्य करने लगा और उससे इसका कारण पूछा।

धोबो ने जवाब दिया "महाराज, जिस समय से मैंने मुँह से आपके कपडों के दाग छुडाये है उसी समय से मेरे अन्तः-करण के कपाट खुल गये है।"

सेठ को रैदासजी के यहाँ की बात याद आगई। वह जल्दी से कपड़े पहन कर रैदासजी के यहाँ पहुँचा। उस समय भी वहाँ कथा हो रही थी। सेठजी बडी श्रद्धा-भक्ति के साथ बैठ कर कथा सुनने लगे। थोड़ी देर में कथा समाप्त हुई। कथा की समाप्ति पर अन्य दिनो की भाँति आज चरणा-मृत नही बाँटा गया। सेठजी ने नम्रता के साथ पूछा—

"महाराज आज चरणामृत नही बँटेगा क्या?"

यह सुनकर रैदास जी हँसे, उन्होंने कहा—"भाई, वे तो उसी समय की बूँदें थीं, सो वह समय तो तुमने खो दिया। अब तो ख़ाली यह चमड़े का पानी है, सो कठौता भरा हुआ रक्खा है। इसे चाहो जितना पी लो।"

यह सुनकर सेठ बडा लज्जित हुआ और रैदासजी को प्रणाम करके चला गया। उसी दिन से यह प्रसिद्ध है कि 'वे तो समय की बूँदे थीं।

(३)

रैदासजी सभी चमारों से अच्छे जूते बनाते थे। उनके जूतों को लोग बहुत पसंद करते थे और सभी बड़े बड़े लोग

पहले साही देकर उनसे जूते बनवाते थे। एक ब्राह्मण देवता ने रैदासजी को जूते बनाने की साही दी। वे ब्राह्मण पंडिताई करते थे और राजा की ओर से नित्य-प्रति गंगाजी मे पुष्प चढ़ाते थे। जब वे रैदासजी के पास आते तब बड़े ही अभिमान के साथ उनसे राजा के पुष्प चढ़ाने की बात को कहते।

एक दिन रैदासजी ने कहा—

"पडितजी, आप राजासाहब की ओर से तो पुष्प चढ़ाते ही है, ये दो पैसे मेरी भी ओर से गंगाजी को भेट करना और वे जो कहें उसे आकर मुझसे कह देना।" यह कह कर उन्होने दो पैसे निकाल कर ब्राह्मण देवता को दिये। ब्राह्मण पैसा को लेकर अपने घर चला गया।

अन्य दिनो की भाति पडितजी आज भी गंगाजी पर पुष्प चढ़ाने गये। पुष्प चढ़ा कर वे सीधे घर को चल दिये। उन्हे रैदास के पैसे चढ़ाने का स्मरण नही रहा। थोड़ी दूर चल कर उन्हें रैदासजी के पैसो की याद आई। वे उलटे ही पॉवो लौटकर गगाजी पर आये। और यह कह कर कि "लै गगा मैया ये पैसा रैदासजी ने भेजे है"—उन्हे गगाजी मे छोड दिया। पैसो के चढ़ाते ही पडितजी को एक अद्भुत दृश्य दीखा। वे क्या देखते है कि गंगाजी मे से एक बडा दिव्य हाथ निकला है और उसने ही पैसों को ग्रहण किया है। ब्राह्मण देवता यह देख कर चकित होगये। पैसों को लेकर हाथ अदृश्य होगया। थोड़ी देर मे फिर वही हाथ जल से बाहर निकला, अब के उस हाथ मे सुवर्ण का

एक दिव्य कंकण था। जल में से एक आवाज़ आई कि "इसे रैदास को दे देना।" ब्राह्मण ने कंकण को ले लिया और सीधा रैदास के घर की ओर चल दिया। रास्ते मे ब्राह्मण ने सोचा—"क्यो न मैं इस कंकण को अपने ही पास रख लूँ। रैदास ने इसे देख थोडे ही लिया है?" इस विचार के आते ही वह रैदास के घर जाने वाली गली से लौट पडा और सीधा अपने घर को चला गया। बाजार में जाकर उसने उस कंकण को एक सुनार की दुकान पर बेच दिया। दूसरे दिन रैदासजी के पूछने पर उसने कह दिया—"हाँ मै चढ़ा आया।" रैदासजी ने पूछा—"गंगाजी ने कुछ कहा तो नहीं?" उसने कह दिया—"नही, कुछ भी नही कहा।" रैदासजी यह सुन कर चुप होगये।

वह कंकण एक सेठ ने ख़रीद लिया। एक दिन सेठ की स्त्री उस कंकण को पहन कर रानी से मिलने गई। रानी को वह कंकण बहुत ही अच्छा लगा। सेठानी ने वह रानी को समर्पण कर दिया। रानी ने राजा से कहा—"इसी ढंग का एक कंकण मुझे और बनवा दीजिये।" राजा ने बहुत से सुनारों को बुलवाया, किन्तु सभी ने यह कहा—"महाराज, इस ढंग का कंकण हम त्रिकाल मे भी नही बना सकते। यह किसी मनुष्य के हाथ का बना नही है। इसे किसी देवता ने बनाया होगा।" राजा ने इस बात की खोज कराई कि यह आया कहाँ से? खोज लगते लगते उस सुनार का पता लगा। राजा ने सुनार को

बुलाकर उस से पूछा—"भाई, तुम्हें यह कंकण कहाँ से मिला ?"

उसने कहा—"अन्नदाता, मेरे यहाँ अमुक ब्राह्मण बेच गया था।" ब्राह्मण देवता बुलाये गये। राजा ने उनसे भी यही प्रश्न किया—"आपको यह कंकण कहाँ मिला ?"

अब तो ब्राह्मण देवता सटपटाये। लगे सिर खुजलाने। राजा ने उनकी ऐसी दशा देखकर डाँटकर पूछा—"ठीक ठीक बताओ तुम्हें यह कंकण कहाँ मिला, नहीं तो फिर ठीक नहीं होगा।"

ब्राह्मण ने गिड़गिड़ाकर विनीत भाव से कहा—"महाराज, मुझे तो गंगाजी ने दिया था। अब चाहे आप मारें चाहें छोड़ें, बात इस प्रकार हुई थी।" यह कह कर उसने रैदासजीवाली सभी घटना कह सुनाई।

राजा रैदासजी के पास पहुँचे और उनसे प्रार्थना की कि गंगाजी से हमें इसी प्रकार का एक कंकण और दिलवादो।

रैदासजी ने कहा—

"इन पंडितजी ने किया तो बहुत बुरा है। किन्तु जो हुआ सोठीक ही हुआ। अब गंगाजी के पास क्या चलें। यह कह कर चमड़ा भिगोने के लिए जो कठौते में पानी रक्खा था उस की ओर देखकर बोले—'मन चंगा तो कठौते में गंगा'—माता ऐसा ही एक कंकण और देदे।" यह सुनते ही एक दिव्य हाथ

कंकण लिये हुए कठौते से बाहर निकला। सभी लोग रैदासजी की भक्ति की सराहना करने लगे। राजा कंकण लेकर अपने स्थान को चला गया। तभी से यह कहावत प्रसिद्ध होगई कि "मन चंगा तो कठौती में गंगा"

(४)

मीराबाई जब काशी में आई, तब वह बहुत से साधु-महात्माओं के पास नित्यप्रति जाया करती। उसे महात्माओं से बड़ा प्रेम था। एक दिन वह रैदासजी की प्रशंसा सुनकर उनके भी पास गई। उनके दर्शनों से उसे बड़ी शान्ति हुई और वह उनकी शिष्या होगई।

जब काशी के पंडितों ने यह बात सुनी तब वे बड़े बिगड़े। उन्होंने बड़ा बावैला मचाया कि शूद्र को गुरु बनने का अधिकार किस शास्त्र में है। वे रानी के ऊपर बड़े नाराज़ हुए। मीराबाई ने कहा—"आप लोग घबराते क्यों है? मैं एक सभा करती हूँ, उसमें आप सब लोग अपने मंत्रों से प्रभु की प्रार्थना कीजिये और रैदासजी अपने ढंग से प्रार्थना करेंगे। जिसकी प्रार्थना पर भगवान् की मूर्ति सजीव हो उठेगी, मैं उन्हीं की फिर से शिष्या हो जाऊँगी। पंडितों ने इस बात को स्वीकार कर लिया।

नियत तिथि को सभा की गई। उसमें बड़े बड़े विद्वान् पंडित सम्मिलित हुए। रैदासजी भी सबसे अलग एक कोने

में बैठे हुए थे। बीच में ठाकुरजी का सिंहासन रक्खा हुआ था। पंडित लोग कई घंटों तक मंत्र-जाप और स्तोत्र-पाठ करते रहे। परन्तु उन्हें उन मंत्रों पर स्वयं ही विश्वास नहीं था, फिर भगवान् की मूर्ति कैसे सजीव होती, भगवान् तो घट घट की जाननेवाले हैं। वे भाव के भूखे हैं। ख़ाली वाणी से वे प्रसन्न नहीं होते।

जब पंडितों ने अपनी हार मानली तब रैदासजी बड़े ही प्रेम से एक पद गाने लगे। वे पद को गाते गाते ऐसे विह्वल हुए कि प्रभु के प्रेम में पागल की भाँति रुदन करने लगे। देखते ही देखते मूर्ति सजीव होकर रैदासजी की गोद में आ बैठी। सभी पंडित लज्जित हुए और रैदासजी की सच्ची भक्ति की प्रशंसा करते हुए अपने अपने घर चले गये।

(५)

मीराबाई जब रैदासजी को लेकर अपनी राजधानी में पहुँची तब उसने कुछ ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहा। परन्तु ब्राह्मणों ने कहा—"हम चमार की चेलों के यहाँ का भोजन नहीं करेंगे।" रैदासजी ने उन्हें समझाया कि सूखा आटा ले लेने में क्या हानि है। आप सूखा सामान ले लीजिये और अपने हाथ से बनाकर खाइये। ब्राह्मणों ने इस बात को स्वीकार किया और सूखा सामान लेकर उन्होंने सभी चीजें अपने हाथों से बनाईं।

जब वे भोजन करने बैठे तब क्या देखते हैं कि पंक्ति में एक एक ब्राह्मण के बीच में एक एक रैदास बैठा है। ब्राह्मण इस आश्चर्य्य को देखकर चकित होगये और उन्होंने भोजन करना छोड़ दिया। तब रैदास ने कहा—"घबराओ मत, हमारे पास भी यज्ञोपवीत है। यह कह कर उन्होंने शरीर चीर कर भीतर का यज्ञोपवीत दिखा दिया। इस बात से सब को संतोष हो गया और सभी फिर से भोजन करने लगे।

(६)

रैदासजी पूर्वजन्म में ब्राह्मण ब्रह्मचारी थे और रामानन्दजी के पास पढ़ते थे। इनके पास में ही एक सुनार रहता था। वह उनसे नित्यप्रति भिक्षा ग्रहण करने को कहता था। किन्तु ये उसका निषिद्ध अन्न समझ कर ग्रहण नहीं करते थे। एक दिन लालचवश इन्होंने उसका अन्न ग्रहण कर लिया। उसका चमारों के साथ लेन देन था। जब रामानन्दजी को यह बात मालूम हुई तब उन्होंने कहा—"जा चमार होजा।"

उसी समय उन्होंने उस शरीर को त्याग कर चमार के घर में जन्म ग्रहण किया। इन्हें पूर्वजन्म की स्मृति बनी रही और अपनी माता के स्तनों से मुँह तक न लगाया। जब रामानन्दजी ने जाकर इनके कान में गुरु-मन्त्र फूँका तब कहीं जाकर इन्होंने दूध पीना स्वीकार किया।

इनका सिद्धान्त और कबीर साहब का सिद्धान्त अधिकांश में मिलत-जुलता ही है। ये कबीर साहब

पारमार्थिक विचार और उपदेश

की भाँति प्रत्येक धर्म और प्रत्येक रूढि का इतनी तीव्रता के साथ खंडन नहीं करते थे। यद्यपि निर्गुण ब्रह्म इनका भी लक्ष्य था। यद्यपि वेदान्त सिद्धान्त के ये भी क़ायल थे, किन्तु साथ ही सगुणोपासना को ये प्रभु-प्राप्ति का साधन मानते थे। ये भी ज्ञानी के लिए पुस्तकी विद्या को व्यर्थ मानते थे। जिस उपाय से कर्मों के बन्धनो से छुटकारा मिले उसेही मुख्य तथा कर्तव्य—कर्म ये समझते थे—

धर्म निरूपन बहु बिधी, करत दीसै सब लोय।
कवन कर्म ते छूटिये, जेहि साधे सब सिध होय॥
कर्म अकर्म विचारिये, संका सुनि बेद पुरान।
संसा पड़ हिरदै बसै, कौन हरै अभिमान॥

इन्होने भी नाम-जप की बड़ी भारी महिमा गाई है। कलि-युग के लिए अन्य महात्माओ की भाँति ये भी नाम-जप को ही एक मात्र आधार समझते थे। यथा—

सतजुग सत त्रेताहिं जग, द्वापर पूजा चार।
तीनों जुग तीनो दृढे, कलि केवल नाम अधार॥

इन्होंने अन्य महात्माओ की भाँति सुरति शब्द-योग का भी वर्णन किया है। ये विनयी तथा भक्त भी उच्च कोटि के थे।

भक्ति के विषय मे इनका बडा ऊँचा धारणा है। तिलक, छाप, जप, तप, तीर्थ, व्रत इन सबको ये भक्ति का साधन तो मानते हैं किन्तु भक्ति के बिना ये कोरे दिखावटी चिह्न है, ढोंगियो के ठगने खाने की विद्या है। खाली वाह्य उपकरणो से प्रभु-प्राप्ति नही होती। जो अभिमान को छोड़कर आत्म-समर्पण कर देता है। वही असली भक्ति को पा सकता है। जैसा कि नीचे के पद मे कहा है—

भगती ऐसी सुनहुरे भाई, आइ भगती तब गई बड़ाई।
कहा भयो नाचे अरु गाये, कहा भयो तप कीन्हे।
कहा भयो जे चरन पखारे, जो लौ तत्व न चीन्हे॥
कहा भयो जे मूड़ मुडायो, कहा तीर्थ व्रत कीन्हे।
खाली दास भगत अरु सेवक, परम तत्व नहि चीन्हे॥
कह रैदास तेरी भगति दूर है, भाग बड़े सो पावे।
तजि अभिमान मेटि आपा पर, पिपलिक है चुनि खावे॥

संक्षेप मे ये अद्वैतवादी, एक ब्रह्म के उपासक, सगुणोपासना को साधन माननेवाले विनयी और भक्त थे। इनकी विनय अपूर्व है, सच्चे हृदय के भाव है। वाह्य पूजा की अपेक्षा ये मन की पूजा को अधिक महत्त्व देते है। जैसाकि नीचे के पद से प्रकट होता है—

राम मै पूजा कहा चढ़ाऊँ। फल और मूल अनूप न पाऊँ॥
थनहर दूध जो बछरू जुठारी। पुहुप भँवर जल मीन बिगारी॥
मलयागिर बेधियो भुअंगा। विष अमृत दोऊ कै संगा॥

मन ही पूजा मन ही धूप। मन ही सेऊँ सहज सरूप॥
पूजा अरचा न जानूँ तेरी। कह रैदास कवन गति मेरी॥

उपसंहार

रैदासजी के जन्म-सम्वत् का भी ठीक ठीक पता नहीं चलता। यह तो निश्चय ही है कि ये महात्मा कबीरदासजी के समकालीन हैं। इससे विद्वानो का अनुमान है कि इनका जन्म १४५० और १४५५ के लगभग हुआ होगा। यह बात तो निश्चित है कि ये अपनी पूर्ण आयु का उपभोग करके परलोक-वासी हुए हैं। लोगों का कहना है कि ये १२० वर्ष तक जीवित रहे। इससे इनका मृत्यु-सम्वत् १५७० के लगभग सिद्ध होता है।

इनके सजातियो पर इनकी भक्ति का उतना असर नहीं पड़ा जितना कि इनके शुद्ध चरित्र का। इनका चरित्र बड़ा ही शुद्ध, पवित्र और निर्मल था। ये मांस, मदिरा को छूते तक नही थे। इनके नाम से भी एक सम्प्रदाय चलता है। इनके सम्प्रदाय वाले अपने को रविदासी कहते हैं। वे लोग अधिकतर चमार ही होते हैं। इनकी वाणी के विषय में यह बात प्रसिद्ध है कि ये अपनी बृहद् वाणी को अपने साथ ही ले गये। इनके बनाये "रैदास की बानी" "रैदास की साखी" और "रैदास के पद" ये तीन छोटे छोटे ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनकी कविता बडी गहरी

और भावपूर्ण होता है। नीचे हम इनके कुछ पद उद्धृत करते हैं—

(१)

केहि बिधि पार पाइबो, कोउ न कहै समुझाइ।
कवन जुगत अस कीजिये, जाते आवागमन बिलाइ॥

(२)

रैदास कहै जाके हृदै, रहै रैन दिन राम।
सो भगता भगवंत सम, क्रोध न व्यापै काम॥

(३)

रैदास गाति न सोइया, दिवस न करिये स्वाद।
अहि निसि हरिजी सुमिरिये, छाडि सकल प्रतिवाद॥

(४)

हरि सा हीरा छाडि कै, करै आनकी आस।
ते नर जमपुर जाहिंगे, सत भासै रैदास॥

(५)

बाहर उदक पखारिये, घट भीतर विविध विकार।
सुद्ध कवन पर होइबो, सुचि कुंजर विधि व्यौहार॥

(६)

अब कैसे छुटै नाम रट लागी ।

प्रभुजी तुम चंदन हम पानी । जाकी अँग अँग बास समानी ॥

प्रभुजी तुम घन बन हम मोरा । जैसे चितवत चंद चकोरा ॥

प्रभुजी तुम दीपक हम बाती । जाकी जोति बरै दिन राती ॥

प्रभुजी तुम मोती हम धागा । जैसे सोनहि मिलत सोहागा ॥

प्रभुजी तुम स्वामी हम दासा । ऐसी भक्ति करै रैदासा ॥



श्रीसमर्थगुरु रामदासजी

महापुरुषों का जन्म लोक-कल्याण के निमित्त हुआ करता है। कोई महापुरुष तो अपने विशुद्ध और निर्मल जीवन को जनता के सम्मुख रख कर उसीके द्वारा महान् आदर्श की स्थापना करते हैं। कोई उत्कृष्ट जीवन के साथ ही साथ अधिकारी पुरुषों को उपदेश भी करते हैं और कोई कोई ऐसे भी होते हैं, जिनका चरित्र तो विशुद्ध शीशे की भाँति उज्वल होता ही है, किन्तु उपदेश के साथ ही साथ वे स्वयं भी लोकोपकार के निमित्त कार्य करते हैं। समर्थ गुरु श्री रामदास स्वामी ऐसे ही महापुरुषों में से थे। महाराष्ट्र में जो आज इतनी धार्मिक जागृति दृष्टिगोचर हो रही है, सम्पूर्ण देश में जो स्वाधीनता और स्वतन्त्रता की लहर उठ रही है उसमें रामदास स्वामी का बहुत बड़ा हाथ है। जिस समय में कि भारतवर्ष के कोने कोने में मुसलमानी साम्राज्य की तूती बोल रही थी, ऐसे भयानक समय में भी हम हिन्दुओं का अभ्युदय देख सके। ऐसे विकट समय में भी महाराज शिवाजी छत्रपति का आसन ग्रहण करके गौ, ब्राह्मणों की रक्षा कर सके। वह किन की कृपा और अनुग्रह के कारण? इसका एक ही उत्तर है समर्थ गुरु श्रीरामदास स्वामी के बल-भरोसे पर।

महाराष्ट्र प्रदेश में जाँव नामक एक ग्राम है। उसमे सूर्याजी-पन्त नामक एक धर्मनिष्ठ भगवत्भक्ति-परायण ब्राह्मण निवास करते थे। उनकी स्त्री का नाम राणूबाई था। इन्ही भाग्यशाली दम्पति को आगे चल कर समर्थ के माता-पिता होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

वंश-परिचय और जन्म

सूर्याजी पन्त सूर्य भगवान के उपासक थे। लोगो का कहना है कि इनकी भक्ति से सन्तुष्ट होकर सूर्यदेव ने प्रत्यक्ष प्रकट होकर उन्हें दो तेजस्वी पुत्र होने का वरदान दिया था। भगवान् सूर्यनारायण का वरदान कालान्तर में सफल हुआ और रानूबाई के गर्भ से दो पुत्र उत्पन्न हुए। पहला पुत्र शाके १५२७ में हुआ। उसका नाम सूर्याजीपन्त ने गंगाधर रक्खा। आगे चलकर ये बड़े प्रतिभाशाली और तेजस्वी हुए। महाराष्ट्र में ये "श्रेष्ठ" और "रामी राम दास" के नाम से प्रसिद्ध हुए।

"श्रेष्ठ" के जन्म के अढाई वर्ष पश्चात् शाके १५३० मे सौभाग्यवती रानूबाई के उदर से रामदास स्वामी का जन्म हुआ। इनके पिता ने बालकपन मे इनका नाम नारायण रक्खा था।

बालक नारायण बाल्यकाल मे बडा ही चञ्चल और दंगली था। सभी बालक उनसे डरते थे। ये शरीर से खूब हृष्ट-पुष्ट थे, चंचलता इनकी नस नस मे व्याप्त थी। बिना किसी को

बाल्यकाल

छेड़े तो ये रास्ते मे चलते ही न थे। दिन भर दौड़ना, खेलना कूदना और वृक्षो पर चढ़कर उनकी डालों डालो पर घूम आना, यही उनका नित्य का कार्य्य था। इन्हें बालकों के साथ खेलना, वृक्षो पर चढ़कर फल खाना और जल मे निरन्तर तैरते रहना बहुत पसन्द था। इनके सभी साथी वैसे तो इनसे प्रसन्न रहते, किन्तु इनकी छेड़खानी से वे कभी कभी इनसे खीज जाते।

इनके पिता ५ वर्ष की अवस्था मे इनका यज्ञोपवीत संस्कार करने के कुछ काल ही पश्चात् परलोकवासी हुए। अब इनकी देख-रेख का भार इनके ज्येष्ठबन्धु "श्रेष्ठ" के ही ऊपर पड़ा। इनका पैतृक व्यवसाय पौरोहित वृत्ति ही था। श्रेष्ठ भी अपने पिता की भाँति उपरोहित वृत्ति करते और लोगों को मंत्र-दीक्षा देते। इससे उनका निर्वाह होता था। अपने ज्येष्ठ बन्धु 'श्रेष्ठ' की देखरेख मे ही इन्होंने शिक्षा प्राप्त की। इन्होंने शिक्षा कहाँ तक प्राप्त की, कौन कौन से ग्रन्थों का इन्होंने विधिवत अध्ययन किया, इसका ठीक ठीक पता नहीं चलता। "दासबोध" के पढने से इतना तो अवश्य ज्ञात होता है कि ये गीता, महाभारत, श्रीमद्भागवत्, उपनिषदें और वाल्मीकीय रामायण से पूर्ण-रीत्या परिचित थे। फिर चाहे उन्होंने इन ग्रन्थो को विधिवत् पढ़ा हो अथवा किसी के द्वारा सुना हो। व्यावहारिक ज्ञान का तो फिर पूछना ही क्या है। बालकपन से ही इनमे सद्‌असद् विवेक करने की शक्ति थी। पुस्तकी विद्या की अपेक्षा प्रकृति के कार्यों से शिक्षा प्राप्त करना कहीं अधिक श्रेष्ठ है।

समर्थ में प्रकृति-पर्यवेक्षण की बाल्यकाल से ही शक्ति थी। इस प्रकार बाल्यकाल मे इन्होने पढ़ा तो थोड़ा, किन्तु सुना बहुत।

पारिवारिक जीवन

इनके परिवार मे इनके एक बड़े भाई और इनकी एक वृद्धा माता, बस इतने ही प्राणी थे। शिष्य सेवकों के यहाँ से अच्छी प्राप्ति थी, इसलिए इनका पारिवारिक जीवन सुखमय था। बड़े भाई का विवाह होगया था। समर्थ अपनी माँ के छोटे लडके थे। प्रायः देखा गया है कि माता का अपनी छोटी सन्तान पर सबसे अधिक स्नेह होता है। इनको भी इनकी माँ बहुत अधिक प्यार करती थी। माता की हार्दिक इच्छा थी कि मै अपने छोटे लडके का अपने सामने ही विवाह कर जाऊँ। वह अपने प्यारे बच्चे को बधू के साथ देखना चाहती थी। किन्तु समर्थ का जन्म विवाह करके अन्य सांसारिक मनुष्यों की भाँति जीवन बिताने के लिए थोड़े ही हुआ था। भगवान् को तो उनके द्वारा जनोद्धार करना था। फिर भला वे विवाह-शादी के झंझट मे क्यो फँसने लगे? जब जब उनके विवाह की बात चलती तब तब वे उसका घोर विरोध करते। एक बार तो विवाह का प्रसग आने पर ये घर से भाग भी गये। माता को इनकी ऐसी वृत्ति अच्छी नही लगती थी। माता अपने पुत्र को सांसारिक मनुष्य बनाकर ही सन्तुष्ट होना चाहती थी। उसे क्या पता था कि एक दिन सम्पूर्ण देश उसके वचनामृत से

सन्तुष्ट होगा। जैसे अन्य साधारण लड़के विवाह का नाम सुनते ही झूठ मूठ को मना करते हैं, इनकी माँ समझती थी कि उनसे यह थोड़ा बढ़कर है। उन्हें यह विश्वास था कि जिस किसी प्रकार से बहलाकर इस विवाह करने के लिये राज़ी कर लूँगी। वह इनसे एक दम निराश नहीं हुई थी।

एक दिन समर्थ की माता ने इन्हें बड़े प्रेम से बुलाया। पास में बिठाकर इनका मुँह चूमा और बड़े प्रेम से बोली—"नारायण, तू मेरी बात नहीं मानेगा?" समर्थ ने कहा—"माता जी मानूँगा क्यों नहीं, आप आज्ञा दीजिये, मैं उसका पालन करूँगा।" इस पर माता ने कहा—"तू विवाह करने से मना क्यो करता है? तुझे मेरा कहना मानना पड़ेगा। तू मुझसे प्रतिज्ञा कर कि अन्तर्पट पर्यन्त तू कहीं को भी भागकर न जायगा।" समर्थ ने माताजी की आज्ञा मानली और कहा—"हाँ, मैं अन्तर्पट होने तक किसी भी कार्य में कुछ भी आपत्ति न करूँगा।" माता यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुई। उसने उसी समय अपनी एक सजातीय ब्राह्मण की लड़की के साथ समर्थ का सम्बन्ध पक्का कर दिया।

वैराग्य और तप

नियत तिथि पर समर्थ को दूल्हा बनाकर गाजे-बाजे के साथ बरात लड़की वाले के द्वार पर पहुँची। विवाह के पूर्व के सभी संस्कार विधिवत् किये गये। समर्थ ने इन सब में कुछ भी आपत्ति नहीं की। जब भाँवरों का समय आया और पूजन

आदि कराके ब्राह्मणों ने "सावधान" "सावधान" कहा, त समर्थ को ध्यान हुआ। वे तो पहले ही से सावधान थे ब्राह्मणों के 'सावधान' कहने पर उन्हें और भी चेत हुआ औ ये विवाह-मंडप में से जल्दी से निकल कर जंगल की ओ भागे। लोगों ने बहुतेरा इनका पीछा किया, किन्तु ये तो सावधान थे, फिर भला इन्हें कौन पकड सकता था? ये जाकर जंगल में ऐसे छिप गये कि किसी को भी इनका पता न मिला। अन्त में लोग निराश होकर लौट आये। कन्या का दूसरे वर के साथ विवाह कर दिया गया। यह समाचार जब इनकी मात ने सुना तब वह मूर्छित हो गई। "श्रेष्ठ" के बहुत समझाने बुझाने पर उसने सन्तोष धारण किया।

विवाह के अवसर से सावधान होकर समर्थ नासिक पंचवटी आदि स्थानों में घूमते-घामते पंचवटी से दो तीन मील पूर्व की ओर गोदावरी के किनारे टाकली नामक ग्राम के पास जंगल में कुटिया बना कर रहने लगे। यहीं रहकर इन्होंने क्रिया-योग करना आरम्भ कर दिया। व्यासजी ने योगदर्शन के "तपः स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः" इस सूत्र पर भाष्य करते हुए बताया है कि तप कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रतों को कहते हैं। जिससे शरीर में सहन करने की शक्ति बढे और आत्मा पर उसका अच्छा प्रभाव पडे, असल में वही तप है। स्वाध्याय ओंकारादि मंत्रों के जाप को कहते हैं। सब कार्यों को ईश्वर के ही निमित्त समझ कर करने का नाम

'ईश्वर-प्रणिधान है। समर्थ ने इन तीनों ही कार्यों का आश्रय लिया। वे तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान इन्हीं तीनों कार्यों के करने में अपना समय यापन करते।

प्रातःकाल उठ कर वे पुण्यतोया गोदावरी में स्नान करते और कटि पर्यन्त जल मे खड़े होकर मध्याह्न पर्यन्त मंत्रजाप और पुरश्चरण करते। तदनन्तर वे भिक्षा लेने जाते। भिक्षा को शास्त्रकारों ने भी अमृतान्न कहा है। भिक्षा परिग्रह भी नहीं समझी जाती। उदरपूर्ति से अधिक इच्छा रखने का ही नाम परिग्रह है। त्यागी के लिए भिक्षा से बढ़कर और कोई वृत्ति उत्तम नहीं है। उसी भिक्षा-वृत्ति को यदि कोई सांसारिक वासनाओं से युक्त पुरुष ग्रहण करे तो उसे वह नीचे की ओर ले जाती है। तलवार बलवान् के ही लिए अस्त्र है, निर्बल के लिए वह स्वयं मौत का रूप धारण कर लेती है। नीतिकारों ने ठीक ही कहा है—

गुणा गुणज्ञेषु गुणा. भवन्ति ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषा·
आसद्य तोयं प्रभवन्ति नद्याः समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः।

समर्थ सच्चे गुणज्ञ थे, तभी तो भिक्षा-वृत्ति ने उन्हें इतना ऊँचा उठा दिया। वे दोपहर के समय घर घर से मधुकरी भिक्षा करके लाते और उसे अपने उपास्यदेव श्रीरामचन्द्रजी के अर्पण करके तदनन्तर प्रसाद पाते। सायंकाल को फिर वही मंत्र-जाप और पुण्य पुरश्चरण चलता। वे मंत्र-जाप के समय

भगवत्-चिन्तन मे ऐसे निमग्न हो जाते कि फिर उन्हे संसार का होश ही न रहता। निरन्तर कटि पर्यन्त जल मे खड़े रहने के कारण उनके नीचे के शरीर का चमड़ा गलकर सफेद पड़ गया था। मछलियाँ उनके पैरो में से मांस नोच ले जाती, किन्तु इन्हें इस बात का पता ही नही था। इस प्रकार गोदावरी के तट पर रहकर इन्होंने १२ वर्ष तपस्या की। तपस्या पूर्ण होने पर इन्होंने अपनी कुटिया मे हनुमान्जी की मूर्ति की स्थापना की और फिर आप देशाटन के निमित्त निकल पड़े।

यात्रा और भ्रमण

साधारण लोगो को ही तीर्थ-यात्रा और भ्रमण से बहुत लाभ होता है, फिर जिन्हे भगवान ने विवेक और उत्तम विचार-शक्ति प्रदान की है उनके लाभ का तो कहना ही क्या है? जितने जनोद्धारक महापुरुष हुए है उन सभो ने ही देश के प्रत्येक स्थानो मे घूम घूम कर उनके सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की है। समर्थ ने भी सभी मुख्य मुख्य तीर्थों और स्थानो की यात्रा की थी।

वे टाकली से अनेक दुर्गम स्थानो मे भ्रमण करते, अनेक नगर, ग्राम और वनों को देखते हुए पैदल ही काशीजी आये। यहाँ पर इन्होंने कुछ काल निवास किया और हनुमान घाट पर हनुमान्जी की मूर्ति की स्थापना कराई। काशी से वे अयोध्याजी होते हुए ब्रज मे आये और वहाँ उन्होंने मथुरा, वृन्दावन, गोकुल, महावन, नन्दगाँव, बरसाना आदि ब्रज के मुख्य मुख्य स्थानो की

यात्रा की। ब्रज से चलकर आप द्वारिकाजी की ओर चले। उधर आप द्वारिकाजी, पिंडार्क, प्रभास आदि तीर्थों में होते हुए पंजाब की ओर चले गये। कुछ काल पंजाब के नगरों और ग्रामों में भ्रमण करने के अनन्तर वे काश्मीर की ओर चले गये। वहाँ से आप हिमालय पहाड में चले गये और उधर के बद्रीनाथ, केदारनाथ, उत्तरकाशी आदि तीर्थों में जाकर दर्शन और सत्संग से लाभ उठाया।

उत्तर और पश्चिम की यात्रा समाप्त करके आपने पूरब की ओर प्रयाण किया और अनेक स्थानों में घूमते हुए जगन्नाथ-पुरी पहुँचे। उन्होंने चारों धामों की यात्रा की। समुद्र पार करके आप लंका तक गये और वहाँ आपने अपने इष्टदेव श्रीराम-चन्द्रजी के प्रेम में मग्न होकर बहुत से पदों की रचना की और वहाँ के मुख्य मुख्य स्थानों के दर्शन किये। इस प्रकार समर्थ ने चारों दिशाओं में भ्रमण करके देश की यथार्थ स्थिति का परिचय प्राप्त किया और साथ ही सत्संग और अनेक देशों के रीति-रिवाजों को जानकर अपने अनुभव-ज्ञान की वृद्धि की।

योग-क्षेम के निमित्त वृत्ति

समर्थ विरक्त महात्मा और भक्त थे। भिक्षा करके निर्वाह करना ही उनकी वृत्ति था। निस्पृह के लिए इस भिक्षा-वृत्ति से बढ़कर और कोई भी दूसरी वृत्ति उत्तम नहीं समझते थे। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "दास[illegible]" में भिक्षा

के ऊपर "भिक्षा-निरूपण" नाम का एक अध्याय ही लिखा है। उसमें वे एक स्थान पर लिखते हैं—

'ब्राह्मण की मुख्य दीक्षा यह है कि भिक्षा माँगना चाहिए और "ओं भवति पक्ष" की रक्षा करनी चाहिए। नित्य नूतन नूतन स्थानों में घूमना चाहिए। खूब देशाटन करना चाहिए। तभी भिक्षा माँगने में शोभा है और तभी प्रशंसा होती है। भिक्षा एक प्रकार की निर्भय स्थिति है, भिक्षा से महन्ती प्रकट होती है। भिक्षा के द्वारा स्वतन्त्रता मिलती है और ईश्वर-प्राप्ति होती है। आनन्द-पूर्वक भिक्षा माँगना चाहिए। यही निस्पृहता के लक्षण है। मधुर वचन से सबको सुख मिलता है।"

समर्थ के इस कथन का यह अभिप्राय कदापि नहीं हो सकता कि सभी लोग भिक्षा-वृत्ति को ही स्वीकार कर लें। उनके कहने का अभिप्राय इतना ही है कि जो जनोद्धार का महान् कार्य्य करता है, जो सांसारिक पदार्थों से निस्पृह है उसके लिए भिक्षावृत्ति ही उत्तम है। वे अपने एक पद में भिक्षा के उद्देश्य को स्पष्ट करके बताते हैं। वे कहते हैं—

"कुग्राम हो, चाहे नगर हो, घर घर छान डालना चाहिए और भिक्षा के बहाने से छोटे, बड़े सब प्रकार के लोगों की परीक्षा कर डालनी चाहिए। ऐसा करने से लोगों के सुख-दुःख मालूम होते हैं। उनके ज्ञान का लाभ अपने को मिलता है और अपने विचार उन पर प्रकट करने का मौका मिलता है।"

यदि इस उद्देश्य से भिक्षा की जाय तो भिक्षा का माँगना सार्थक भी कहा जा सकता है। यदि उदरपूर्त्ति के निमित्त दीन होकर किसी से भिक्षा माँगनी पड़े तो उससे तो मर जाना ही अच्छा है। ऐसे ही लोगों के लिए स्वयं भिक्षा-वृत्ति पर निर्भर रहनेवाले तुलसीदासजी कहते हैं—

तुलसी कर पर कर करो, कर तर कर न करो।
जा दिन कर तर कर करो, ता दिन मरन करो॥

शिष्यवर्ग और जनोद्धार

समर्थ के उनके सामने ही बहुत से शिष्य होगये थे। उन्होंने रामदासी सम्प्रदाय की भी स्थापना की थी। उसके बहुत से महन्त थे और वे भारतवर्ष के प्रत्येक तीर्थ-स्थान में रह कर लोकोद्धार का कार्य्य करते थे। इनकी महाराष्ट्र में बड़ी भारी ख्याति होगई थी। इनकी प्रशंसा सुनकर महाराज शिवाजी इनके दर्शनों के निमित्त जंगलों में गये और वे इनके शिष्य होगये। समर्थ ने इन्हें मन्त्रोपदेश दिया और इनसे कहा—"तुम्हारा मुख्य धर्म राज्य-सम्पादन करके धर्म-स्थापन करना, देव और ब्राह्मणों की सेवा करना, प्रजा की पीड़ा दूर करके उसका पालन और रक्षा करना है।' साथ ही उन्होंने यह आशीर्वाद भी दिया—"तुम्हारे मन में जो इच्छा होगी वह सब पूर्ण होगी।"

समर्थ का आशीर्वाद सफल हुआ और शिवाजी अपने गुरु के वरदान-धर्म की रक्षा करने में समर्थ हो सके।

शिवाजी की प्रार्थना पर समर्थ सज्जनगढ़ के क़िले में अपने कुछ शिष्यों के साथ रहने लगे । शिवाजी वहाँ अपने गुरु के दर्शनों के लिए बहुधा रोज़ ही आते थे ।

कुछ प्रचलित कथाएँ

समर्थ के सम्बन्ध मे भी बहुत सी कथाएँ प्रचलित है। उनमें से बहुत सी ऐतिहासिक दृष्टि से बिलकुल ठीक ही मानी जाती है और कुछ ऐसी है जिनके ऊपर उनके भक्त तथा शिष्यगण पूर्ण विश्वास करते है। नीचे हम उनमें से मुख्य मुख्य कथायें उद्धृत करते हैं।

(१)

समर्थ बालकपन से ही भक्त थे। जब इनके ज्येष्ठ भ्राता अन्य लोगों को मन्त्रोपदेश दिया करते थे तब एक दिन समर्थ ने उन से मन्त्रोपदेश ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की । इस पर उनके भाई ने कहा—"अभी तुम बालक हो। मन्त्रोपदेश ग्रहण करने की न तो तुम्हारी अवस्था ही है और न मन्त्रोपदेश ग्रहण करने के निमित्त जैसी पवित्रता की आवश्यकता है वही तुम में है।" यह सुनकर समर्थ कुछ खिन्न हुए और अपने गाँव के पास गोदावरी के तट पर हनुमानजी के मंदिर मे जाकर उनकी प्रार्थना करने लगे।

इनकी प्रार्थना से पवनकुमार हनुमान जी प्रसन्न हुए और स्वयं प्रकट होकर इनसे बोले—"अभी से मन्त्रोपदेश ग्रहण करने के निमित्त इतनी शीघ्रता क्यों करते हो?" यह सुनकर भी इन्होंने अपनी हठ न छोड़ी। इस पर हनुमानजी ने इन्हें श्रीरामचन्द्रजी का दर्शन कराया। तब श्रीरामचन्द्रजी ने स्वयं इन्हें 'श्रीराम जय राम जय जय राम" इस त्रयोदशाक्षरी मंत्र का उपदेश किया।

(२)

जब ये तीर्थाटन और भ्रमण कर रहे थे तब भ्रमण करते हुए काशीजी मे आये। जिस समय ये विश्वनाथजी के मंदिर में दर्शनो के निमित्त गये थे, उस समय मंदिर में कुछ पडित रुद्राभिषेक कर रहे थे। इनकी गेरुए रँग की कफ़नी और जटाओ को देखकर लोगो ने इन्हे मुसलमान समझा और विश्व-नाथजी के दर्शनो के लिए भीतर मंदिर में नही जाने दिया। इन्होने रोकनेवाले से कुछ भी न कहा और यह कह कर कि "जैसी श्रीरामचन्द्रजी की इच्छा" ये अपने निवास-स्थान के लिए लौट पड़े। इनका लौटना था कि शिवजी की मूर्ति लोप हो गई। रुद्राभिषेक करनेवाले सभी पंडित अवाक् रह गये। किसी ने कहा—"यह जो अभी साधु आया था यह सब उसी की करामात है।" यह सुनकर बहुत से लोग समर्थ के पास गये और उन्हे अनुनय-विनय करके लौटा लाये। उनके आते ही फिर मूर्ति के दर्शन होने लगे।

(३)

१२ वर्ष की तपस्या और १२ वर्ष के भ्रमण के अनन्तर समर्थ एक दिन अपनी माता के दर्शनों के निमित्त अपनी जन्म-भूमि मे पहुँचे। अपने घर के दरवाज़े पर पहुँचकर इन्होंने "जय जय श्रीरघुवीर समर्थ" की ध्वनि की। इनकी माता ने इन्हे कोई अन्य साधारण ही भिक्षुक समझा और अपनी बहू (श्रेष्ठ की स्त्री) से कहा—"साधु को भिक्षा डाल दे।" इस पर समर्थ स्वामी ने हँसकर उत्तर दिया—"यह साधु ऐसा नही है जो ख़ाली भिक्षा लेकर ही लौट जाय। आज का साधू एक अजीब साधु है।" माता ने अपने प्यारे पुत्र की आवाज पहचान ली और बड़े ही प्रेम से बोली—"क्या मेरा नारायण आया है, क्या ?" यह सुनते ही समर्थ मा के चरणो मे गिर पड़े। माता ने पुत्र के ऊपर प्रेम से हाथ फेरा। उस समय समर्थ की दाढ़ी तथा सिर के बाल बढे हुए थे। माता को आँखो से तो दीखता ही न था। जिस दिन से समर्थ भाग गये थे, उसी दिन से माता दिन-रात्रि रोती रहती थी। रोते रोते उनके दोनो नेत्र जाते रहे थे। दाढ़ी तथा बालो पर हाथ फेरती हुई मा बोली—अरे, मेरा नारायण तो दाढ़ी मूँछो वाला होगया है। मै उसे कैसे देखूँ ? नेत्रो से भी तो दीखता नही है।

माता की विवशता को देखकर समर्थ को दया आई। उन्होने अपनी माता के नेत्रों पर अपना हाथ फिराया। उनके हाथ फिराते ही माता को दीखने लगा। इस पर माता को बडा

आश्चर्य हुआ। उसने समर्थ को आगे बैठा देखा। वह प्रेम मे विह्वल हो गई। २४ वर्ष के बिछुड़े हुए बच्चे को कंठ से लगा कर बोली—"नारायण, तू यह भूत-विद्या कहाँ से सीख आया है?" इस पर समर्थ स्वामी ने उत्तर दिया—"जो भूत कि अयोध्या में निवास करता है, जो भूत सरयू के तीर ही घूमता है, जो भूत कि कौशल्या की क्रीड़ा में लीलाएँ करता रहता है, हे माँ, मैंने उसी भूत से यह विद्या सीखी है।"

माता अपने बच्चे को देखकर बड़ी प्रसन्न हुई। समर्थ वहाँ कुछ काल रहे, तदनन्तर वे ज्येष्ठ भाई तथा माता की आज्ञा लेकर गोदावरी की प्रदक्षिणा के लिए चले गये।

(४)

एक बार समर्थ ने अपने शिष्यों की परीक्षा करनी चाहा कि हमारा कौन सा शिष्य सच्चा है और कौन सा बनावटी। उन्होंने अपने पैर मे एक पका हुआ आम बाँध लिया और उसके ऊपर ४—५ पट्टियाँ बाँध ली और अब लगे बड़े जोरों से चिल्लाने। बहुत से शिष्य उनकी आवाज सुन कर जुट आये और पूछने लगे, गुरुजी क्या हुआ? सभी ऐसे मालूम पड़ते थे कि मानो ये अपने गुरुजी के कष्ट के कारण बड़े दुखी हैं। समर्थ ने जवाब दिया—"भाई, मुझे बड़ी पीड़ा हो रही है, मुझसे कुछ पूछो मत।"

दो चार शिष्यों ने आग्रह किया, तब समर्थ ने कहा—'मेरे पैर में बड़ा विषैला फोडा हुआ है। उसमे ऐसा दर्द उठ रहा है कि उसकी वेदना से मै विकल हो रहा हूँ। शिष्यों ने पूछा—"महाराज इसका कुछ उपचार भी है?"

समर्थ ने कहा—"भाई, इस भयंकर रोग का कुछ भी इलाज नही, एक इलाज है, सो कोई उसे कर नही सकता।"

शिष्यों ने बड़ी उत्सुकता के साथ पूछा—नही, नहीं, गुरुदेव, आप बताइये, हम सब कुछ करने को तैयार है।

समर्थ ने कहा—भाई, मैं अपने पीछे किसी अन्य को कष्ट देना उचित नही समझता।

शिष्यो ने कहा—महाराज, गुरु-सेवा मे भला कष्ट कैसा? हम तो इसमे अपना बड़ा सौभाग्य समझेगें। आप आज्ञा कीजिये कि क्या करने से आप की पीडा कम हो सकती है?

समर्थ ने कहा—"इसका एक ही उपाय है। फोड़ा बड़ा विषैला है। कोई आदमी मुँह लगाकर इसके पीव को चूसले तो फोड़ा अच्छा हो सकता है, परन्तु चूसनेवाले के प्राण नहीं बच सकते। कारण फोड़ा का पीव इतना विषैला है कि मुँह मे लगते ही आदमी मर जायगा।"

यह सुनते ही पीछे के शिष्य तो धीरे से खिसक गये। सामने बैठे हुए ज़मीन की ओर ताकने लगे। कोई भी कुछ न बोला। यह देख कर समर्थ ने कहा—भाई, मैं नहीं चाहता कि

मेरे पीछे कोई अपनी जान जोखिम में डाले, यह सुनकर भी सब चुप ही रहे ।

उनमें एक नारायण नाम का शिष्य था, उसने नम्रता पूर्वक कहा—"गुरुदेव, मुझे आज्ञा हो, मैं इसके लिए तैयार हूँ।"

समर्थ ने कहा—"क्यों व्यर्थ में जान खोते हो ?"

नारायण ने कहा—"गुरुदेव, मैं अमर हो रहा हूँ। मेरी सेवा स्वीकृत हो।"

समर्थ ने कहा—"यदि नहीं मानते हो तो पट्टी खोलो।" यह सुन कर नारायण पट्टियों को खोलने लगा। जब सब पट्टियाँ खुल गईं और एकही शेष रह गई तब समर्थ ने कहा—"बस, इसे मत खोलो, इसमें ही छिद्र करके चूसो।" नारायण ने ऐसा ही किया। जब नारायण को आम का रस मीठा लगने लगा तब उसने कहा—"गुरुजी, पीव तो बड़ा मीठा है।" समर्थ ने कहा—"तुम ही सब से मीठे हो।" बाक़ी सब ऐसेही हैं।

(५)

शिवाजी एक समय एक नवीन क़िला बनवा रहे थे। सैकड़ो मज़दूर उसमें काम कर रहे थे। शिवाजी महाराज उन सब के कार्य्य का निरीक्षण कर रहे थे। सैकड़ों आदमियों को काम पर लगा देख कर उनके मन मे यह भाव उत्पन्न हुआ कि मेरे द्वारा कितने आदमियों का उपकार होता है। बहुत से बेकार मनुष्यों का मेरे ही कारण निर्वाह हो रहा है। इस

विचार के आते ही उन्हे अपने ऊपर कुछ अभिमान सा हुआ। सहसा उसी समय समर्थ स्वामी वहाँ आ पहुँचे। शिवाजी ने अपने गुरु की यथायोग्य अभ्यर्चना की और असमय में पधारने का कारण जानना चाहा। समर्थ स्वामी ने कहा—"इस समय हम एक बड़े भारी कार्य्य से आये है।" यह कह कर उन्होने पास ही पड़े हुए एक पत्थर को बीच से तोड़ने के लिए आज्ञा दी। उसी समय कई बेलदार आकर उस पत्थर को तोडने लगे। समर्थ ने उनसे कहा—"देखो भाई, बहुत ही सावधानी से धीरे धीरे तोड़ना।" बेलदारो ने धीरे धीरे उसके दो टुकड़े किये। दो टुकडे होते ही उसमे से एक जीवित मेढ़की और थोड़ा सा पानी निकल पडा।

इस बात को देख कर सभी को बड़ा भारी आश्चर्य्य हुआ। समर्थ ने शिवाजी से कहा—"शिववा! तुम बड़े बुद्धिमान् हो। तुम्हारे कारण बहुत से जीवो का प्रतिपालन हो रहा है।" शिवाजी ने नम्रतापूर्वक कहा—

"भगवन्, मेरा इसमे क्या है?" समर्थ ने कहा कि तेरे ही कारण तो यह सब हुआ है। यदि तू क़िला न बनवाता तो इन जीवों का प्रतिपालन कैसे होता? शिवाजी को अब चेत हुआ। उन्हें अपने विचारो का स्मरण हुआ, वे समर्थ के पैरो पर गिर पड़े। और दीन भाव से बोले—"इस पामर को क्षमा कीजिये, मै अज्ञानी जीव हूँ।" समर्थ ने कहा—"भैया, जिसका नाम विश्वंभर है, पालन तो वही सबका करता है, मनुष्य

तो खाली निमित्त मात्र है। सभी परमात्मा के चाकर है, कोई छोटा चाकर है और कोई बडा। तुम उसके बड़े चाकर हो। देने वाला तो वही है। रोकड सब उसीकी है। खाली तुम्हारे हाथ से वह औरों को दिलाता है।" ऐसा उपदेश करके वे चले गये।

(६)

एक बार समर्थ अपने कुछ शिष्यो के साथ पैदल आ रहे थे। रास्ते मे सबो को भूख लगी। पास मे ही मकई का खेत था। सभी लोग उसमे से बाल तोड और एक जगह बैठकर मींड मींड कर खाने लगे। इतने ही मे खेत का मालिक वहाँ आ पहुँचा। उसने जब देखा कि ये साधु लोग तो मेरे खेत को चौपट किये डालते है, यह देखकर वह जल्दी से उनके पास गया। समर्थ एक ओर बैठे थे, वे अवस्था मे भी सबसे बड़े थे। उसने इन्हे ही सब का महन्त समझा और इसी कारण सबको छोडकर इनको ही पीटने लगा। इनके और शिष्य यह देखकर क्रोधित हुए, किन्तु समर्थ ने सबसे मना कर दिया और कहा—"हमने इसका अपराध किया है, उसका दंड देने का इसे अधिकार है, जितना उचित समझे इसे दंड दे लेने दो।" किसान मार पीटकर चला गया। समर्थ भी अपने शिष्यो के साथ शिवाजी के यहाँ चले गये।

शिवाजी ने जब अपने गुरु को स्नान कराया तब देखा कि उनके सम्पूर्ण शरीर पर नीली नीली धारायें पड़ी हुई है। उसने

समर्थ से इसका कारण पूछा। किन्तु उन्होंने वैसे ही बात टाल दी। जब शिवाजी ने अन्य शिष्यों से पूछा तब उन्हें उस किसान की बात मालूम हुई। वह किसान शिवाजी के ही राज्य का था। उन्होंने अपने नौकरों को आज्ञा दी कि "उस किसान की मुश्कें बाँध कर फौरन उसे यहाँ ले आओ।" समर्थ यह सब सुन रहे थे। उन्होंने कहा—"उसको मुश्कें बाँधकर मत बुलाओ, वैसे ही सम्मानपूर्वक बुलवा लो।" शिवाजी ने गुरु की आज्ञा शिरोधार्य्य की।

वह किसान जब शिवाजी की राजसभा में आया तब उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। जिस साधु को उसने साधारण साधु समझ कर पीटा था, वह तो छत्रपति शिवाजी महाराज के पूज्य गुरु है। समर्थ को ऊँचे सिंहासन पर बैठा देखकर वह भय से काँपने लगा और जल्दी में जाकर उनके पैरो में गिर पड़ा।

समर्थ ने शिवाजी से उसका अपराध क्षमा करा दिया और वह जमीन उसे सदा के लिए माफ़ी करा दी। सुनते हैं उस किसान के पूर्वजों पर वह जमीन आज तक भी है।

(७)

अपनी माता की मृत्यु उन्होंने योग-बल से जान ली और वे उसके पास ठीक उस समय पहुँच गये जब कि वह 'नारायण' 'नारायण' कहकर इनका स्मरण कर रही थी। अपने पुत्र को

अन्त समय में देखकर माता बहुत प्रसन्न हुई और उसने आनन्दपूर्वक अपने शरीर का त्याग किया।

सिद्धान्त और उपदेश

समर्थ स्वामी अपने समय के अद्वितीय सुधारक थे। वे उपदेश तो करते ही थे, साथ ही स्वयं भी लोकोपकार के निमित्त मठों की स्थापना तथा निस्पृह सन्तों का समूह एकत्रित करते थे। उन्होंने देश के सभी मुख्य स्थानों में, तीर्थों में अपने मठ स्थापित किये और उनमें रह कर लोकोपकार करने के निमित्त अपने यहाँ से बहुत से महन्त बना बना कर भेजे। इन्होंने रामदासी संप्रदाय की स्थापना भी की थी। किन्तु उसका विशेष प्रचार नहीं किया। योग्य सुधारक होने के कारण इन्होंने व्यवहार सम्बन्धी सभी विषयों के उपदेश किये हैं। लोकोपकार करनेवाले निस्पृह पुरुषों के सम्बन्ध मे ये कहते हैं—

"उत्तम उत्तम गुण पहले स्वयं सीख कर फिर लोगों को सिखाने चाहिएँ। पर गुप्त रूप से। काम कभी बन्द न करना चाहिए। सारे जगत् को, सारे देश को, उपासना में लगाना चाहिए। लोगों को अपने कर्तृत्व का परिचय करा देना चाहिए। क्योंकि लोग जब जान लेते हैं कि यह सच्चा महन्त है, तभी आज्ञा पाने की इच्छा करते हैं।"

आगे आप फिर बताते हैं—

"अनेक लोगो को ढूँढ़ ढूँढ़ कर अपने साथ मे लेना चाहिए। उनकी योग्यता जानना चाहिए। और फिर योग्यता के अनुसार किसी को पास और किसी को दूर रखना चाहिए। योग्यता के अनुसार कार्य्य होता है। जब योग्यता ही नही है, तब वह आदमी किस काम का? सबके मन की अच्छी तरह परीक्षा कर लेनी चाहिए।"

राजनैतिक दाव-पेच बताते हुए समर्थ शासन करने वाले को उपदेश करते है—

"अनेक आक्षेपो को दूर करना चाहिए। तथा छोटे बड़े अपराधो को भी क्षमा करते रहना चाहिए। दूसरे हृदय की बात जाननी चाहिए। सदैव उदासीनता रहनी चाहिए और नीति-न्याय मे अन्तर न पडने देना चाहिए। चतुरता से लोगो के मन अपनी ओर आकर्षित करने चाहिए।"

इसी प्रकार राजा को उन्होने नीति पर अडे रहने के बहुत से उपदेश दिये है। साधको को निरन्तर भक्ति मे लगे रहने तथा नित्य नैमित्तिक कर्म न छोड़ने को कहा है। चतुर लोगो को नित्य नई नई जगहो में घूम घूम कर विद्वान लोगो से मिल कर ज्ञान-वृद्धि करने की सम्मति दी है। अच्छे अक्षर लिखना, नित्य कर्म करना, सबको प्रसन्न रखना, बड़ो की प्रतिष्ठा करना आदि बहुत से उपदेश उन्होने बडे बनने वाले पुरुषो के लिए दिये हैं। स्थानाभाव के कारण इच्छा होने पर भी हम यहाँ अधिक उपदेश उद्धृत नही कर सकते।

समर्थ सभी वैदिक सिद्धान्तों के समर्थक थे। उन्होंने किसी देवी-देवता तथा इष्टदेव का विशेष आग्रह नहीं किया है। यद्यपि उनके इष्टदेव श्रीरामचन्द्रजी थे, फिर भी उन्होंने कहीं भी किसी देवी देवता को छोटा या कम सामर्थ्यवान् नहीं बताया है। पूर्वाचार्यों की भाँति उन्होंने भी अपने ग्रन्थ के आदि में गणेश, शारदा, सद्गुरु तथा सन्तों की स्तुति की है।

पारमार्थिक सिद्धान्त और उपदेश

यद्यपि समर्थ पूर्ण भक्त थे, किन्तु उनकी भक्ति विलक्षण ही थी। उन्होंने श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन आदि, जो भक्ति के नौ भेद माने जाते है उनका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, किन्तु इनकी व्याख्या मे उन्होंने निर्गुण और सगुण, ज्ञान और भक्ति, उपासना और अभ्यास इन सभी बातो का समन्वय कर दिया है। वे 'तत्त्वमसि' आदि महा वाक्यो के विवरण सुनने को श्रवण भक्ति मानते है, साथ ही सगुण ईश्वर के चरित्रो को भी सुनने की सम्मति देते है। इसी प्रकार नवो प्रकार की भक्ति मे उन्होंने ज्ञान का सम्पुट लगा दिया है। नववी भक्ति 'आत्मनिवेदन' का वर्णन करते हुए वे बताते है—

मै '' मिथ्या है, ईश्वर सच्चा है। ईश्वर और भक्त दोनो अनन्य है। दोनो एक है। इस वचन का अभिप्राय अनुभवी जानते है। इसीको आत्म-निवेदन कहते है। यहाँ ज्ञानियो का

समाधान है। पंचभूतों में जैसे आकाश और सब देवताओं में जैसे जगत्पिता परमात्मा श्रेष्ठ है उसी प्रकार नवों भक्तियों में यह नवीं 'आत्मनिवेदन' भक्ति श्रेष्ठ है। नवी भक्ति न होने से जन्म-मरण नही मिटता। यह वचन सत्य है।

जो ख़ाली भक्त ही हैं, वे सायुज्य मुक्ति नहीं चाहते। उन्हें ब्रह्म बनने मे आनन्द नही आता। वे तो भगवत्-सामीप्य चाहते है। वे नवधा भक्ति के द्वारा ईश्वर के सन्निकट रह कर सदा आनंद का अनुभव करते रहना चाहते है। किन्तु समर्थ नवधा भक्ति के द्वारा सायुज्यमुक्ति—तदाकार हो जाना—ही मानते है। उनका कथन है "—नवधा भक्ति से सायुज्य भक्ति मिलती है। सायुज्य भक्ति का कल्पान्त मे भी नाश नही होता।" ये ज्ञानपूर्वक भक्ति को ब्रह्म प्राप्ति का साधन मानते हैं। अन्त में "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" यही सिद्धान्त उन्हे स्वीकार है।

संक्षेप मे समर्थ का सिद्धान्त ज्ञान और भक्ति का समन्वय ही है। इनका सिद्धान्त संत मत के आचार्य महात्मा कबीर-दासजी से मिलता-जुलता है। दो बातों मे कबीरदास और इनमें अन्तर है। पहली बात तो यह कि कबीरदासजी ने अपने ग्रन्थों मे सुरति शब्द-योग, अजपा जाप आदि योग की बातो का विशद रूप से वर्णन किया है। वे स्थान स्थान पर साधक को प्राणों को दसवें द्वार पर ले जाने का उपदेश देते है। उन्होंने साधक के लिए अजपा जाप को ही मुख्य साधन बताया है। समर्थ ने "अजपानिरूपण" नाम से एक अध्याय मे अजपाजाप

का निरूपण तो किया है, किन्तु वह वर्णन ऐसा ही है जैसा कि एक कवि प्रसंग आने पर एक साधारण सी बात का उल्लेख कर देता है। उसमें अनुभव की गहराई नहीं है। कबीर साहब के पद पद से अनुभव टपकता है। दूसरी बात यह कि कबीर साहब कर्मकांड का घोर विरोध करते हैं, समर्थ ने अपने ग्रन्थ मे कर्मकाड की बातो को भो स्वोकार किया है। उन्होंने किसी स्थान पर भी कर्मकाण्ड का विरोध नही किया। बाक़ो सिद्धान्त में दोनो ही भक्तो का एक ही लक्ष्य है। दोनों ही ज्ञानपूर्वक भक्ति को साधन मानते है तथा दोनो ही अद्वैत सिद्धान्त के समर्थक हैं।

उपसंहार

समर्थ स्वामी के हृदय में देश और धर्म के प्रति प्रगाढ़ प्रेम था। यही कारण है, कि शिवाजी जैसे शूरवीर और युग-प्रवर्त्तक महापुरुष उनके पैरो के नीचे पालतू सिंह की भाँति क्रीड़ा करते रहते थे। शिवाजी महाराज का समर्थ के चरणों मे बहुत ही अधिक अनुराग था।

एक दिन की बात है कि दोपहर के समय भिक्षा माँगते हुए समर्थ स्वामो शिवाजी के महलो के सामने आ निकले और "जय जय श्री रघुवीर समर्थ" कह कर भिक्षा माँगी। महाराज शिवाजी भीतर थे, उन्होंने अपने मन में सोचा कि ऐसे समर्थ गुरु दरवाजे पर भिक्षा माँगने आये हैं, इन्हें क्या भिक्षा दूँ ? उन्होंने

सोचा कि सम्पूर्ण राज्य को ही गुरुजी के चरणों में अर्पण क्यों न कर दूँ। यह सोच कर उन्होंने एक कागज़ पर सम्पूर्ण राज-पाट गुरुजी के नाम से लिख दिया और उसपर राज्य की मुहर लगा कर उसे गुरुजी की झोली में डाल दिया। जब समर्थ ने उसे देखा तब वे हँसकर बोले—

"अरे शिववा ! तै ने यह कैसी भिक्षा दी, एक टुकड़ा कागज़ देकर ही टालना चाहता है। मुट्ठी भर चावल देता जिससे उदर-पूर्ति होती।" शिवाजी यह सुनकर चरणों पर गिर गये और बोले—"महाराज, मैंने तो सब राज-पाट अब आपके अर्पण कर दिया।"

समर्थ ने पूछा—

"राजपाट तो तैंने हमें दे दिया, अब तू क्या करेगा?" शिवाजी ने नम्रतापूर्वक कहा—"मैं गुरुदेव की चरण-सेवा किया करूँगा।"

समर्थ अपने प्रिय शिष्य की प्रगाढ़ भक्ति पर बहुत ही प्रसन्न हुए और बोले—"भैया, जिसका काम उसे ही शोभा देता है। हमारी फकीरी में ही शोभा है और तुम्हारी राज्य करने में ही। यदि हमने राज्य ग्रहण भी कर लिया, तो भी हमें कोई न कोई प्रबन्ध करने के लिए रखना ही पड़ेगा। इससे अच्छा यही है कि तुम्हीं अपने को प्रबन्धक समझकर इसका प्रबन्ध करो।"

जब शिवाजी ने देखा कि गुरुदेव की ऐसी ही आज्ञा है तब उन्होंने समर्थ से कुछ चरण-चिह्न माँगा। समर्थ ने अपनी झोली मे से फाड़कर गेरुए रँग की एक चीर दे दी। तभी से शिवाजी ने अपने झंडे का रँग गेरुए रंग का कर लिया। इतिहास मे मराठों का गेरुआ झंडा अति प्रसिद्ध है।

शिवाजी का जिस प्रकार अपने गुरु के चरणों मे असीम अनुराग था, ठीक उसी प्रकार समर्थ का भी शिवाजी के प्रति उत्कट हार्दिक प्रेम था। वे देवी से जाकर प्रार्थना किया करते थे कि "माँ, मुझे धन, जन, कीर्ति प्रतिष्ठा आदि कुछ भी नहीं चाहिए। मैं यही चाहता हूँ कि उस शिवबा का कल्याण हो। उसके सभी मनोरथ पूर्ण हों।" जिनके कल्याण के निमित्त समर्थ जैसे सिद्ध पुरुष देवी से प्रार्थना करते हों, उनके यशस्वी और तेजस्वी होने मे भला किसको संदेह हो सकता है। यही तो कारण है कि शिवाजी को हम आज तक भी हिन्दू-धर्म-रक्षक कहकर बड़े प्रेम और भक्ति के साथ स्मरण करते हैं और सदा करते रहेंगे।

शाके १६०२ मे शिवाजी स्वर्गवासी हुए। उनकी मृत्यु से समर्थ को बहुत ही दुःख हुआ। वे अब विशेष बाहर भी नही जाते थे, अपने स्थान मे ही पड़े रहते थे। महापुरुष किसी के द्वारा कार्य्य कराते है। जब उनका अस्त्र ही न रहा तब फिर वे इस ससार मे रह कर क्या करें? उन्हे जितना भी कार्य कराना था,

उसे करा चुके। महापुरुष के कार्य करने का कुछ नियत समय होता है, उतने दिन कार्य करके वे कार्य से पृथक हो जाते है। समर्थ का भी समय समाप्त हो गया और शिवाजी की मृत्यु के एक साल भर बाद ही ७३ वर्ष की अवस्था मे वे इस असार ससार को सदा के लिए त्यागकर, जहाँ से आये थे वही को चले गये।

समर्थ के बनाये हुए कई ग्रन्थ बताये जाते है। उन सब में "दासबोध" अति प्रसिद्ध है। दासबोध बड़ा ग्रन्थ है। कुल बीस दसक और २०० अध्याय है। जिनमें नीति, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, कर्म, सृष्टि की उत्पत्ति, पिंड ब्रह्माण्ड, विचार आदि सभी विषयों पर बहुत ही उत्तम और उच्चकोटि के उपदेश है।

समर्थ स्वामी का जन्म महाराष्ट्र देश में हुआ था। इसलिए उन्होने भी अपना ग्रन्थ कबीरदासजी की भाँति उधर की बोल-चाल की मराठी भाषा मे लिखा है। मूलग्रन्थ पद्य मे है। हमारे यहाँ जैसे दोहा-चौपाई होती हैं, वैसे ही मराठी मे अभङ्ग होते है। सम्पूर्ण दासबोध अभंगो में ही है। मराठी भाषा के मर्मज्ञ विद्वानों का कथन है कि कविता की दृष्टि से समर्थ के अभंग उतने उत्कृष्ट नही हैं जितने कि वे ज्ञान की दृष्टि से। उन्होंने एक एक अभग में ज्ञान और भक्ति को कूट कूट कर भर दिया है। हम उनके कुछ अभंगो को अर्थ सहित पाठकों की जानकारी के निमित्त नीचे उद्धृत करते है—

समर्थ स्वामी के कुछ उपदेश

(१)

कष्टें विण फल नाहीं। कष्टें विण राज्य नाहीं।
आधी कष्टाचें दुःख सोसिती। ते पुढें सुखाचें फल भोगिती ॥

कष्ट के विना फल नही मिलता, कष्ट किये बिना राज्य नहीं मिलता। जो पहले कष्ट (तप) के दुःख सहते हैं वे आगे सुख के फल भोगते है।

(२)

पशु देहीं नाही गती। ऐसें सर्वत्र बोलती।
म्हणोन नर देहीं च प्राप्ती। पर लोकाची।

(सब लोगो का यही कथन है कि पशु-देह मे गति नही है। परलोक नरदेह में ही मिलता है।)

(३)

नर देह हा स्वाधीन। सहसा न हे पराधीन।
परन्तु हा परोपकारी झिजवून। कीर्तिरूपें उरवावा ॥

(नर देह स्वाधीन है। यह सहसा पराधीन नही होता। इसे परोपकार में लगा कर कीर्त्ति रूप से अमर कर देना चाहिए।)

(४)

धर्मस्थापने चे नर । ते ईश्वराचे अवतार ।
जाले आहेत पुढे होणार । देणे ईश्वराचे ॥

(धर्मस्थापन करने वाले नर ईश्वर के अवतार हैं—वे होगये हैं और आगे भी होने वाले है। देना सब ईश्वर के हाथ में है ।)

(५)

ऐसा जो महानुभाव । तेणे करावा समुदाव ।
भक्ति योगे देवाधि देव । आपुला करावा ॥

(ऐसे महानुभावो का समुदाय एकत्र करना चाहिए और भक्ति-योग में उस देवाधिदेव परमात्मा को अपनाना चाहिए ।)

(६)

शाहाणे करावे जन । पतित करावे पावन ।
सृष्टी मध्ये भगवद्भजन । बाढ़वावें ॥

(लोगों में नाना प्रकार की चतुराई फैलानी चाहिए । पतितो को पावन करना चाहिए । और संसार भर मे भगवत् भजन बढ़ाना चाहिए ।)

(७)

आपण अवचित मराने जावें । मग भजन कोणें करावें ।
याकारणें भजनास लावावे । बहुत लोक ॥

(अचानक एक दिन मृत्यु हो जाने पर फिर भजन कौन करेगा ? इसलिए बहुत लोगो का समुदाय एकत्रित करके उसे भजन मे लगाना चाहिए ।)

(८)

कोणासीच नाही बन्धन। भ्रान्तिस्तव भुलले जन।
दृढ़ घेतला देहाभिमान। म्यणोनियाँ॥

(वास्तव में बन्धन किसीको नहीं है। सारे प्राणी भ्रान्ति से भूले हुए है। क्योंकि वे देहाभिमान को दृढ़ता से पकड़े हुए है। इस भ्रम का निरसन होते ही मुमुक्षा का उदय होता है।

(६)

भवाच्या भये काय भीतोसि लंडो।
धरी रे मना धीर धाकासि सोडी॥

(ऐ डरपोक मन, तू इस भव—भय से क्यों डरता है? अरे मन, धीरज धर और भय का त्याग कर।)

(१०)

परमार्थी तो राज्य धारी। परमार्थ नाही तो भिकारी।
या परमार्थाचीसरी। कोणास द्यावी॥

(जो परमार्थी है, वही राजा है और जिसके पास परमार्थ नहीं, वही भिखारी है। इस परमार्थ की उपमा किससे दें?)

महात्मा चरनदासजी

जो संसार की बुरी वासनाओं से मुँह मोड़ कर सर्वदा सत्य के संशोधन में ही निरत रहते हैं, जिन्हे प्रत्यक्ष मे यह संसार स्वप्न के सदृश प्रतीत होता है, जिन्हें ससार के शब्द, स्पर्शादि विषय अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते जो हरि के प्रेम को पान करके सदा छके रहते है, वे संसारी जीव नहीं है, वे मर्त्यलोक के प्राणी नहीं हैं। वे परम धाम के नित्य शुद्ध जीव हैं। वे जन्म-मरण के चक्करो से रहित होते है। अपनी इच्छा से ही वे संसार मे प्रकट होते है और मुमुक्षु पुरुषो को सत्यमार्ग का ज्ञान करा कर फिर अपने सत्स्वरूप मे ही लीन हो जाते है। संसारी व्याधायें उन्हें नहीं व्यापती। जगत् में वे सत्गुरु के नाम से बोले और कहे जाते हैं। सत्गुरु चरनदासजी भी उन्ही नित्य जीवों में से एक थे।

वंश-परिचय और जन्म

राजपूताने के मेवात देश में डेहरा नाम का एक ग्राम है। उस ग्राम में दूसर बनियो के बहुत से घर है। उधर उन लोगो की जमीदारी भी है और वे प्रतिष्ठित भी समझे जाते हैं। उन्हीं परिवारों से एक परिवार में मुरलीधर नाम

के एक भाग्यवान् पुरुष हुए। वे बडे भगवत्-भक्त थे, यद्यपि वे गृहस्थ थे, तथापि उनकी चित्त की वृत्तियाँ विरक्तो जैसी थीं। वे प्रायः घर में भजन करने के लिए एकान्त जंगलो में निकल जाते और दिन छिपे बाद लौटते। उनकी धर्मपत्नी का नाम कुञ्जोदेवी था। सम्वत् १७६० में भाद्रपद शुक्ला तृतीया मंगलवार के दिन भाग्यवान् मुरलीधर के औरस से और सौभाग्यवती कुञ्जोदेवी के गर्भ से एक बालक उत्पन्न हुआ। माता पिता ने उस बालक का नाम रनजीतसिंह रक्खा। आगे चल कर ये ही रनजीतसिंह चरनदास के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनकी शिष्या सहजोबाई ने इनके जन्म के विषय में लिखा है—

सखीरी आज धन धरती धन देसा।
धन डहरा मेवात मँझारे, हरि आये जन भेसा॥ १॥
धन भादो धन तीज सुदी है, धन दिन मंगलकारी।
धन डूसर कुल बालक जनम्यौ, फुल्लित भये नर नारी॥ ॥
धन धन माई कुञ्जोरानी, धन मुरलीधर ताता।
अगले दत्तव अब फल पाये, तिनकै सुत भयौ ज्ञाता॥ ३॥
भरम नसावन भक्ति बढ़ावन, बहु पारायन करता।
सब फल-दायक सब कुछ लायक, अघमोचन दुख हरता॥४॥
अनगिन बरस बहुत चिरजीवौ, गुरु सुकदेव सहाई।
सहजोबाई देत असोसैं, पावै दरस बधाई॥५॥

६ वर्ष की अवस्था तक इनके माता पिता इन्हे बडे लाड-चाव से पालते-पोसते रहे। जब इनकी अवस्था ७ वर्ष की हुई, तब इनके पिताजी अपने नियमानुसार जंगल मे भगवत्-भजन करने गये, बस उस दिन के बाद से वे फिर नहीं लौटे। बहुत ढूँढ़ने पर उनके एक स्थान पर वस्त्र रखे हुए मिले, किन्तु उनका कुछ भी पता न चला। अब तो इनकी माँ अकेली ही रह गई। विवश होकर उन्हे अपने पिता का आश्रय लेना पड़ा। उनके पिता—चरनदासजी के नाना—दिल्ली के रहनेवाले थे और घर में खाते-पीते थे। अतः इनकी माता इन्हे लेकर दिल्ली चली आई। तब से अन्त तक ये अपनी ननिहाल दिल्ली मे ही रहे। इनके नाना ने इनके पढ़ने लिखने का प्रबन्ध कर दिया। ये थोड़े ही दिनो मे फ़ारसी, तथा हिन्दी के अच्छे ज्ञाता होगये और संस्कृत के ग्रन्थो मे भी इनकी गति हो गई।

बाल्यकाल

वैराग्य तो इनके हृदय मे पहले ही से था, किन्तु वह अभी तक अव्यक्त रूप से ही था। १९ वर्ष की अवस्था मे इनका वैराग्य व्यक्त हुआ। कहते है कि इन्हे जगल मे शुकदेव मुनि मिले और उन्होंने ही इन्हे मन्त्रोपदेश दिया। इन्होने अपने ग्रन्थों मे परम गुरु शुकदेवजी की बड़ी भारी महिमा गाई है। शुकदेव नाम के कोई महात्मा भी हो सकते है, किन्तु सहजोबाई ने जो अपनी गुरु परम्परा का परिचय दिया है उससे यही सिद्ध

वैराग्य और तप

होता है कि इनके गुरु साक्षात् भगवान् शुकदेवजी ही है। सहजोबाई एक स्थान पर लिखती हैं—

हमारे गुरु तो चरनदासजी हैं, दादा गुरु शुकदेवजी हैं और परमगुरु विदेहजी है।

एक दूसरी जगह भी सहजोबाई ने अपने दादा गुरु श्री-शुकदेवजी की इस प्रकार विनती की है—

नमो नमो शुकदेव गुसाईं, प्रकट करी भक्ती जग माँही।
श्रीमद्भागवत् भानु प्रकासा, पढ़ सुनि कटै तिमिरि की फाँसा॥

इन सब प्रमाणो से यही सिद्ध होता है कि इनके गुरु भी श्रीशुकदेवजी महाराज ही थे।

गुरु से उपदेश ग्रहण करके इन्होंने घर ही मे रह कर अभ्यास करना प्रारम्भ किया। धीरे धीरे इनकी ख्याति चारों ओर फैलने लगी और मुमुक्षु जीव इनके पास आ-आकर आनन्द लाभ करने लगे। होते करते इनके बहुत से शिष्य हो गये। सहजोबाई और दयाबाई इनकी गुरुमुख चेली थी, इनकी भक्ति बड़ी ही अद्भुत और अनुकरणीय थी। ये अपने गुरुदेव के सामने ईश्वर तक को कुछ नही समझती थी। ये सदा गुरु-परिचर्य्या ही मे लगी रहती थी। इनका योग, तप, जप जो भी कुछ था, गुरु-सेवा करना ही था। इनके ५२ मुख्य शिष्य हुए, जिनकी ५२ गद्दियाँ अभी तक विद्यमान है।

अन्य साधु-महात्माओ की भाँति इनके सम्बन्ध मे भी बहुत सी अद्भुत बाते कही जाती है। रामस्वरूप नामक

इनके एक शिष्य ने "गुरु भक्ति प्रकाश" नामक एक ग्रन्थ लिखा है। हमने तो उस ग्रन्थ को देखा नहीं, कहते हैं कि उसमें इनकी ऐसी ही बहुत सी अद्भुत अद्भुत बातें लिखी हुई हैं। इनमें मृतक को जिन्दा करने और मृत्यु की तिथि को मृत्यु के पहले ही बता देने की कहानियाँ मुख्य है। नीचे हम एक दो ऐसी ही कहानी लिखते है।

(१)

इन्होंने अपनी माता की मृत्यु की तिथि पहले से ही बता दी थी।

(२)

शाहआलमगीर सानी की मृत्यु का दिन भी इन्होंने दो वर्ष पहले से ही बता दिया था।

(३)

पारमार्थिक विचार और उपदेश

चरनदासजी ने योग और अजपा जाप के ऊपर बहुत ज़ोर दिया है। योग के सम्बन्ध मे इन्होंने अपनी बानी मे बहुत कुछ लिखा है। इन्हें स्वरों का भी पूर्ण ज्ञान था। इनका बनाया "ज्ञान स्वरोदय" नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। उसमें इन्होंने बताया है कि कौन से स्वर में खाना चाहिए, कौन से स्वर मे जल पीना चाहिए, शौच किस स्वर में जाना चाहिए। विवाह, दान, तीर्थ, व्रत, वस्त्र, आभूषण, औषध-सेवन, योगाभ्यास आदि किन किन स्वरों मे करने चाहिए।

इन्होंने गुरु की महिमा बहुत अधिक गाई है। गुरु की महिमा का वर्णन करते करते ये यहाँ तक कह गये है—

हरि रूठैं कुछ डर नही, तू भी दे छुटकाय।
गुरु को राखौ सीस पर, सब बिधि करैं सहाय॥

यद्यपि ये मन्त्र-योग पर बहुत जोर देते हैं। प्राणो को किस प्रकार दशमद्वार में ले जाना चाहिए, इत्यादि बातो का इन्होंने बड़ा ही सुगम, सरल और स्पष्ट रीति से वर्णन किया है, परन्तु तो भी ये प्रेम को प्राधान्य देते हैं। इनका कहना है कि प्रेम के बिना कोई भी कार्य्य किया जाय वह सफल नही हो सकता। बिना उत्कट प्रेम के योग, ज्ञान तथा भक्ति किसी भी काम की नही है। वे कहते हैं—

प्रेम बराबर जोग ना, प्रेम बराबर ज्ञान।
प्रेम भक्ति बिन साधिबो, सबही थोथा ध्यान॥

प्रेम छुटावे जक्त सूँ, प्रेम मिलावै राम।
प्रेम करै गति और ही, ले पहुँचे हरिधाम॥

इन्होने कबीरदास आदि और महात्माओं की भाँति तीर्थ, व्रत, वेद, पुराण, सगुणोपासना का इतनी तीव्रता और स्पष्टता के साथ खुल्लमखुला विरोध कही भी नही किया है। हा, जो अन्तिम स्थान तक पहुँच गये हैं, उनके सम्बन्ध मे तो इन्होंने अवश्य कहा है कि उन्हें इन सब बातो की आवश्यकता नहीं रहती। सो इसे तो सब कोई ही मानते है। माध्य वस्तु

प्राप्ति होजाने पर साधन बेकाम हो ही जाते हैं। यद्यपि इन्होंने तिलक, माला, जटा, भभूत आदि का खंडन किया है, परन्तु वह उसी अर्थ मे किया है कि केवल इन ऊपरी उपचारो से ही मनःतुष्टि नही होने की। ये बहुत छोटे साधन है।

भक्ति को ये सब साधनो से श्रेष्ठ और उत्तम बताते है। वे कहते है कि—

"जोग, ज्ञान, वैराग सबन सूं प्रेम प्रीति है न्यारी।
चरनदास ने गुरु किरपा सूँ साँची बात बिचारी॥"

नवधा भक्ति से एक अद्भुत आनन्द उत्पन्न होता है। इसीलिए भक्ति को सब धर्मों का राजा माना है। वे कहते है—

नवो अग के साध ते, उपजै प्रेम अनूप।
रनजीता यों जानिये, सब धर्मन को भूप॥

उपसंहार

चरनदासजी ने संस्कृत के क्लिष्ट ज्ञान को बहुत ही सरल भाषा मे करके साधारण लोगो का बड़ा उपकार किया है। यद्यपि इनके पदों मे कबीर, नानक आदि महात्माओ के पदो की भाँति उतनी गहराई नही है, परन्तु तो भी वे सभी शास्त्र-सम्मत है। विशेष मौलिकता न होने पर भी इनके पद कोरे अनुवाद भी नही है। इनके उपदेशो मे स्थान स्थान पर अपनी निजी अनुभूति की झलक देख पड़ती है।

चरनदासजी ७६ वर्ष तक इस धरा-धाम पर विराजमान रह कर मुमुक्षु जीवों को जिलाते रहे। सम्वत् १८३६ विक्रमी मे आप इस लोक से चल बसे । दिल्ली में अभी तक आपकी समाधि बनी हुई है । चरनदासी संप्रदाय के बहुत से साधु तथा गृहस्थ भारत के विभिन्न प्रान्तो मे अभी तक विद्यमान हैं । इनके बनाये हुए कई ग्रन्थ हैं। लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस से इनके प्रायः सभी ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं । "ज्ञान स्वरोदय" और "चरनदासजी की बानी" ये बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। नीचे हम चरनदासजी के कुछ उत्तम पद उद्धृत करते हैं—

(१)

मो कूं भय अति वाही दिन को ।
जब यह पंछी माया लोभी त्यागै पिंजरा तन को ॥ १ ॥
सुत दारा के मोह फँस्यो है, लोभ लगो है धन को ।
काम क्रोध को कापा खायो, भयो अधीन सबन का ॥ २ ॥
पांच पहर धंधे मे खोया, नाम न लेत भजन को ।
तीन पहर नारी संग मातो, मानत सुख इन्द्रिन को ॥ ३ ॥
आपनको ऊँचो करि जानै, करि अभिमान बरन को ।
सतसगति के निकट न आवै, जो है ठाठ तरन को ॥ ४ ॥
जम किंकर जब आनि गहेंगे, तबना धीर धरन को ।
गुरु शुकदेव सहाय करेंगे, आसरो दास चरन को ॥ ५ ॥

(२)

तुम साहब करतार हो हम बंदे तेरे ।
रोम रोम गुनेगार है बरबसो हरि मेरे ॥ १ ॥

दसौ दुवारे मैल है, सब गंदम गंदा ।
उत्तम तेरो नाम है, बिसरै सो अंधा ॥ २ ॥

गुन तजिकै औगुन कियो, तुम सब पहिचानो ।
तुम सूँ कहा छिपाइये, हरि घट की जानो ॥ ३ ॥

रहम करो रहमान सूँ, यह दास तिहारो ।
भक्ति पदारथ दीजिये, आवागमन निवारो ॥ ४ ॥

गुरु शुकदेव उबारि लो, अब मेहर करीजै ।
चरनहिंदास गरीब कूं, अपनो करि लीजै ॥ ५ ॥

(३)

पतित उधारन बिरद तुम्हारो ।
जो यह बात साँच है हरि जू, तौ तुम हमकूं पार उतारो ॥१॥

बालपने औ तरुन अवस्था, और बुढ़ापे माही ।
हमसे भई सभी तुम जानो, तुम से नेक छिपानो नाहीं ॥२॥

अनगिन पाप भये मन माने, नख सिख औगुन धारी ।
हिरि फिरि कै तुम सरनै आयौ, अब तुमको है लाज हमारी ॥३॥

शुभ कर मन को मारग छूटो, आलस निद्रा घेरो ।
एकहिँ बात भली बनि आई, जग मे कहायो तेरो चेरो ॥४॥

दीनदयाल कृपाल विसंभर, श्रीशुकदेव गुसाईं ।
जैसे और पतित जन तारे, चरनदास की गहियो बांही ॥५॥

(४)

पी पी करते दिन गया, रैनि गई पिय ध्यान ।
बिरहिन के सहजै सधै, भक्ति जोग अरु ज्ञान ॥

(५)

यह सिर नवै तो राम कूँ, नाही गिरियो टूट ।
आन देव नहिँ परसिये, यह तन जावो छूट ॥

(६)

जागै ना पिछले पहर, करै न गुरु मत जाय ।
मुँह फारे सोवत रहै, ताकूँ लागै पाय ॥

(७)

सोये हैं संसार सूँ, जागे हरि की ओर ।
तिनकूँ इक रस ही सदा, नही साँझ नहीं भोर ॥

(८)

सूच्छम भोजन खाइये, रहिये ना परि सोय ।
ऐसी मानुख देह कूँ, भक्ति बिना मत खोय ॥



श्रीस्वामी प्रीतमदासजी

जब हम विचारपूर्वक इस संसार की कार्य्य-पद्धति क देखते हैं, तब हमे एक अजीब ही आनन्द आने लगता है। चित्त को एकाग्र करके शान्ति के साथ विचार कीजिये तब आपको पता चलेगा कि संसार की प्रत्येक घटना एक विचित्र पहेली है। संसार-चक्र क्या है ? पहेलियो का पुञ्जमात्र है। अपने को ऊँचे से ऊँचा विचारवान् बतानेवाले विद्वान् इन पहेलियों को सुलझाते सुलझाते मर गये, किन्तु इन सब पहेलियों का पूर्णरीत्या उत्तर कोई नही दे सका। आगे भी कोई दे सकेगा या नही, इसकी भी बहुत कम आशा है। यह संसार क्या है ? हम कौन है ? इस दृश्य जगत् को किसने पैदा किया ? मनुष्य क्यों मरता है ? संसार के सभी पदार्थ नश्वर क्यों हैं ? कर्म क्या है ? कर्म-फल किसे कहते है ? प्राणियो में नाना प्रकार का वैषम्य क्यों पाया जाता है ? ये सब कुछ ऐसी पहेलियाँ हैं कि इनका अर्थ लगाना बहुत ही कठिन काम है।

संसार की नित्य की घटनाओ को घटित होते हुए देख कर पूर्वाचार्यों ने कुछ सिद्धान्त स्थिर किये हैं। जब बहुत दिन तक देखते रहे कि सूर्य्य पूर्व में ही उदय होता है तब उन्होने यह निश्चित सिद्धान्त बना दिया कि 'सूर्य्य पूर्व दिशा में ही उदय

होता है।" इसी प्रकार पूर्व जन्मों के संस्कारों के विषय में भी निर्णय किया गया। हम देखते हैं कि एक ही स्थान में एक ही काल में उत्पन्न होने वाले बालकों में बहुत बड़ा वैषम्य पाया जाता है। कोई तो जन्म से ही तीव्र बुद्धि वाला होता है और कोई बुद्धि से बिलकुल शून्य ही होता है। कोई पढ़ लिखकर भी पूरा घोंघा बसन्त ही बना रहता है और कोई कोई निरक्षर होने पर भी जगत्मान्य महापुरुष समझा जाता है। इसका क्या कारण है? हिन्दुओं के सभी शास्त्रों को खोज जाइये, उन सबमें इस प्रश्न का एक ही उत्तर मिलेगा—'पूर्व जन्म के संस्कार'। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी गीता में कहते हैं—

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते ॥

इच्छा न करने पर भी वह पूर्ण सिद्धि की ओर आपसे आप ही खिँचा चला जाता है। यह बात कुछ हमारी बुद्धि में भी बैठती है। नहीं तो कबीर, रैदास, रामकृष्णदेव, नानक सब के सब ही अशिक्षित थे। बिना पूर्व जन्म के संस्कारों के ये एक ही जन्म के प्रयत्न से महापुरुष होगये हों, यह असंभव बात है। पूर्व जन्म के संस्कार इस शरीर में अव्यक्त रूप से कहीं इधर उधर छिपे रहते हैं, काल पाकर वे व्यक्त होजाते हैं। पश्चिम का सबसे प्रसिद्ध कवि होमर जन्मान्ध था। हिन्दी भाषा के ही नहीं, कविता के सूर्य्य सूरदासजी नेत्रहीन ही थे। ये दोनों

ही महापुरुष जगत्‌विख्यात कवि हुए। आज हम पाठकों को गुजरात के एक ऐसे ही महापुरुष का परिचय कराना चाहते है, जो कवि होने के साथ ही उच्चकोटि के संत भी थे। वे भी जन्मान्ध थे। चर्म-चक्षु न हुई तो क्या हुआ, वे महान् प्रज्ञा-चक्षु थे। उनका नाम था महात्मा प्रीतमदासजी।

वंश-परिचय और जन्म

भक्ति-प्रधान गुर्जर भूमि मे 'बावला' नाम का एक छोटा सा ग्राम है। यह ग्राम गुजरात के जिले में है। इसी ग्राम मे प्रतापसिंह नामक एक भाट महाशय निवास करते थे। गुजरात मे भाट लोग बही रखते है और उनमे अपने जिजमानों की वंशावली लिखा करते है। हमारे इधर उन्हें राय अथवा भाट कहते है। प्रतापसिंह की स्त्री का नाम जेकॅवरबाई था। सम्वत् १७७० और १७८० के लगभग प्रतापसिंह के औरस तथा जेकुँवरबाई के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। यह शिशु जन्म से ही नेत्रहीन था। आगे चलकर यही बालक प्रीतम स्वामी के नाम से सम्पूर्ण गुजरात प्रान्त मे प्रसिद्ध तथा पूजनीय महापुरुष हुआ।

बाल्यकाल

प्रीतम स्वामी के पिता की आर्थिक स्थिति अच्छी नही थी। वे घर के बहुत गरीब थे। जिजमान-वृत्ति से ही वे अपने परिवार का पालन पोषण करते थे। वे इनके बाल्यकाल मे ही परलोक-

वासी हुए। इसके थोडे दिन के पश्चात् इनकी माता भी चल बसी। अब तो ये मातृपितृ-विहीन अनाथ बालक होगये। तिस पर तुर्रा यह कि ये जन्मान्ध थे। अतः इस कुट्टिनी विभुक्षा को शान्त करने के लिए इन्हे द्वार द्वार एक एक मुट्ठी अन्न को भटकना पडा। आज भी हम भारत के प्रायः प्रत्येक प्रान्त मे ऐसे असहाय बालको को एक रोटी के टुकड़े के लिए कुत्तो के साथ कुश्ती करते हुए देखते है। जब हम उच्च और प्रतिष्ठित कहलाने वाले धनी मानी पुरुष पूडी और कचौडियो के दोनो को लिये हुए खाने बैठते है तब सामने कुत्तो की पंक्तियों मे कुछ दुबले पतले क्षीणकाय जीर्ण वस्त्रधारी मनुष्य की जैसी आकृतिवाले पशुओ को भी कुत्तो के ही साथ खड़ा पाते हैं। अपने दोने की पूड़ियाँ समाप्त करके जहाँ हम एक टुकड़े के साथ उस ख़ाली दोने को फेकते है तो उस छोटे से टुकड़े पर कुत्ते और वे बालक दोनो एक साथ ही झपटते है। यदि वह टुकड़ा कुत्ते के मुँह मे पडगया तो वे अभागे उस टुकड़े को उनके मुँह मे से भी निकालने का प्रयत्न करते है। उनमे बहुत से लँगड़े, लूले अपाहिज तथा अंधे भी होते है। ऐसी घटनायें बड़े बड़े शहरो में प्रायः नित्य ही देखने मे आती है। हा भारत! पानी के स्थान पर दूध देने वाले भारत!! आज तेरी यह दशा? आँसू गिरकर कागज को भिगोना और ख़राब करना चाहते है। अतः हृदय के पिघलानेवाले इस दृश्य को यही समाप्त करके हम अनाथ और अन्य

भिक्षुक प्रीतमदास के अगले जीवन पर विचार करना चाहते है।

वैराग्य और पूर्व स्मृति

कहते है कि प्रीतमदासजी की अवस्था जब १०-१५ वर्ष की थी, तब इनके गाँव में साधुओ की एक जमात आई। ये गलियो मे गा-गा कर भिक्षा माँगते डोलते थे। इनका गला मधुर था, गीत गाने का ढँग चित्ताकर्षक था। उस जमात के महन्त भाईदासजी की दृष्टि इन पर पड़ो। वे ताड़ गये कि यह बालक होनहार है, अतः उन्होने इन्हें गुरुमन्त्र देकर अपनी जमात में रख लिया और जमात के साथ ही साथ वे जमात के मुख्य स्थान चूड़ा राणापुर मे आये और वहाँ साधु महात्माओ के सत्संग से थोड़े ही दिनों में ये पडित होगये। इसके अनन्तर ये संदेसर में आकर रहने लगे।

एक महात्मा ने हमे बताया था कि प्रीतमदासजी जब बालक थे तब घर घर माँगते फिरते थे। एक सेठ ने दया कर के इन्हें अपने यहाँ नौकर रख लिया। वह इन्हें खाने को रोटी और पहनने को कपड़े देता था और ये उसके द्वार पर बैठे पहरा दिया करते थे। अन्धे पैछर .खूब पहचानते हैं। तनिक सी आहट मिलने पर भी वे उसे समझ जाते हैं। यहाँ तक देखा गया है कि वे पैरों की आहट सुनकर ही बता देते है कि यह अमुक व्यक्ति है। इसीलिए ये अपने द्वारपाल के काम के सर्वथा

योग्य थे और उसे ख़ूब तत्परतापूर्वक करते भी थे। एक बार उस सेठ के यहाँ भागवत का सप्ताह हुआ। इन्होंने भागवत की कथा को आद्यन्त सुना। कथा के सुनते ही इनकी सुप्त हुई प्रतिभा जाग उठी और ये पद-रचना करने लगे। अन्त मे महन्त भाईदासजी के शिष्य बापूजी के जाकर चेला हुए और उनसे गुरुमन्त्र लेकर फिर ये नडियाद आदि स्थानो में साधु संग करते रहे, अन्त में आकर संदेसर मे रहने लगे।

इन बातों मे कौन सी बात ठीक है, इसके जानने का कोई साधन उपलब्ध नहीं। दोनो ही बाते ठीक हो सकती हैं। सेठ के यहाँ भागवत सुनने के अनन्तर इन्हे ज्ञान हुआ होगा और तभी जमात भी आगई होगी। ये उसके साथ चले गये होगे। उस समय जमात के महन्त भाईदासजी थे। भाईदासजी रामानंदी संप्रदाय की शिष्य परम्परा में आत्मारामजी के शिष्य थे। बापूजी इन्हीं भाईदासजी के प्रधान शिष्य थे। हो सकता है कि भाईदासजी ने स्वयं दीक्षा न देकर इन्हें अपने सबसे प्रधान शिष्य बापूजी से ही दीक्षा दिलाई हो। प्रीतमदासजी ने अपनी कविता में कई स्थानो पर बापूजी को गुरु कह कर ही सम्बोधित किया है और गुरु की ही भाँति इनकी महिमा भी गाई है।

साधु-महात्माओ के सत्सग से इन्होने गीता, भागवत, रामायण तथा वेदान्त के सभी ग्रन्थो का भली भाँति श्रवण तथा मनन किया। सदेसर मे और नडियाद मे इन्होने बहुत काल

तक गुरु गोविन्दरामजी का भी सत्संग किया । उनके सहवास से इन के ज्ञान में अत्यधिक वृद्धि हुई और इन्हें श्रीमद्भागवत का दशमस्कन्ध तो कंठ होगया ।

रहन-सहन और वृत्ति

साधु-महात्माओ के सत्संग से लाभ उठाकर और यथेष्ठ ज्ञान लाभ करके ये संदेसर में आकर रहने लगे । ये प्रत्युत्पन्नमति थे । जैसा उच्चकोटि का पाण्डित्य था वैसी ही इनकी मनोहर मनोज्ञ सुन्दर वाणी थी । एक बार जिसने इनका उपदेश सुन लिया, वह सदा के लिए इनका प्रशंसक बन गया । इन गुणों के कारण इनकी प्रसिद्धि होने मे बहुत देर नही लगी । थोड़े ही दिनो में इनका यशःसौरभ चारो ओर व्याप्त हो गया । और दूर दूर से लोग इनकी प्रशंसा सुन कर दर्शनों के लिए आने लगे । इनके बहुत से शिष्य होने लगे और एक बडा भारी मदिर भी बन गया। फिर तो दिन दूना रात चौगुना इनका वैभव बढ़ने लगा। गुजरात के विभिन्न स्थानो मे इनके ५२ मदिर बन गये। उन सब मे इनकी तरफ़ से साधु रह कर भजन पूजन करते तथा गृहस्थियो को सदुपदेश देते थे ।

प्रीतमदासजी एक अच्छे महन्त की भाँति प्रतिष्ठापूर्वक रहते । ये रथ में बैठकर बाहर निकलते । चार पट्टीदार हर समय इनके साथ रहते । ये जो भजन अथवा राग बोलते वे

लोग झट उसे लिख लेते । भजन बनाने में ये इतने प्रवीण थे कि चारों को अलग अलग चार भजनो की टेक लिखवाते और क्रमशः एक एक पंक्ति करके चारों भजनों को एक साथ ही पूरा करते । ये रुपया पैसा ग्रहण नहीं करते थे । जो कोई अन्न-वस्त्र तथा अन्य आवश्यक सामिग्री दे जाता था, उसे ग्रहण कर लेते थे । ये मंदिर के खेतों में खेती करते थे और उसमे स्वयं भी काम करते थे । उसी अन्न से मन्दिर के भोग-राग तथा साधु-सेवा का काम चलता । ये बड़े प्रतिभाशाली तथा प्रभाव-शाली पुरुष थे । अन्य साधु-महात्माओ की भाँति इनके सम्बन्ध मे भी बहुत सी चामत्कारिक सिद्धियाँ प्रसिद्ध है उनमे से थोड़ी सी नीचे उद्धृत की जाती है—

(१)

कहते है कि एक बार बड़ा भारी अकाल पड़ा । वर्षा के बिना पशु, पक्षी, मनुष्य सभी तड़फडाने लगे । किसानो की फ़सल पानी के बिना सूखने लगी । प्रीतमदासजी ने भी अपने मंदिर के खेत में बजडी बोई थी । एक वृद्ध साधु ने आकर प्रीतमदास को ख़बर दी कि खेत की बजड़ी पानी के बिना सूखी जा रही है । प्रीतमदासजी ने कहा—"अच्छा, कल देखा जायगा ।" दूसरे दिन प्रीतमदासजी सब साधुओं को साथ लेकर खेत मे गये और वहाँ जाकर भगवान् की बडी दीनता के साथ प्रार्थना करने लगे । अन्त मे उन्होंने कहा—

बालाजो, तुं मोकलने १ बरसाद रे।
साधु संतो शानो २ करशे परसाद रे॥

प्रीतमदासजी की प्रार्थना परमात्मा ने सुन ली और उसी समय मूसलाधार पानी पड़ने लगा।

(२)

एक बार आप डाकोरजी मे श्री रणछोरजी के दर्शन करने के लिए गये थे। उसी समय एक दिल्लगीबाज़ ने इनकी खिल्ली उड़ाते हुए कहा—"आप को दीखता तो है नही। जिसे दीखे उसका दर्शन करने आना तो ठीक भी है। जब आपको दीखता ही नही है तब फिर व्यर्थ मे आप दर्शन करने क्यो आते है?" यह सुनकर प्रीतमदासजी ने निम्नलिखित पद में उस समय ठाकुरजी का जैसा श्रृङ्गार था उसका ज्यो का त्यो वैसाही वर्णन किया—

रूप तमारू रलीयांमणु ३ रणछोडराय।
सुन्दर सरखु सोहिया, मणु रणछोडराय॥

माथे मनोहरमोलीयुं १, झाझा २ ते रंगमां झकोलीयु—रण०
छोगे३ छवी आवी ४ छवी, मोर चंद्रीका भासे भली—रण०
काने ते कुण्डल झलकतां, मांय ५ मुगताफल ढलकतां—रण०

१—मोकलने = मेह को भेज। २ शानो = किस तरह से।

३—रलीयांमणु = शोभायमान। मोलीयुं = मुकट। झाझा = अनेक। छोगे = छोर। आवी = अच्छी। मॉय = अन्दर।

भाल तीलक भलां शोभतां, महामुनिनां मनलोभतां—रण०
मोटुं ६ मोती मुकराणुं, अधर उपर आपे ७ घणुं ८ —रण०
अधर अरुण रंग चोल छे, अगर सुगधी अंग ढोल छे—रण०
कंठे हीरा हेम सांकली, मणिमाला मुगतावली—रण०
भुजकंकण बाजु वेरवा ९, रत्न जडित कर मुद्रीका ॥ रण०
कंदोरो १० कटी कीकनी, पीताम्बर दुती दामिनी ॥ रण०
जामो ११ जरीनो जेर छे, पटके कसबीकोर छे ॥ रण०
पावले १२ अणवट बीछीया, प्रेमनी द्रष्टे प्रीछीया १३ ॥ रण०
नेपुर उपर झुमे झांझरी, रमक झमक रंग घुघरी ॥ रण०
सुंदरता अंग अंगनी, उपमा कोट्य अनंगनी ॥ रण०
रूप तमारूं अपार छे, प्रीतमनां प्राण अधार छे ॥ रण०

यही नही, किन्तु पुजारी की भूल से भगवान के कान मे एक उलटा कमल का फूल लग गया था। प्रीतमदासजी ने पुजारी की यह भी भूल बता दी। पुजारी उनकी अन्तर्दृष्टि को देख कर बडा विस्मित हुआ और अपनी भूल पर उसे लज्जा भी आई।

(३)

एक बार चतुर्मासा बिताने के लिए साधुओ की एक बडी जमात प्रीतमदासजी के मदिर मे आकर ठहरी। उस जमात मे

मोटु = अच्छा। ओपे = शोभायमान। घणुं = बहुत।
वेलखा = बाजू बन्द। कन्दोरो = कर्धनी। जामो = अंगरखा।
पावले = पैर में। प्रीछीया = पहचानना।

ठाकुरजी की एक बड़ी सुन्दर मूर्ति थी। पूजा के लिए वह मूर्ति प्रीतमदासजी के मंदिर मे पधराई गई। मूर्ति बड़ी भव्य और चित्ताकर्षक थी। प्रीतमदासजी के प्रधान शिष्य नारायणदासजी उस पर लुभा गये। उनकी इच्छा थी कि यह मूर्ति पूजा के लिए यहीं रहे। जब साधु चलने लगे, तब नारायणदास ने स्वामी के कान मे आकर कहा—"महाराज, महन्तजी से कह दीजिये कि इस मूर्ति को यही छोड जायँ।" इस पर प्रीतमदासजी ने कहा—"महन्तजी से कहने की क्या आवश्यकता है, यदि तुम्हें सचमुच उस मूर्ति से प्रेम है, तो उसीसे कहो वह कहीं अन्यत्र न जाय। तुम्हारा सच्चा प्रेम होगा, तो वह स्वयं ही कही अन्यत्र जाने को तैयार न होगी।" कहते है कि भगवान् की मूर्ति इनके प्रेम से प्रसन्न होगई और बहुत प्रयत्न करने पर भी वह वहाँ से न उठी। तब साधु उस मूर्ति को छोड़ कर चले गये। पहले प्रीतमदासजी के ठाकुरजी का नाम "कुंजबिहारी" था। उस दिन से उनका नाम "जानराय" हुआ। आज तक प्रीतमदासजी के मदिर के ठाकुरजी "जानराय" के ही नाम से प्रसिद्ध है।

(४)

एक बार प्रीतमदासजी साधुओं की जमात के साथ कही जा रहे थे। एक स्थान पर साधुओ ने पड़ाव डाला। धूप तेज थी, गरमी के मारे सभी छटपटा रहे थे। वहाँ पास मे कही पानी

नहीं था। पास में एक ही कुँआ था। उसका पानी बहुत खारा था। प्रीतमदासजी ने कहा—"इस कुँए से पानी क्यों नहीं निकालते?" लोगो ने उत्तर दिया—"इसका पानी तो बहुत खारा है।" प्रीतमदासजी ने कहा—"तुम लोग निकालो भी, इसका पानी तो गंगाजल के सदृश मीठा है।" लोगों ने पानी खींच कर पिया। पानी सचमुच गंगाजल के समान मीठा निकला। उसी दिन से उस कुए का नाम "गंगवो" पड गया।

(५)

प्रीतमदासजी जब जमात के साथ आगे बढ़े तब उनकी ख्याति वहाँ के मुसलमान शासक ने सुनी। वह इनकी परीक्षा लेने के लिए एक थाल मे नमक भर के और उसे रूमाल से ढाँक कर इनके पास लाया। इन्होने उसमें से थोडा सा तो स्वयं खाया और शेष सबको बाँट दिया। कहते है कि सभी को उसमें शक्कर का स्वाद आया। शासक इनकी इस अद्भुत सामर्थ्य को देख कर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने इनके मदिर के लिए १०० मन मीठा प्रति वर्ष बाँध दिया। कालक्रम से मीठा तो अब बंद हो गया, किन्तु उसके स्थान मे ७॥।) सरकार की ओर से अब भी मिलते है।

(६)

एक समय ये डाकोरजी में श्रीरणछोड़जी के राज-भोग के समय दर्शन करने के लिए घर से निकले। रास्ते में देखा कि

बड़ी भारी भीड़ है, निकलने तक को रास्ता नही है । इन्होने लोगो से भीड़ का कारण पूछा । लोगो ने बताया कि एक सेठ के रथ का बैल मर गया है । उसी निमित्त इतने लोग वहाँ जा रहे है । राजभोग का समय निकला जाता था, पुजारी थाल लिए पीछे खड़ा था । भीड के कारण वह भी नही निकल सकता था, तब प्रीतमदासजी ने लोगो से कहा—"तुम मुझे बैल के पास ले चलो ।" लोग प्रीतमदासजी को मरे हुए बैल के पास ले गये । प्रीतमदासजी ने बैल से कहा—"अरे, बहुत सो लिया, अब उठ । भगवान् के राज-भोग के लिए देर हो रही है ।" यह कह कर इन्होने बैल को छू दिया । इनके छूते ही बैल फड़फड़ा कर उठ खड़ा हुआ । यह देखकर सभी लोग चकित रह गये ।

(७)

एक बार एक चोर प्रीतमदासजी के यहाँ चोरी करने आया । एक गठरी अनाज की बाँध कर वह बाड़े से बाहर निकलने लगा, परन्तु रात्रि भर वह बाड़े के इधर उधर भटकता रहा, उसे रास्ता ही न पाया । सुबह होते ही लोगो ने उसे देखा और उसे पकड़कर प्रीतमदासजी के पास ले गये । प्रीतमदासजी ने कहा—"भाई, तुम दिन में क्यो नही आये । यदि दिन मे लेने आते तो क्या मैं मना कर देता ?" यह कह कर उन्होंने चोर को छोड़ दिया ।

(८)

एक बार काशी से बहुत से लोग इनकी प्रशंसा सुनकर इन के दर्शनो के लिए संदेसर में आये। उनके आने के तीन दिन पूर्व ही प्रीतमदासजी परलोक-वासी हो चुके थे। भक्तों ने जब यह सम्वाद सुना तब वे बड़े दुखी हुए। उन्होंने कहा—'यदि हमारी प्रीतमदासस्वामी के प्रति सच्ची प्रीति होगी, तो हम अवश्य दर्शन पावेगे।'' यह कह कर वे लोग उस स्थान पर धन्ना देकर जा बैठे, जहाँ कि इनका अन्तिम सस्कार हुआ था। तीन दिन तक बिना कुछ खाये पीये ये लोग उसी स्थान पर बैठे रहे। तीसरे दिन प्रीतम स्वामी ने प्रत्यक्ष होकर इन्हे दर्शन दिये और अपने प्रधान शिष्य नारायणदासजी के लिए कहला भेजा कि अमुक सन्दूक की खंदक में एक आवश्यकीय गुटका रक्खा है। अन्तिम समय हम उसे बताना भूल गये थे, सो उसे निकाल लेना। लोगों ने मंदिर में जाकर सब समाचार सुनाया और उस गुटके की बात भी कही। जिस सन्दूक की खंदक मे वह बताया गया था, ठीक उसीमें गुटका निकला। लोगों ने इन भक्तों के प्रेम की बड़ी प्रशसा की।

पारमार्थिक विचार और उपदेश

प्रीतमदासजो यद्यपि वैष्णव थे और वैष्णवों की भाँति ही पूजा-पाठ तथा आचार-विचार रखते थे, किन्तु सिद्धान्त मे वे वेदान्त-सिद्धान्त को ही अन्तिम लक्ष्य मानते थे। इन्होने वेदान्त का अन्य भक्तो की भाँति उपदेश

ही नहीं किया है, किन्तु वेदान्त-प्रक्रिया का सरल और सुबोध भाषा मे ऐसा यथातथ्य वर्णन किया है कि देखते ही बनता है। वेदान्त के ऊँचे ऊँचे विचारो को इन्होंने बडी ही खूबी के साथ सर्वसाधारण जनो के समझने योग्य बहुत ही साधारण भाषा मे समझा दिया है। वेदान्त के मुख्य तीन सिद्धान्त है- (१) ब्रह्म सत्य है (२) जगत् मिथ्या है और (३) जीव व ब्रह्म एक ही है। इन विषयो मे प्रीतमदासजी के विचार सुनिये। चराचर मे वही एक ब्रह्म रम रहा है, इस विषय मे प्रीतमदास-जी कहते है—

भजो ब्रह्म निरतर नाम, विराजे विश्व चराचर राम।
विरंची आदि देह कीट पर्यंत, बोले बहु रूप धरी भगवंत॥
निरंजन अजन माँ रह्यो आप, जपेछे पोते पोतानो जाप।
पोते थया स्वामी पोते थया शिष्य, पोते थया रंक पोते थया ईश१

× × × × × ×

सर्व स्थल वासुदेव वसी रहेछे, जोड़ी जुगपाणि प्रीतमदास कहेछे।

वेदान्तियो ने स्थान स्थान पर इस जगत् को बाजीगर का सा खेल कहा है, जैसे बाजीगर कुछ न होने पर भी बहुत सी चीजो की रचना कर डालता है। यथार्थ में ये चीजे सत्य नही है, ऐसे ही यह दृश्य जगत् की जितनी वस्तुएँ है वे भी सत्य नही है। प्रीतमदास जी कहते है—

१—पोते पोतनो = अपना अपने आपही। थया = हुआ। २—त्रण = तीन। तेम = तिम प्रकार।

बाजीगर खेल बनावे जेम, प्रभु त्रण लोक रचे छे नेम ।
जेनी मायाये रच्युं ब्रह्मांड, सदा द्वीपतणा बन्या नव खंड ॥२॥

जीव और ईश्वर के सम्बन्ध मे प्रीतमदास जी कहते है—

ईश्वर अश ते जीव जाणो, सागर बिन्दु जोय ।
तणखा[1] दीप मशाल भडका, भिन्न अग्नि न होय ॥
भुगता जीव ईश्वर फल दाता, शुभ अशुभ अनुसार ॥
अविद्या माया ने सगे, भये भव मोझार ॥

वेदान्तियो ने माया को न सद् बताया है और न असत् उसे 'अनिर्वचनीय' कहा है। वेदान्तसार—कार एक स्थान मे माया का स्वरूप बताते हुए कहते है—

सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकम् ।
ज्ञानविरोधि भावरूपं यत् किञ्चित् ॥

अर्थात् माया भावरूपी कुछ है. वह त्रिगुणात्मिका है, ज्ञान की विरोधिनी है , वह न सत् है और न असत् है ।

अब आप प्रीतमदासजी की उक्ति और उदाहरण सुनिये-

माया मूल वनी[2] वरखडो[3] महालो[4] त्रिभुवन माय ।
नित्य नौतम फूले फले, ताती[5] शातल छाय ॥

बिना मूल की बेल है जो नित्य नई फूलती फलती है और त्रिभुवन मे व्याप्त है ।

---

१ तणखा = पतगा । २ बनी = बिना । ३ वरखडी = पीलूका पेड । ४ महालो = फैली हुई है । ५ ताती = तिमकी ।

ईश्वर—प्राप्ति के साधन के विषय मे प्रीतमदासजी चित्त-शुद्धि पर बहुत ज़ोर देते है। उन्होने स्थान स्थान पर बड़ी ख़ूबी के साथ यह बात समझाई है कि आत्मशुद्धि के बिना जप, तप, पूजा, पाठ सभी बेकाम है। एक स्थान पर वे कहते हैं—

भावे जाओ मधुपुरी, भावे काशी केदार।
कहे प्रीतम शुद्धभाव बिना, फले न एक लगार[1] ॥१॥
भाव बिना पृथ्वी भ्रमे, दमे देह बहु भाँत।
कहे प्रीतम शुद्ध भाव बिना, मिले नही सुख शांत॥

चित्त-शुद्धि का साधन क्या है? एक मात्र भगवान के पाद-पद्मों मे अनन्य भक्ति। भक्ति से ही सब कुछ प्राप्त हो सकता है। सच्ची भक्ति के बिना कुछ नहीं। साकार निराकार किसी की भी क्यों न हो, भक्ति से ही भक्त का बेड़ा पार लग सकता है। इस विषय मे प्रीतमदासजी ने हजारो पद कहे है और भक्ति की महिमा बताई है। स्थानाभाव से यहाँ हम उन पदों को उद्धृत नहीं कर सकते।

उपसंहार

स्वामी प्रीतमदासजी सचमुच एक ऊँचे सत थे। इनके पदों को पढ़ने से प्रतीत होता है कि सचमुच इनके ज्ञानचक्षु खुल गये थे, जिसे प्राप्त कर लेने के पश्चात् फिर कुछ प्राप्त

---

१ लगार = थोड़ा।

करने के लिए रह ही नहीं जाता, मालूम पड़ता है कि प्रीतम स्वामी ने उस रस का चाहे थोड़ा ही सही परन्तु, पान अवश्य किया होगा। तभी तो आप भीतर से मग्न होकर कहते हैं—

सद्गुरुनी कृपा थकी, उपन्यो रे आनन्द।
प्रीतम ते पद पामो या, ज्यो नहि सुर ने चंद॥
जाण तुं हतुं ते जाणीयुं, हवे नथी जाणवु कांय।
पोते[1] पोतामां भल्यो, ज्यम[2] पालो[3] पाणो मांय॥

अन्धे होने पर भी ये व्यवहारिक कार्यों मे दक्ष थे। जैसे ही ये ज्ञानी तथा पंडित थे, वैसे ही सभा-शूर भी थे। सभा के लोगो का मनोरंजन करना कोई साधारण काम नही है। इसमे प्रत्युत्पन्नमति और समय की सोचनेवाला ही पुरुष सफल हो सकता है। मालूम पड़ता है, प्रीतमदासजी मे ये दोनो गुण विद्यमान थे। यह बात नीचे लिखी किवदन्ती से जानी जाती है।

एक बार किसी स्थान पर शास्त्रार्थ हुआ। एक पक्ष के लोग तो सगुणोपासना को ही मुख्य साधन बताते थे और दूसरे-पक्ष के लोग इसे बिलकुल व्यर्थ बताते थे। दूसरे पक्ष वालो में से किसो ने पहले पक्षवालो से प्रश्न कर डाला कि तुम कहते हो विष्णु सर्वत्र हैं यथा—

जले विष्णु स्थले विष्णुर्विष्णुः पर्वतमस्तके।
ज्वालामालाकुले विष्णुः सर्वं विष्णु मय जगत्।

१—आप आप में। २—जम = जिस प्रकार। ३—पालो = बर्फ।

जब सभी जगह विष्णु है तो शौच-क्रिया कहाँ करें ? इन लोगों मे कोई इस वितंडा प्रश्न का उत्तर देने मे समर्थ नहीं हुआ। तब प्रीतमदासजी बुलाये गये। प्रीतमदासजी ने सब बाते सुन कर सभा मे बैठे हुए सभी लोगो से तीन बार श्रीरामचन्द्रजी की जै बुलवाई। सब लोगो ने जै बोली, किन्तु जो सगुणोपासना को व्यर्थ बताते थे, वे चुप ही बैठे रहे। तब प्रीतमदासजी ने कहा—हाँ, यह बात ठीक है कि विष्णु भगवान् सर्वत्र है। रही शौच-क्रिया करने की बात, सो जिसके मुख मे से राम का नाम न निकले, वही सब लोगो के शौच-क्रिया करने का स्थान है। दूसरे पक्ष के लोग इस उत्तर को सुन कर बहुत लज्जित हुए।

प्रीतमदासजी ने गुजराती भाषा मे बहुत से ग्रन्थ बनाये हैं। उनमें ये ग्रन्थ मुख्य है (१) सरसगीता (२) ज्ञान कक्को (३) सोरठरागनो महिमा (४) ज्ञान गीता (५) धरम गीता (६) साखीग्रथ (७) एकादश स्कध (८) ज्ञान प्रकाश (९) ब्रह्म लीला (१०) प्रेम प्रकाश (११) विनय हीनता (१२) भगवत् गीता। इनके बहुत से ग्रन्थ और पदो का सग्रह, "सस्तुं-साहित्य वर्धक कार्यालय, अहमदाबाद" के अध्यक्ष श्रीअखंडानन्दजी ने 'प्रीतमदासनी वाणी' के नाम से एक बड़ी पुस्तक के रूप मे प्रकाशित किया है। उसे पढ़ने से हमे प्रतीत हुआ कि प्रीतमदासजी भक्त होने के साथ ही सुकवि भी थे। यद्यपि इनकी मौलिक रचनाये बहुत कम है, परन्तु इन पुस्तकों में भी स्थान स्थान पर मौलिकता की पूरी पूरी झलक आती है।

श्रीमद्‌भगवत् गीता का पद्यों मे बहुत ही सुन्दर भावानुवाद किया है। प्रीतमदासजी का देहावसान संवत् १८५४ वैशाख बदी १२ के मध्याह्न समय में हुआ था। इनकी मृत्यु के पश्चात् इनके मुख्य शिष्य नारायणदासजी संदेसर को गद्दी के अधिकारी हुए। नीचे हम प्रीतमदासजी के कुछ पद उद्धृत करते हैं। हिन्दी-प्रेमी पाठक उन्हें अच्छी तरह समझ सकेंगे।

प्रीतमदासजी के कुछ पद

(१)

हरि भजन बिना, दुःख दरिया संसारनो पार न आवे।
जड़ बुद्धि जीव, संत बिना शुद्ध मारग कोण बतावे॥
ते अनेक बार अवतार धर्या, बहु कर्मतणा कोठार भर्या।
अध ओध तणा अंवार कर्या॥१॥ हरि०
तु झाड पाहाड जड़ रूपे, रह्यो, ते शीत वृषा बहु ताप सह्यो।
तारो कलेश कोणे नव जाय कह्यो॥२॥ हरि०
पूर्यो चार खांण लक्ष चौरासी, थया जलचर थलचर नभवासी।
माया बंधन थी न शक्यो नासी॥३॥ हरि०
पाम्यो मनुष्य देह तेमां न मणा, धनधाम पुत्र पाखार घणा।
हवे गाई ले गुण गोविन्द तणा॥४॥ हरि० ॥

१—कर्मतणा = कर्मों का। अध ओध = ऊपर नीचे। अंवार = ढेर। तु = तू। झाड़ = वृक्ष। नव = नहीं। पूर्यो = भ्रमा। थयो = हुआ पाम्यो = प्राप्त करके। मणा = कुछ कसर नहीं है। हवे = अभी।

कहे प्रीतम चेतीले प्राणी, एवुं जनम मरणनुं दुःख जाणी ।
शुं सूतो छे आलस आणी ॥ हरि० ॥ ५

(२)

मन माने नहिं, सो केरा समजावुं तो ये शुं थाये ।
खल जठण कठोर चंचल, चोर चपल चित चोदस धाये ॥
मन भूत तणी पेरे भमतुं, चाले मायानी सगे रमतुं ।
अनै हरि भजवानु न थी गमतुं ॥१॥ मन०
मन निर्लज ने लज्या न मले, पीलु भाले पोताने कमले ।
लई नांखे मायाने वमले ॥२॥ मन०
जेम कुकरमाथे मार पड़े, तोय आवी उभुं द्वार अड़े ।
फल देखी ने मरकट झाड़ चडे ॥३॥ मन०
जे जमकिकरनुं दुःख जाणे, तो मिथ्या सुखने शीद माणे ।
गयो अवसर उरमां नव आणे ॥४॥ मन०
कहे प्रीतम परपंच परहतां, शुद्ध भावे हरिनुं समरण करतां ।
कांई वार नहि भवजल तरतां ॥ मन० ॥५॥

२—शुं = क्या । शुं थाये = क्या हुआ । चोदस = चतुर्दिक, चारों ओर से । तणी = जैसे । अनै = इसको । न मले = नहीं है । पीलुं = पाला । कमले = कमलवायका रोगी । वमलेभंवर । जेम = जिस प्रकार । तोय = तोभी । उभु = फिर । झाड़ = वृक्ष पर । उरमां = हृदय में ।

(३)

हरिनो मारग छे शूरानो, नहि का परतुं काम जोने ।
परथम पहेलुं मस्तक मूकी, बलती लेवुं नाम जोने ॥

सुत वित दारा शीश समरपे, ते पामे रस पीवा जोने
सिन्धु मध्ये मोती लेवा मांही, पड्या मरजीवा जोने ॥१॥

मरण आंगमे ते भरे मूठी, दिलनी दुग्धा वामे जोने
तीरे उभा जुए तमाशो, ते कोडी नव पामे जोने ॥२॥

प्रेम पंथ पावकनी ज्वाला, भाली पाछा भागे जोने ।
माँही पड्या ते महासुख माणे, देखनारा दाझे जोने ॥३॥

माथा साटे मोंघी वस्तु, सांपडवी नहि स्हेल जाने ।
महापद पाम्या ते मर जीवा, मूकी मननो मेल जोने ॥४॥

राम अमलमां राता माता, पूरा प्रेमी परखे जोने ।
प्रीतमना स्वामीनी लीला, ते रजनी दंन नरखे जोने ॥५॥

नमूनार्थ श्रीमद्भगवत्गीता के दो श्लोकों का भावार्थ—

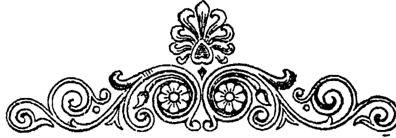
३—जोने = देखो । मूकी = उतार कर रक्खे । बलती = पीछे । पामे = प्राप्त हो । वामे = उसमे । उभा = खड़ा । जुए = देखे । नव = नहीं । भाली = देखकर । मांही = अन्दर । देखनारा = देखनेवाला । दाझे = जले । साटे = बदले में । मोंघी = मँहगो । सांपडवी = मिलना । स्हेल = सरल । दन = दिन । —मूकीने = छोड़कर । मुकावीश = छुड़ा दूँगा ।

(४)

सर्व धर्म अधर्म मूकीने, तुं शर्ण माहारे आव्य ।
शोक पाप थकी मुकावीश, तु मित्र चित्तमां लाव्य ॥ १८ अ० ६६ श्लो०

(५)

सउ हृदेमां रह्यो ईश्वर, जाणे नहि मनमूढ ।
ते भ्रमावे सब भूतने, ज्यम जंत्र मायारूढ ॥ १८ अ० ६१



५—सउ = सब । ज्यम = जिस प्रकार ।

बाबा मलूकदासजी

जिन्होंने प्रभु के साथ अनन्यता प्राप्त करली है, जिनका अहं भाव पूर्णरीत्या नष्ट हो चुका है, वे इस बात को प्रत्यक्ष देखने लगे हैं कि इस सम्पूर्ण संसार के चक्र को वही सर्वाधार अपने हाथों से चला रहा है। उसकी मर्जी के बिना एक पत्ता भी नही हिल सकता, सभी कार्य्य, उसकी भ्रकुटी के इशारे से होते हैं। अज्ञानी मनुष्य व्यर्थ ही अभिमान किया करता है कि यह मैंने किया, यह मैंने दिया। असल में सबको देने वाले तो वे ही त्रिलोकीनाथ हैं। इस सम्बन्ध का मलूकदासजी का एक दोहा लोक में बहुत प्रसिद्ध है—

अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
दास मलूका यों कहैं, सबके दाताराम॥

कुछ लोगों का कथन है कि इस दोहे ने लोगों मे अकर्मण्यता के भाव पैदा कर दिये हैं। अपनी अपनी समझ ही तो है, हम उनसे क्या कहे, किन्तु हमें तो इसमे कहीं भी अकर्मण्यता की गन्ध तक नही आती। इस दोहे का अभिप्राय केवल यही है कि जो लोग दिन रात यही कहा करते हैं कि भाई, अमुक काम न करूँ, तो खाने को कहाँ से आवे, मैं पचासो

आदमियो को रोजो चलाता हूँ। मेरे पीछे १० आदमियों का कुनबा है, यदि मैं न करूँ तो वे सबके सब भूखा मर जायें। उस अहंकारो आदमी से यह बात कही गई है कि अरे मूर्ख, यह तेरा मिथ्याभिमान है। देने वाला तो सबको वही विश्वभर है। एक सागवाली दो आने का साग लेकर बेचती है, पैसे में उसे छदाम भी नहीं बचता, भगवान उसे भी खाने को देता है, और जो बड़े बड़े पेटवाले दिन मे लक्षो और करोडो का व्यापार करते हुए पेट ही पेट चिल्लाते रहते है, उनका भी पेट ही भरता है। ये व्यापार-वसीला तो सब निमित्त मात्र है, अनेक रूपो में वही सबको देता है। लोक मे कहावत है—"हिल्ले रुजिक बहाने मौत"। मौत के लिए कोई न कोई बहाना होना चाहिए। "कल धूप मे गया था, घाम लग गई, इससे बुख़ार आया और मर गया।" उस दिन धूप मे जितने आदमी निकले होगे, सभी थोड़े ही मर गये होगे ? किन्तु मृत्यु के लिए कुछ बहाना तो चाहिए। इसी प्रकार रोज़ी के लिए कोई वसीला होना चाहिए। परमात्मा सब तरह से देने वाला है। जो साधारण आदमी है, वह ऊपरी बातों को ही देखते है। वे बस इतना ही समझ सकते है कि अमुक आदमी सर्दी लगने से मर गया, अमुक पुरुष दुकान करके अपने परिवारवालो का पेट पालता है। किन्तु जो दूरदर्शी है वे इसकी तह तक पहुँचते हैं, वे समझते हैं कि सर्दी लगना और दुकान करना ये तो खाली निमित्त मात्र हैं, इनके भीतर एक अव्यक्त शक्ति कार्य्य कर

रही है। उसी शक्ति को पहचान कर आदमी अमर हो जाता है। महात्मा मलूकदासजी ऐसे ही अमर पुरुषों में से थे।

वंश-परिचय और जन्म

प्रयाग से उत्तर की ओर भगवती भागीरथी के तट पर कड़ा मानिकपुर नाम का एक परगना है। मुसलमानी ज़माने मे मानिकपुर का क़िला एक प्रसिद्ध क़िला समझा जाता था, उस समय इस क़िले में बड़ी बड़ी लडाइयाँ हुई। समय के परिवर्त्तन के साथ ही साथ इस क़िले मे भी परिवर्त्तन हुआ और अन्य क़िलो की भाँति यह किला भी खँडहर होगया। कड़े मानिकपुर की देवी बहुत प्रसिद्ध है। कडा गंगा-जी के इस पार है और मानिकपुर उस पार। कड़े मे देवी का मंदिर होने के कारण यहाँ यात्री बहुत आते जाते रहते हैं। इसी कड़ा नामक ग्राम मे सुन्दरदास नामक एक ककड खत्री निवास करते थे। सम्वत् १६३१ विक्रमी में सुन्दरदास के एक पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ। आगे चलकर ये ही महात्मा मलूक-दासजी हुए।

बाल्यकाल

बचपन से ही उनकी रुचि परोपकार की ओर थी। प्यासे को पानी पिलाना, भूखे को यथाशक्ति अन्न देना, नगे को वस्त्र देना, यह इनका बालकपन से ही स्वभाव था। साधु-सेवा मे इनकी पहले ही से अभिरुचि थी। इनके पिता बहुत अधिक

विद्या-प्रेमी नही जान पड़ते थे, अतः उन्होंने बालक को अधिक पढ़ाने लिखाने का प्रयत्न नहीं किया। इसीलिए मलूकदासजी साधारण फ़ारसी और हिन्दी के अतिरिक्त बालकपन मे कुछ विशेष पढ़े-लिखे नहीं। इनके पिता कपड़े बेचने का काम करते थे, अतः उनकी इच्छा थी कि बड़ा होने पर यह लडका भी यही कार्य्य करे।

योगक्षेम के निमित्त वृत्ति

जब ये कुछ करने योग्य हुए, तब पिता ने इन्हें कम्बल बेचने का काम सुपुर्द किया। गाँवों में जो कपड़े बेचनेवाले होते है, वे बकुची बाँधकर आस-पास के गाँवों में कपड़े बेचने जाते है। प्रायः बड़े बड़े गाँवों मे आठवे दिन किसी बार को पैंठ लगा करती है, उसमें भी सभी लोग अपना अपना सादा बेचने को ले जाते है। अन्य व्यापारियो की भाँति मलूकदासजी भी कम्बलों की बकुची बाँधकर और उसे अपनी पीठ पर लाद कर बेचने ले जाते थे। किन्तु अन्य व्यापारियों से इनमें एक विशेषता थी, ये अन्य व्यापारियो की भाँति सबसे ही पैसा नही माँगते थे। जिसके पास पैसे हों, वह तो पैसे देकर कम्बल ले जाओ और जिसके पास पैसे न हों वह वैसे ही चाहे तो ले जाय। इस प्रकार ये ग़रीब साधु, महात्मा और अभ्यागतों को मुफ़्त में ही कम्बल दे देते। इस बात से इनके माता पिता इन पर क्रुद्ध होते। परन्तु ये अपनी इस आदत को छोडते नहीं थे।

पारिवारिक जीवन

मलूकदासजी का विवाह हुआ था, किन्तु ये बहुत दिन तक गृहस्थ नही रहे। इनकी पत्नी के गर्भ से पहले ही पहले एक कन्या उत्पन्न हुई। थोड़े ही काल में कन्या और पत्नी इस लोक को छोड कर चल बसीं। तब तो ये निर्द्वन्द्व हो गये और आनन्दपूर्वक भजन करने लगे।

भजन और तप

पुत्री और पत्नी की मृत्यु के पश्चात् फिर इन्हे गृहस्थ का झंझट अच्छा नही लगा और विरक्त होकर एकान्त में भजन-ध्यान करने लगे। गाँव से बाहर गंगाजी के तट पर इन्होंने एकान्त में एक स्थान बना लिया, वहीं रह कर ये भक्तों के साथ परमार्थ-चिन्तन करते और आये हुए जिज्ञासुओं को उपदेश देते। धीरे धीरे इनकी ख्याति चारो ओर फैलने लगी और सभी प्रान्तों के लोग इनके दर्शनो के लिए आने लगे। ये बिना किसी भेदभाव के सबको उपदेश देते और हिन्दू तथा मुसलमान सभी इन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। ये अन्त तक कड़े में ही रह कर सत्सङ्ग तथा भगवत्-भजन का आनन्द लूटते रहे।

अन्य साधु-सन्तों की भाँति इनके सम्बन्ध मे भी बहुत सी सिद्धियाँ लोक मे प्रचलित है, उनमें से दो चार हम नीचे लिखते है—

(१)

जब ये छोटे ही थे, तब एक बार कुछ साधु क्षुधातुर इनके पास आये। इन्होंने उनकी क्षुधा शान्त करने के निमित्त अपने घर के भडार में से चुरा कर आटा, दाल, चावल आदि सामान ला दिया। साधुओं ने सीधा पाकर उसे बना खा डाला। जब इनकी माता घर मे गईं तब उन्हें भडार में एक दाना अन्न भी न मिला। तब तो वे सब बात समझ गईं। माता खीज कर इनके पास आईं और इनसे कहने लगी—"सभी सामान तो साधुओं को दे दिया, अब घर के लोग क्या खायँ?" यह सुन कर इन्होंने कहा—"माँ, मैंने तो साधुओं को कुछ भी नही दिया है।" इतना सुनते ही माँ इन्हें पकड़ कर भडार मे ले गईं। वहाँ जाकर वे क्या देखती है कि बर्तनो में सब सामान ज्यो का त्यो ही रखा है। यह देखकर वे आश्चर्य्य-चकित होगईं।

(२)

एक बार ये कम्बल बेचने के लिए एक गाँव में गये। दिन भर दौड़-धूप की, किन्तु एक भी कम्बल न बिका। तब ये थक कर एक पेड़ के नीचे बैठ गये। इतने में ही एक आदमी आया, उसने कहा—"हम तुम्हारी गठरी को घर तक पहुँचा दे।" इन्होंने इस बात को स्वीकार किया और गठरी उसके सिर पर लाद दी। वह मज़दूर चलने में बड़ा तेज़ था, अतः वह

गठरी को लेकर आगे निकल गया। ये धीरे धीरे पीछे आने लगे। जब मजदूर पहले ही घर पहुँच गया, तब इनकी माता ने उसे अकेला देख कर सन्देह किया कि कहीं इसने एक दो कम्बल गायब तो नहीं कर दिये। यह सोच कर उसने गठरी तो एक तरफ रखवा ली और उसे एक रोटी देकर एक दालान मे बिठा दिया और बाहर से साँकल लगा दी।

थोडी देर में मलूकदासजी भी आगये। माता ने सब वृत्तान्त उनसे कहा। वे दौड़े दौड़े दालान में गये। किवाड खोल कर वे क्या देखते है कि वहाँ आदमी तो कोई नहीं है, खाली एक टुकडा रोटी का पडा है। तब तो इन्होंने अपनी माता से कहा—"तू बडभागिनी है कि साक्षात् भगवान् ने मजदूर के वेष में तुझे दर्शन दिया।" यह कह कर उन्होंने उस रोटी के टुकड़े को प्रसाद समझ कर पा लिया।

(२)

एक बार इन्होने अपने एक शिष्य को एक भारी अपराध पर पृथ्वी की परिक्रमा करने का दण्ड दिया। वह गंगाजी के द्वारा समुद्र मे पहुँचा और समुद्र मे ही से उसने यात्रा की। वहाँ उसे एक सौदागर का जहाज मिला। सौदागर ने समझा कि यह कोई जहाज़ में का आदमी है, इसका जहाज डूब गया होगा। इसीलिए यह तैर कर इसे पार करना चाहता है। उसने जब इससे पूछा कि तुम्हारा जहाज़ कहाँ डूबा है? तब इसने

सब हाल कह सुनाया। इस बात को सुन कर सौदागर मलूकदासजी का भक्त बन गया।

एक बार उसका जहाज़ भवर मे पड गया और वह डूबने ही वाला था कि उसने मलूकदासजी का स्मरण किया। जहाज़ बच गया। तब तो वह बहुत सी भेंट लेकर कड़े में मलूकदासजी के पास आया। सब बात सुनकर मलूकदासजो ने अपने कधे को दिखा कर कहा—"हमने तुम्हारे जहाज को बचाने मे बडा परिश्रम किया है।" सभो लोग बड़े आश्चर्य्य मे रह गये। कधा छिला हुआ था। सौदागर भक्ति-भाव से भेंट करके अपने घर चला गया।

(४)

एक अहीरिन का लड़का मर गया था। उसके एक ही लड़का था। अहीरिन उसे बहुत प्यार करती थी। उसने बाबाजी से प्रार्थना को कि मेरे लड़के को ज़िन्दा कर दो। बाबाजी ने उसे अच्छी तरह से देख-भाल करके अपनी उँगली का थोड़ा सा ख़ून उसके मुँह मे डाल दिया और उससे बोले—"मालिक के नाम से उठ"—इतना सुनते ही वह उठ कर बैठा होगया।

पारमार्थिक विचार

अन्य संत-महात्माओ की भाँति इन्होंने भी गुरु-महिमा, अजपा जाप की विधि, नाम माहात्म्य, निर्गुण की साधना, बाह्य आडम्बरो की विडम्बना आदि बाते कही हैं। यद्यपि ये निर्गुण

ब्रह्म के उपासक थे, किन्तु सगुणोपासना को एक दम त्याज्य नही बताते थे। उसे भी ये प्रभु-प्राप्ति का साधन मानते थे। ये भी भगवान् की महिमा को अनिर्वचनीय बताते है। जो ब्रह्म कि "अवाङ्मनस गोचर" है उसकी महिमा को भला कौन वर्णन कर सकता है। नीचे दो पद मलूकदासजी के दिये जाते हैं, इससे इनके पारमार्थिक विचार बहुत कुछ जाने जा सकते है—

(१)

ना वह रीझै जप तप कीन्हे, ना आतम को जारे।
ना वह रीझै धोती टाँगे, ना काया के पखारे॥ १॥
दाया करै धरम मन राखै, घर मे रहै उदासी।
अपना सा दुख सबका जानै, ताहि मिलै अविनासी॥
सहै कुशब्द बादहू त्यागै, छाँड़ै गर्व गुमाना।
यही रीझ मेरे निरंकार की, कहत मलूक दिवाना॥

(२)

आपा मेटि न हरि भजे, तेइ नर डूबे।
हरि का मर्म न पाइया, कारन कर ऊबे॥ १॥
करें भरोसा पुत्र का, साहेब बिसराया।
बूड गये तरबोर को, कहुँ खोज न पाया॥ २॥
साध मडली बैठिके, मूढ़ जाति बखानो।
हम बड़ हम बड़ करि मुए, बूड़े बिन पानी॥ ३॥

नब के बाँधे तेई नर, अजहूँ नहिँ छूटे।
पकरि पकरि भलि भाँति से, जमदूतन लूटे ॥ ४ ॥
काम क्रोध सब त्यागि के, जो रामै गावै।
दास मलूका यों कहै, तेहि अलख लखावै ॥ ५ ॥

मलूकदासजी हृदय की कालिख को धोकर उसे स्वच्छ बनाने का उपदेश देते है। उनका विचार है कि जहाँ हृदय मे से काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि द्वंद निकले नहीं कि शुद्ध और स्वच्छ हृदय को देख कर झट परमात्मा उसमे निवास करने के लिए दौडे आवेगे। सचमुच जबतक हमारे घर को ये पापी घेरे हुए बैठे है, तबतक उसमें परमात्मा के लिए स्थान कहाँ? वे तो एकान्त को पसन्द करते है। जिसे अपने हृदय-मंदिर मे प्रभु की प्रतिमा पधरानी हो, उसे इन ऊल जलूल चीजो को मन्दिर मे से निकाल कर फेंकना ही होगा। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई भी मार्ग नही।

उपसंहार

मलूकदासजी यद्यपि अपने ही यहाँ बैठकर उपदेश करते रहे, किन्तु उनकी ख्याति दूर दूर तक फैल गई। यहाँ तक कि नैपाल और काबुल तक मे इनकी गद्दियाँ क़ायम है। ये अपने समय के अच्छे सन्त हो गये हैं। इन्होंने अपनी पूर्ण आयु का उपभोग किया। १०८ वर्ष की अवस्था मे इन्होने शरीर त्याग

किया। शरीर त्यागने के ६ महीने पूर्व ही इन्होने अपने भतीजे रामसनेहीजी को अपना स्थानापन्न गद्दीदार बना दिया।

कहते हैं कि इन्होंने मृत्यु के पूर्व अपने चेलो से कह दिया था कि हमारे शरीर को जलाना मत, गंगाजी मे प्रवाह कर देना। चेलाओ ने इनकी आज्ञा का पालन किया और शरीर को गंगाजी मे प्रवाहित कर दिया।

यह कथा भी प्रसिद्ध है कि इनका शरीर बहता हुआ जगन्नाथजी तक पहुँचा। वहाँ जगन्नाथजी ने अपने पंडो को स्वप्न दिया कि मलूकदास का मृत शरीर आवेगा, उसे हमारे पास ले आना। पंडो ने ऐसा ही किया, और उस शरीर को जगन्नाथजी के मन्दिर मे रखकर वे बाहर हो गये। उनके बाहर होते ही पट बन्द हो गये। तब मलूकदासजी ने प्रार्थना की कि हमारे निवास के लिए आपके पनाले के नीचे स्थान हो और भोग के लिए आपका जो पलोथन बचे उसका रोट बने। जगन्नाथजी ने कहा—"ऐसा ही होगा।"

जगन्नाथजी मे पनाले के नीचे अब भी मलूकदासजी का स्थान बताया जाता है, और जगन्नाथजी के भोग के साथ मलूकदासजी का रोट यात्रियो को प्रसाद के रूप मे मिलता है।

मलूकदासजी की कविता मे बड़ी गहराई है। इनके उपदेश सीधे-सादे सरल भाषा मे है, किन्तु वे है बड़े ही मार्मिक हृदय के निकले हुए। देहातो मे इनके भजनकवि तथात्त बहुत

प्रसिद्ध है। नमूने के तौर पर दो चार भजन हम नीचे उद्धृत करते है—

(१)

माया के ग़ुलाम गीदी तू क्या जाने बद्गी ॥
साधुन से धूम धाम, करत चोरन के काम।
द्विजन को पूजा देयँ, गरीबन से रिन्द्गी ॥१॥
कपट की माला लिये, छापा मुद्रा तिलक दिये।
बगल मे पोथी दाबे, लायो फरफद्गी ॥२॥
कहत मलूकदास, छोड़ु दग़ाबाज़ी आस।
बजहु गोबिन्दराय, मेटै तेरी गंद्गी ॥३॥

(२)

अब तेरी शरन आयो राम।
जबै सुनिया साध के मुख, पतित-पावन नाम ॥१॥
यही जान पुकार कीन्ही, अति सतायो काम ॥२॥
विषय सेती भयो आजिज, कह मलूक ग़ुलाम ॥३॥

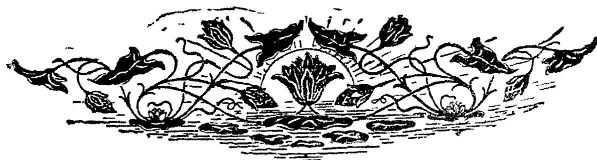
(३)

अबधू का कहि तोहि बखानों।
गगन मँडल में अनहद बोलै, जाति बरन नहि जानों ॥१॥
अहो अहो मै कहा कहो तोहि, नाँव न जानो देवा।
सुन्न महल की जुगति बतावे, केहि विधि कीजे सेवा ॥२॥

तीरथ भर में बड़े कहावे, बाद करत हैं सोई ।
अध धुंध चलजात निरंजन मर्म न जानै कोई ॥३ ॥
अविगत गति तुम्हरो अविनासी, घट घट रहत चलाया ।
जहाँ तहाँ तेरो माया खेलै, सतगुरु मोहि लखाया ॥ ४ ॥
वेद पढ़े पढ़ि पंडित भूले, ज्ञानी कथि कथि ज्ञाना ।
कह मलूक तेरी अद्भुत लीला, सो काहू नहि जाना ॥ ५ ॥

(४)

साँचा तू गोपाल साँच तेरा नाम है ।
जहवाँ सुमिरन होय, धन्य सो ठाम है ॥ १ ॥
साँच तेरा भक्त, जो तुझ को जानता ।
तीन लोक को राज, मनै नहि आनता ॥ २ ॥
झूठा नाता छोडि, तुझे लव लाइया ।
सुमिरि तिहारो नाम, परम पद पाइया ॥ ३ ॥
जिन यह लाहा पायो, यह जग आइकै ।
उतरि गयो भव पार, तेरो गुन गाइकै ॥ ४ ॥
तुही मातु तुही पिता, तुही हितु बन्धु है ।
कहत मलूकादास, बिना तुझ धुंध है ॥ ५ ॥



महात्मा पल्टूदासजी

संसार में दो प्रकार के धनी होते है, एक तो बात के धनी और दूसरे धन के धनी। इन दोनों में आकाश, पाताल, झूठ, सत्य, अंधकार, प्रकाश के सदृश अन्तर है। जो धन के कारण धनी कहे जाते हैं, वे सदा दूसरों के आश्रित रहते हैं। उन्हें प्रत्येक कार्य के लिए समाज का मुँह ताकना पड़ता है। जो काम समाज को अच्छा न लगे, फिर चाहे वह उनके हित ही का क्यो न हो, उसे वे नही कर सकते। वे समाज की अवहेलना करके कार्य नही कर सकते, किन्तु समाज के अनुकूल उन्हे काम करना पडता है। किन्तु जो बात के धनी है, उनकी बात निराली ही है। उन्हे ससार और समाज से कोई सरोकार ही नहीं। 'लोग मेरे इस बर्ताव को कैसा समझेंगे' वे इस बात को सोचते ही नही। जिसे वे सत्य समझते है उसे ही करने लगते है। फिर चाहे साक्षात् ब्रह्माजी ही आकर उनका विरोध क्यों न करें, वे उसे नही छोडते। शीश को हथेली पर रख कर कार्य-क्षेत्र मे उतर आते है। ऐसे ही धीर पुरुषो को लक्ष्य करके योगिराज भर्तृहरि ने कहा है—

निन्दतु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ॥

अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीरा. ॥

लोगो के लाख विरोध करने पर, नाना प्रकार की पीडायें पहुँचाने पर भी वे अपनी पैज को नहीं छोड़ते। महात्मा पलटू-दासजी उन्ही वचन के धनियों मे से एक धनी हो चुके है।

पलटूदासजी एक पहुँचे हुए सन्त हो चुके है। वे सदा पाखंड का खंडन और सत्य का मंडन करते रहे। जिस समय पलटूदासजी उत्पन्न हुए उस समय पाखंड का ऐसा अधिक साम्राज्य था कि इनकी बातो की ओर कोई ध्यान ही नही देता था। किन्तु इन्हे इस बात की क्या परवाह? ये इसलिए उपदेश थोड़े ही करते थे कि लोग उनका आदर करें, किन्तु इनका उद्देश तो सत्य का प्रचार करना था। इस बात का दृढ़ विश्वास था कि यदि हमारी बातो मे कुछ सचाई होगी तो आज नही तो कल, कल नही तो परसो, लोग अवश्य ही उन पर ध्यान देगे। यही कारण है कि ये उस समय लोकप्रिय न हो सके। उस समय के नामधारी बराबर इनका विरोध ही करते रहे, अन्त मे उन दुष्टो ने अपनी क्रूरता का यहाँ तक परिचय दिया कि इन महात्मा को उन्होने ज़िन्दा ही जला दिया। इन्ही सब कारणों से महात्मा पलटूदासजी के जीवन का कुछ भी वृत्तान्त नही मिलता। केवल इतना पता चलता है कि इनका जन्म फैज़ाबाद के जिले मे नगपुर जलालपुर

नामक ग्राम में हुआ था। ये जाति के काँदू बनिया थे और इनके गुरु का नाम गोविन्दजी था।

अपने गुरु से सत्ज्ञान का उपदेश ग्रहण करके ये घर बार को छोड कर चल दिये और अयोध्याजी में जाकर रहने लगे। जब ये गृहस्थ में थे, तब मालूम पडता है इनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नही थी। परन्तु इससे क्या हुआ ? धन के धनी न सही, ये बात के तो धनी थे ही। जब ये साधु हो गये और इनकी महिमा धीरे धीरे चारों ओर फैलने लगी, तब लोग इन्हें बहुत अधिक मानने लगे और नाना प्रकार की भेंटें इन पर चढ़ने लगी। इसीको लक्ष्य करके इन्होंने कहा है—

गिरहस्थी मे जब रहे, पेट को रहे हैरान।
पेट को रहे हैरान तसदिया से मिल्यौ अहारा।
साग मिल्यौ बिनु लोन रही तब ऐसी धारा॥
आये हरि की सरन बहुत सुख तब से पाई।
लुचई चारों जून खाँड औ खोवा खाई॥
लड्डू पेड़ा बहुत सेत कोउ खाता नाही।
जलेबी चीनी कन्द भरा है घर के माहीं॥
पलटू हरि की सरन में, हाजिर सब पकवान।
गिरहस्थी में जब रहे पेट को रहे हैरान॥

अयोध्याजी में पलटूदासजी ने अपनी भी एक संगत बनाई और वहाँ रहकर ये भक्तो को उपदेश करने लगे। ये बनावटी साधुओं की खूब पोल खोला करते थे, और उन्हें खूब कड़ी

कड़ी बातें सुनाते थे। मालूम पड़ता है, उन दिनों अयोध्या में महन्तों का बहुत अधिक प्राबल्य रहा होगा। एक तो सभी देश के लोग उन्हे मानते थे, दूसरे उनके पास धन भी काफ़ी था। जहाँ धन होता है, और उसे कोई विवेकपूर्वक ख़र्च करने वाला नहीं होता, वहाँ गुण्डो का जुट जाना स्वाभाविक ही है, अतः जान पड़ता है कि पवित्र साधु-वेष को कलंकित करने-वाले साधुओ का वेश धारण करके बहुत गुण्डे भी वहाँ रहते होंगे। ऐसे लोगो का गुट भी ज़बरदस्त होता है। उनके विरुद्ध आवाज उठाना किसी अत्यंत साहसी का ही काम है। पलटू-दासजी ऐसे नामधारी महन्तों की खरी खरी आलोचना करते थे। एक स्थान पर उन्होंने ऐसे ही बनावटी महन्तों के सम्बन्ध में कहा है—

पलटू कीन्हो दंडवत, वै बोले कछु नाहिँ।
भगत जो बनै महंत से, नरक परै को जाहिँ॥

पलटू माया पाइकै, फूलि के भये महंथ।
मान बड़ाई मे मुए, भूलि गये सत पंथ॥

गोड़ धरावै सत से, माया के महमंत।
पलटू बिना विवेक के, नरकै गये महंत॥

पलटूदासजी की ऐसी ही चोखी चोखी तीव्र आलोचनाओं से अयोध्या के सभी महन्त और वैरागी इनसे द्वेष मानने लगे। उन्हें यह बात बहुत ही बुरी लगी कि एक नीच बनियाँ हम

साधुओं की इस तरह से बुराई करता है। पलटूदासजी न तो सन्यासियों की तरह रँगे कपड़े ही पहनते थे और न वैरागियो की भाँति कठी, जनेऊ, जटा, भस्म तथा माला ही धारण करते थे। वे सदा गृहस्थियों की ही भाँति रहते थे। इसलिए साधुओ को यह बात और भी खटकती था कि एक गृहस्थी हम लोगो की बुराई करता है। परन्तु आस-पास के लोग इन्हे मानते बहुत थे। इसलिए इनके विरुद्ध कुछ करने की हिम्मत उनकी नही पड़ती थी। पलटूदासजी ने अपनी मान-प्रतिष्ठा के सम्बन्ध मे स्वयं कहा है—

कौडी गाँठि न राखई, हमा-नियामत खाय।
हमा नियामत खाय नही कुछ जग की आसा।
छुत्तिस व्यजन रहै सबर से हाजिर खासा॥
जेकरे है सत नाम नामको चेरी माया।
जोरू कहवाँ जाय खसम जब कैद मे आया॥
माया आवै चली रैनि दिन मै दुरियावो।
सतगुरु दास कहाय नहीँ मै माँगन जावोँ॥
राजा औ उमराव हाथ सब बाँधे आवैँ।
द्वारे से फिर जायँ नही फिर मुजरा पावै॥
जंगल मे मंगल करै, पलटू वे परवाय।
कौड़ी गाँठि न राखई, हमा-नियामत खाय॥

इस प्रकार इनकी महिमा बढ़ने लगी। भक्तो की मंडलियाँ पलटूदासजी के पास आने लगी। किसी भक्त के कहने पर

इन्होंने एक दिन सब साधुओं का भंडारा किया। विरोधी वैरागियों के लिए यह पलटूदासजी को अपमानित करने का एक अच्छा अवसर जान पड़ा और सबों ने जुटकर यह निश्चय कर लिया कि इस साधु-द्रोही के यहाँ किसी को भी भोजन करने न जाना चाहिए। जब नियत समय पर कोई साधु भोजन करने नहीं आया तब पलटूदासजी ने सभी सामान लुटा दिया। वैरागी उन्हें अपमानित करना चाहते थे, किन्तु पलटूदासजी को इससे और अधिक प्रतिष्ठा बढ़ गई। उन्होंने स्वयं इस घटना का वर्णन किया है—

सब बैरागी बटुरि कै, पलटुहि किया अजात ॥
पलटुहि किया अजात पर्भुता देखि न जाई।
बनिया कालिहक भक्त प्रकट भा सब दुति पाई॥
हम सब बड़े महन्त, ताहि को कोउ न जानै।
बनिया करै पखंड ताहि को सब कोउ मानै॥
ऐसो ईर्ष्या जानि कोऊ न आवै खाई।
बनिया ढोल बजाय रसोई दिया लुटाई॥
मालपुवा चारिउ वरन बाँधि लेत कछु खात।
सब बैरागी बटुरि कै पलटुहि किया अजात॥

इस प्रकार ये बहुत दिन तक अपने विरोधियों का सामना करते हुए प्रेम-प्रसाद वितरण करते रहे।

पारमार्थिक विचार और उपदेश

पलटूदासजी ने अन्य सन्त-महात्माओं की भाँति गुरुस्तुति नाम की महिमा और प्रेम की उत्कृष्टता का वर्णन किया है। इनकी विनय और प्रेम बहुत ही स्वाभाविक है। जिस प्रकार ये पाखंडियो के प्रबल शत्रु थे, उसी प्रकार सच्चे साधुओं के हृदय से ग़ुलाम भी थे। एक स्थान पर वे कहते है—

तन मन धन जेहि राम पर, कै दीन्ही बकसीस।
पलटू तिनके चरन पर, मैं अरपत हौ सीस॥
राम नाम जेहि उच्चरै, तेहि मुख देहुँ कपूर।
पलटू तिनके नफर की, पनही का मै धूर॥

इनकी विनय भी बडी ही उत्कृष्ट है। ये सदा दीन होकर परमात्मा से कहा करते थेः—

ना मै किया न करि सकौ, साहिब करता मोर।
करत करावत आप है, पलटू पलटू सोर॥

परमात्मा की प्राप्ति का ये नाम सुमिरण को ही सब से उत्कृष्ट और उत्तम उपाय समझते थे। नाम के समान ये जप, तप, तीरथ, व्रत किसी को भी नहीं समझते थे----

जप तप तीरथ बर्त है, जोगी जोग अचार।
पलटू नाम भजे बिना, कोउ न उतरै पार॥

इन्होंने अजपा जाप की भी महिमा गाई है। भगवान् के भजने के लिए ये भी जाति-पाँति के झंझट को व्यर्थ समझते

थे। हिन्दू और मुसलमानों में भी ये भेद-भाव नही रखते थे, जैसाकि इन्होंने कहा है—

मुसलमान रब्बी मेरी हिन्दू भया ख़रीफ़ ॥
हिन्दू भया ख़रीफ़ दोऊ हैं फसिल हमारी।
इनको चाहै लेइ काटि कै बारी बारी ॥
साल भरे मे मिली, यही हमको जागीरी।
चाकर भये हजूरी कौन अब करै तगीरी ॥
दूनो को समुझाइ ज्ञान का दफ़्तर खोलै।
सब कायल होइजाय अमल दै कोऊ न बोलै ॥
दोऊ दीन के बीच मे पलटूदास हरीफ़।
मुसलमान रब्बी मेरी, हिन्दू भया ख़रीफ़ ॥

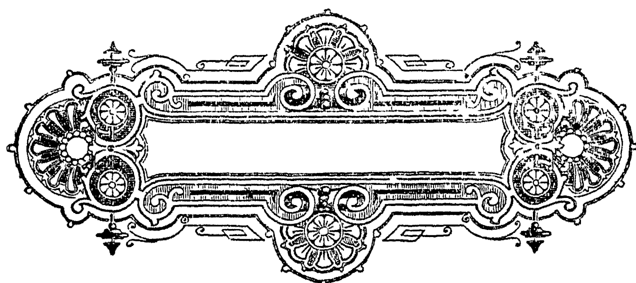
उपसंहार

पलटूदासजी का जन्म अनुमानतः उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वकाल में ही हुआ होगा। जब अवध मे नवाब शुजाउद्दौला शासन करता था और दिल्ली के सिंहासन पर शाह आलम नाम मात्र का बादशाह था, तब ये महात्मा वर्तमान थे। कहते है कि इनके वंश के लोग अभी तक इनके गाँव मे वर्तमान हैं। ये महात्मा पढ़े-लिखे बहुत नहीं थे, फिर भी इनका अनुभव

ऊँचा था। इनके हृदय मे अनुभूति बहुत अधिक थी। इनकी कुंडलियों तथा दोहो की बहुत ही सरल भाषा है। सर्व-साधारण लोग उन्हे सहज ही मे समझ सकते है।

इनकी मृत्यु के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि इनके विरोधी वैरागियो ने इन्हें जिन्दा ही जला दिया।

पलटूदासजी के पदो की बानिगी पाठक पीछे पा ही चुके है, अतः यहाँ विशेष प्रकार से देने की आवश्यकता नही है।



महात्मा प्रीतमदासजी

"यह कौन है ?" यह प्रश्न हृदय का नही, किन्तु मस्तिष्क का है। गुण, अवगुण की पूरी तरह से परीक्षा करके प्रेम करने का उपदेश मस्तिष्क देता है। हृदय तो अपने प्रेम-पात्र को देखकर उस पर उसी समय टूट पड़ता है। सच्चे हृदय की आवाज कभी अयथार्थ नही होती। निष्कलक हृदयवान् पुरुष कभी भी धोखा नहीं खाता। इसीलिए भक्तिमार्गीय वैष्णवों का एक सिद्धान्त है, "हरिको भजे सो हरि का होय, जाति पाँति पूछै ना कोय।" हमे आम खाने है, फिर पेड़ गिनने से मतलब ? जो प्रभु को प्यार करता है, जिसने अपना सम्पूर्ण जीवन प्रभु के पाद्-पद्मों मे समर्पित कर दिया, फिर उसकी जाति-पाँति ही क्या रही ? वह तो प्रभु का दास हो गया। गुजरात के प्रसिद्ध भक्त महात्मा प्रीतमदासजी कहते है—"हरि भजन थकी छोटा होयते सौथी मोटा थाये।" अर्थात् भगवान के भजन का ऐसा माहात्म्य है कि कैसा भी छोटा मनुष्य क्यो न हो, भगवत्-भजन के प्रभाव से वह भी पूज्य, प्रतिष्ठित और श्रेष्ठ हो जाता है। किसी घर मे चाहे, कितने भी दिन का अन्धकार क्यो न हो, जहाँ उसमे तनिक सा भी सूर्य्य का प्रकाश हुआ, वही उसका सम्पूर्ण तम दूर हो जाता है। इसी प्रकार जिनके हृदय में

भगवत्भक्ति का लेश भी हो वह छोटी जाति मे उत्पन्न होने पर भी सबका श्रद्धा-भाजन बन जाता है। महात्मा पानपदासजी एक साधारण राज होने पर भी भगवत्-भक्ति के प्रभाव से सभी लोगों के वन्दनीय और पूज्य हो गये है।

वंश-परिचय और जन्म

महात्मा पानपदासजी की असली जन्मभूमि सभवतया दिल्ली या उसके कही आस-पास ही रही होगी, किन्तु ये धामपुर मे रहते थे। ये जाति राज (मकान चुननेवाले) तृषान थे। इनके सम्प्रदायवालो का कथन है कि ये राज के पौष्य पुत्र थे। इनके जन्म की कथा इस प्रकार बताई जाती है —

"पानपदासजी का जन्म बादशाह अकबर के मन्त्री वीरबलजी के कुल में हुआ था। एक बार इनके देश मे बड़ा भारी दुर्भिक्ष पड़ा। इनके माता पिता इन्हे लेकर जंगलो में क्षुधा-निवृत्ति के निमित्त घूमने लगे। एक दिन इनके माता और पिता दोनों ही इन्हे रास्ते के किनारे एक वृक्ष के नीचे सुलाकर जंगल में चले गये। इतने ही में बहुत से राज उधर से निकले। उनमें एक बूढ़ा राज सन्तानहीन था, उसने इन्हें उठा लिया और अपने घर ले गया। वहाँ ले जाकर उसने इनका पुत्र की भाँति पालन-पोषण किया।"

यह कथा कबीरसाहब की कथा से बिलकुल मिलती है। संभव है कि यह घटना सच्ची हो, या इनके शिष्यो ने इनके राजपन

को छिपाने के निमित्त ही इस कथा की रचना की हो। कारण कि आज से सौ वर्ष पूर्व अब से कही अधिक जाति पॉति का ध्यान रक्खा जाता था। ब्राह्मणों से इतर जाति के लोगों को उपदेश करने का अधिकार बहुत हो कम समझा जाता था। यद्यपि कबीरदास, रैदास आदि सत महात्माओ के प्रादुर्भाव से इस भाव मे शिथिलता अवश्य हुई, किन्तु बहुत अंशों में वह अड़चन बनी ही रही, अब भी है और आगे भी रहेगी। इस प्रकार की अड़चन मे कुछ बुराई भी नही है। जो ख़ाली अपने पूर्वजो ही के नाम पर पैर पुजाना चाहते है, उनके अब भी कोई पैर नही पूजता और जो सच्चे भक्त हैं, फिर चाहे वे किसी भी जाति मे क्यों न उत्पन्न हो, सभी लोग उनकी प्रतिष्ठा करते है।

बाल्यकाल

पानपदासजी के बाल्यकाल का विशेष वृत्तान्त नही मिलता। किन्तु इनकी वाणी और पदो से यह अवश्य ज्ञात होता है कि इन्होंने बालकपन में फ़ारसी की अच्छी शिक्षा पाई थी। इन्होंने फारसी में बहुत कविता की है। उदाहरण के लिए यहाँ एक कविता उद्धृत की जाती है—

माइस्क ग़र्क तन मै माशूक के मिलनकू।
नहीं आमद नहीं रफ़्तम, नहीं राह है चलनकूं॥
हिन्दू च मुसलमान, मनपुरसीदियमकसे।
आलम तो ना सनास फ़रामोशियम ख़ुदा॥

माशूक मन दो चशमे, अरवाह बवीनम ।
पानप कू मुरसद गुफत, अलाह बोनसीदम् ॥

जैसे आज-कल अँगरेजी शासन में अँगरेज़ी का बोल-बाला है, उसीप्रकार मुसलमानी शासन में फ़ारसी का प्रावल्य था। बच्चे को सबसे पहले मकतब में फ़ारसी पढाने को ही भेजा जाता था। "बिसमिल्लाह रहमाने रहीम" होने के अनन्तर तब कुछ और पढ़ाया जाता था। यही कारण था कि पानपदासजी को फ़ारसी पढ़ाई गई।

योगक्षेम के निमित्त वृत्ति

पानपदासजी राज के घर पैदा हुए थे, अथवा पाले-पोसे गये थे। यही कारण है कि वे भी मकान बनाने का ही कार्य्य करते थे। मकान बनाने का कार्य्य वे बहुत दिन तक करते रहे, अन्त में जब बहुत प्रसिद्धि होगई और बहुत से शिष्य सेवक होगये तब यह कार्य्य छोड़ दिया।

पारिवारिक जीवन

ऐसा मालूम पड़ता है कि पानपदासजी आजन्म अविवाहित रहे। कारण कि इनके विवाह आदि की बात इनकी वाणी में नहीं मिलती।

वैराग्य और तप

ऐसा प्रतीत होता है कि इनके माता पिता इन्हें छोटा ही छोड़ कर परलोकवासी हुए। यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा तो पहले ही से इनके हृदय में थी, इसीलिए ये घर से निकल पड़े और सत्गुरु की खोज में इधर उधर घूमने लगे।

उन दिनों दिल्ली में मगनीराम नामके एक सिद्ध महात्मा थे। वे एक भड़भूजे की दुकान पर रहते थे। उनकी दशा विचित्र थी, भिक्षा मिल गई तो खाली, नहीं मिली तो इधर उधर पड़े हैं। पानपदासजी इनके पास गये और उन्होंने इन्हें अधिकारी समझ कर उपदेश दिया और आज्ञा दी कि जाओ भ्रमण करो, किसीको अपनी सिद्धाई मत दिखाना, जो कार्य करते हो उसे ही करते हुए गुप्त रीति से देश का कल्याण करो। यह सुनकर ये चल दिये और भ्रमण करने लगे। एक दिन घूमते-घामते ये धामपुर के पास सुथान नामक ग्राम में आये और वहाँ चिनाई का काम करने लगे। किसी एक महात्मा ने इन्हें देखा। वे इनकी वृत्ति देखकर बहुत प्रसन्न हुए और इन्हें चिनाई का काम करते देख कुछ विस्मित हुए। यह देखकर इन्होंने यह पद कहा—

विरचो साध राज एक कसवी, तृवेणी 'पंसेर' करै।
गगन धरनको 'नक' सुध साधै, जहाँ ले 'साहल' सुर्त धरै॥
त्रिकोनी 'गुनया' दौड़ावै, महल साध के ठीक करै॥
नाम धुनीकी 'विसोली' लगावै, ग्यान ध्यान की "ईट" धरै॥
पानपदास भेद सत्गुरु के, सो महला कबहूँ न डिगै॥

साधु महाराज बसूली, ईट पंसेर आदि राजों की चीज़ों के बहाने योग की बातें सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे—आप प्रकट होकर कुछ उपदेश करें। तब इन्होंने कहा—"मेरे गुरुदेव की यही आज्ञा है"। इन्होंने एक पद भी पढ़ा—

गगन मँडल की बाट चलावै, ईटै नाही गढ़ता है।
दुनियाँ को बैठा समझावै, यमसू नाहीं डरता है॥
भवसागर को बसवो छाड़ा, दसवें द्वारे अड़ता है।
षट् दर्शन को सेवक हूवा, मन मनसा सूँ लड़ता है॥
स्वाद तजो या ममता जल को, उर्ध कुप को चढ़ता है।
अगम महल में आसन मांडे, निगम नहीं चित धरता है॥
गुरू के ज्ञान रैन और बासर, चचल मनै पकड़ता है।
भवसागर को नाम को जोरै, बिन नौका ही पार उतरता है॥
पाचों और पच्चीस ये परबल, युक्ति अजर यों जरता है।
जरा मरन की आसा छूटी, पानप जीवत मरता है॥

इसी प्रकार ये ऊपर से तो बाहरी महल चिनते रहे। और भीतर से गगत मण्डल में महल बनाते रहे।

केशवदासजी ने कहा है—

"कहैं 'केशो' भीतर जोग जगै इत बाहिर भोगमयी तन है।
मन हाथ भयो जिनके तिनके घर ही वन है वन ही घर है।"

कुछ किंबदन्तियाँ

अन्य सन्तों की भाँति पानपदासजी के सम्बन्ध में भी कुछ कथाएँ प्रसिद्ध हैं। उनमें से थोड़ी सी हम यहाँ नीचे देते हैं—

(१)

एक दिन धामपुर में ये एक सेठ का मकान चिन रहे थे। ये चिनने के काम में भी बड़े कुशल थे। ये अपने काम में कभी

भो प्रमाद न करते। मालिक चाहे रहे या न रहे, ये अपने काम में जुटे ही रहते थे। इनके अन्य साथियों को इनकी यह बात अच्छी नही लगती थी। वे अपने काम को लापरवाही के साथ करना चाहते थे, किन्तु इनकी तत्परता को देखकर उन्हें काम में ढिलाई करने का साहस ही नहीं होता था। इसी कारण वे लोग भीतर ही भीतर इनसे द्वेष मानते थे।

एक दिन किसी से चिनने में दीवार टेढ़ी होगई। सब लोगों ने सेठ से जाकर शिकायत की कि पानपदास ने मकान टेढ़ा कर दिया है। दूसरे दिन सेठ बहुत नाराज़ होकर मकान देखने आया और पानपदासजी से पूछने लगा–"दीवार टेढी क्यों कर दी है ?" उन्होंने जवाब दिया—"कहाँ से टेढ़ी हुई है, सूत से नपवाओ न ?" अन्य राज यह सुन कर सूत से नापने लगे। जहाँ पर दीवार टेढ़ी थी वहाँ पानपदास-जी ने हाथ लगा दिया। दीवार सीधी हो गई। यह देखकर सभी लोग उनके पैरों पर गिर पड़े। अन्य राज भो ईर्ष्या-द्वेष त्याग कर पानपदासजी के शिष्य बन गये। सेठ ने वह मकान पानपदासजी की भेंट कर दिया, जो अब भी महल के नाम से प्रसिद्ध है।

(२)

एक दिन इनके एक शिष्य का बैल मर गया। इस बात से वह बहुत उदास था। यह बात पानपदासजी ने जानली।

उन्होंने अपने ताँगे का एक बैल उसे दे दिया। अन्य लोगों ने जब उस बैल को देखा तब कहने लगे, यह बैल तो अशुभ है। इसके लक्षणों से ऐसा प्रतीत होता है कि यह मालिक के लिए अच्छा नही होगा। यह सुनकर दूसरे दिन वह बैल को पानपदासजी के पास लौटाने आया। उन्होंने कहा—"जा यही तेरे लिए अच्छा हो जायगा।" उसी दिन से उनका सब दारिद्रय चला गया और वे धनवान् हो गये।

(३)

जब पानपदासजी की लोग बहुत प्रशंसा करने लगे और बहुत स पुरुष अनेक कामनाएँ लेकर उनके पास आने लगे तब उन्होने एक उपाय सोचा। वहाँ एक भाटनी रहती थी। उसके दो बच्चे थे। उससे पानपदासजी ने कहा—"माता, तू मेरे यहाँ चल कर रह।" उसने इस बात को सहर्ष स्वीकार कर लिया। पानपदासजी ने एक कंधे पर तो उसका छोटा लड़का बिठा लिया और दूसरे कधे पर उसका चर्खा रखकर बाजार में होकर निकले। सब लोग उस स्त्री को पानपदासजी के पीछे देखकर आश्चर्य्य करने लगे। सम्पूर्ण शहर मे यह ख़बर फैल गई कि पानपदासजी ने स्त्री करली है। उनके पास अब लोग बहुत कम आने लगे। पानपदासजी यही चाहते भी थे। सच्ची बात बहुत दिन तक छिपी नही रहती। जब लोगों को यह बात मालूम हुई कि वे तो उसे माता के तुल्य मानते है, तब शहर में फिर उनकी पूर्ववत् ही प्रतिष्ठा होगई।

(४)

इनके एक भक्त हल्दौर में रहते थे। एक दिन उस नगर में थोडी सी भूमि बिक रही थी। इनके भक्त ने आकर पूछा— "महाराज, हम इस ज़मीन को लेलें?" पानपदासजी ने कहा— "कभी तुम सम्पूर्ण हल्दौर को ही लेलोगे।" उनका यह वाक्य सफल हुआ और हल्दौर ही नहीं, हल्दौर के आस-पास के गाँव भी उनके वंशजों ने लेलिये।

(५)

एक बार एक आदमी इनकी प्रशंसा सुनकर इनके दर्शनों के निमित्त आया। पानपदासजी ने उससे कहा—"प्रधान बैठ जाओ।" उसने कहा—"महाराज, मैं तो साधारण किसान हूँ, प्रधान नहीं हूँ।" पानपदासजी ने जवाब दिया---"नही तू प्रधान होगा।" उनका यह वाक्य सफल हुआ और थोड़े ही दिनों में वह कई गाँवो का प्रधान होगया।

(६)

धामपुर के पास एक भाटिनी रहती थी। उसकी पानपदासजी के ऊपर बड़ी श्रद्धा थी। एक दिन उसने बड़े प्रेम से पानपदासजी को खीर के भोजन का निमन्त्रण दिया। पानपदासजी भोजन करने ही वाले थे कि इतने मे ही कुछ सन्त और आगये। भोजन का सामान थोडा था। इसलिए भाटिनी चिन्तित हुई। पानपदास उसके मन की बात समझ गये।

उन्होंने अपना अँगोछा भाटिनी को दिया और कहा---"इसे खीर के ऊपर डालकर सब को परसदे, अन्तर्यामी भगवान सब भला करेंगे।" अँगोछा देकर उन्होंने यह पद पढ़ा---

अपना आप करै परकास, अपना आप कहावे दास।
अपनी महिमा आप ही करै, जन के सीस बडाई धरै॥

भोजन सब के लिए पूर्ण होगया। भाटिनी यह देखकर बहुत प्रसन्न हुई।

पारमार्थिक विचार और उपदेश

पानपदासजी ने सब उपदेश परमार्थ सम्बन्धी ही दिये है। उन्होने संसारी व्यवहार सम्बन्धी बातो का कहीं भी उपदेश नही किया। उनकी ब्रह्म की, ज्ञान की, गीता की, पढ़ने की, धंदे की, तीर्थ आदि सभी विषयो की अलग अलग शब्दी लिखी है। इनका सिद्धान्त कबीर साहब से मिलता-जुलता है। कबीर साहब की भाँति इन्होंने भी कागज़ी विद्या की निन्दा की है। जैसे---

बिना विचार विवेक बिन, पढ़े गुने क्या होय।
आत्म-तत्व चीह्ना नहीं, (पानप) नरक पड़त है सोय॥
पढ़ना गुनना चातुरी, यह सब जग की चाल।
हरि बिन अन्त पानप कहै, जीव का कौन हवाल॥

प्रेम और भक्ति का भी इन्होंने विस्तार के साथ वर्णन किया है। वर्णन-शैली और ढँग कबीर साहब ही का सा है। देखिये---

प्रेमी जन बिरला या जग में, नेमी सब संसारा ।
प्रेमी लग रहो प्रेम गली में, नेमो यम ने जगत सिधारा ॥

हम काहू के मीत ना, हमरा मीत न कोय ।
कहै पानप सोइ मीत हमारा, राम सनेही होय ॥

सीस उतारै हाथ लै, बिन पग दौड़ा जाय ।
कह पानप धोका मिटै, निश्चय मुक्ता खाय ॥
कठिन पंथ है प्रेम का, (पानप) कोई बिरला ही सिर देय ।

कहन सुनन की बातडी, सब कोई कर लेय ।
प्रेम चोट जाके लगी, ताको कछु न सुहाय ।
कहै पानप अंतर करक, उठै कराह कराह ॥

भक्ति के सम्बन्ध मे भी इनके बड़े ऊंचे विचार हैं। ये विवेकयुक्त भक्ति को ही भक्ति कहते है। इनकी भक्ति का आदर्श गोपिका नही है। ये सुरति निरति का दसवें द्वार मे पहुँचाने को ही भक्ति मानते हैं। देखिये –

भक्ति सोई अन्तर भजै, मुख सो कहै न राम ।
कहै पानप सुमिरै सुरत सो, ताके समरें काम ॥

भक्ति भक्ति सब जग कहै, करता दीखै नाहि ।
करता दीखै भक्ति सो, (पानप) निश्चय मुक्ता जाय ॥

सुरत सधी न मन सधा, यो ही भक्ति की हान ।
साध सुरत मन अंतर राचै, सोई भक्ति प्रमान ॥

इन्होंने नवधा भक्ति का विशद रूप से वर्णन किया है। योग की ऊँची ऊँची बातें बताई है। गुरु की, चेले की, सत्संग की, कामिनी, कांचन की बहुत सी शब्दी कही है।

उपसंहार

इनका जन्म उस समय बताया जाता है जब भारतवर्ष में मुहम्मदशाह राज्य करता था। मुहम्मदशाह सन् १७१६ ई० मे सिंहासनारूढ हुआ और सन् १७४६ ई० तक शासन करता रहा। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इनका जन्म संवत् १७८० के लगभग हुआ होगा। इनके नाम से एक पानपदासी सम्प्रदाय चलता है। पानपदासी विशेषतया साधु ही होते है। इनका मुख्य स्थान धामपुर, ज़ि० बिजनौर में है। कनखल मे भी पानपदासियो का एक स्थान है। बिजनौर में हमने पानपदासियों का स्थान देखा है। उस मकान को भी देखा है, जो पानपदासजी के हाथ का बनाया हुआ बताया जाता है। पानपदासी साधु बहुत ही थोडे है। वे धामपुर, बिजनौर की ही ओर मिलते है। पानपदासजी की बानी का प्रथम खंड का प्रथम भाग कनखल के पानपदासी आश्रम के महन्त स्वरूपदासजी ने छपवाया है। इसके अतिरिक्त "भक्तबोध" नाम का भी एक छोटा सा ग्रन्थ उनका बनाया हुआ मिलता है।

कविता की दृष्टि से इनकी शब्दी विशेष महत्त्व की नहीं हैं। स्थान स्थान पर यतिभङ्ग, अक्षरों की कमीवेशी देखने में

आती है। बहुत ही कम पद्य शुद्ध होंगे, नही तो प्रत्येक पद में बहुत से दोष होगे। किन्तु ज्ञान की दृष्टि से इनका महत्त्व बहुत अधिक है। उदाहरणार्थ हम नीचे पानपदासजी की कुछ कविताएँ उद्धृत करते है—

(१)

हार पड़े हरि द्वारै। अब हम हर पड़े हरि द्वारै।
जाको लाज लिहाज ताही को सोई पार उतारै॥ टेक॥
जैसे अन्ध लकडिया गहकै, ताही की सुध विसारै।
जाको सूध न ठोकर लागै, ऐसे है हरि नाम हमारै॥
अगम अगोचर ठाँव बताई (गुरु) जहँ चढ़ि नाम उचारै।
अब थल थोर अचल भयो मनुआ, अकल टरत नहि टारै॥
कूड कपटि तिर गये नाम लगि, बहु सांचा दरबारै।
जान लगाय जाय जन कोई, प्रभू मेरा किसी ने विडारै॥
जाकू ढूँढ़त बहु जुग बीते, सो प्रभु नाहीं न्यारै।
कह पानप सुनियो भाई साधो, मै सतगुरु के बल हारै॥

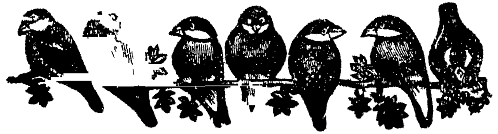
(२)

समय तो बीतो जाय। अरे तुझै सोवना सुहायोरे।
स्वाँस होती जमा, बिन यत्न गॅवायोरे॥
निज होता नाम, तासूँ चित्त न लगायोरे॥

बदा था अवादामन, सोई दिन आयोरे ॥
कह पानप सुनियो भाईसाधो, सतगुरु मिलि मोइ चेत चितायोरे ॥

(३)

नगर कोई जागै, घर घर लागौ है चोर।
वह तो चोर पियारो घर को, घरकी वस्तु लिये भागै ॥
पाँचो चोर एक मत नाही, जन गस्ती कूकै आगै ॥
सुर्त निर्त थाना बैठावै, चोर चाल अपनी त्यागै ॥
पानपदास चेतन कियो सतगुरु, अष्टोयामशब्द लागै ॥



श्रीराधास्वामी महाराज

"चराचर विश्व में वही एक राम रम रहा है।" यदि सत् शास्त्रो का यह सिद्धान्त सोलहो आना सत्य है, तो फिर हम संसार की किस घटना को असत्य तथा कल्पित कहें? जब ब्रह्म सत्य है तब उसका उत्पन्न किया जगत् भी सत्य ही होना चाहिए। सृष्टि, स्थिति और प्रलय सभी सत्य है। कारण कि उसे शास्त्रों ने "तज्जलानिति" कहा है। सृष्टि, स्थिति और प्रलय सभी उसकी मौज के रूपान्तर हैं। जब उसकी मौज हुई तब सृष्टि उत्पन्न करली और आप उसीके साथ क्रीडा करने लगा। जब इच्छा हुई तब उस खेल को हाथ से मिटा दिया और "मनुआं मरिगयो, खेल बिखर गयो" कह कर उस खेल को समाप्त कर दिया। इस तरह से जाने कब से वह खेल करता चला आ रहा है और कबतक इसे क़ायम रक्खेगा, इसका कुछ भी पता नही है। बात बहुत ही अधिक गूढ है। अतः किसी को भी अब तक इसका पता नहीं चला है और न आगे ही कोई इस बात का पता लगा सकता है। बडी बहार है। अजीब आनन्द है। उसने सभी खेलो के नियम निर्धारित कर दिये है। नाटक-मंडली का प्रबन्धक नाटक होने के पूर्व

ही सभी पात्रों का कार्य्य निर्धारित कर देता है। उसके मस्तिष्क में होनेवाले सम्पूर्ण नाटक का प्रोग्राम नाचता रहता है। नाटक होने के पूर्व ही उसे इन सभी बातों का पता रहता है कि कब नान्दी आवेगा, कब विदूषक आकर अपने मनोरजन से दर्शकों के चित्तो को प्रसन्न करेगा। कब नटी आकर अपने गाने से उपस्थित लोगो को मुग्ध करेगी। ये सभी बातें उसके मस्तिष्क मे प्रत्यक्ष नाचती रहती है। किन्तु जो उस पर्दे के भीतर की बातों को नही जान सकते, वे भौदू बने बाहर ही बैठे रहते है और ज्यों ही कोई पात्र रंगमंच पर आता है त्योंही उसे देखते ही "नया है नया है" कह कर शोर मचाने लगते है। उसके चले जाने पर वे फिर सोचते हैं कि जाने अब क्या होगा, अब के कौन सा पात्र आवेगा इत्यादि।

भगवान् इस विश्व को नाट्यशाला बनाकर उसके द्वारा क्रीड़ा कर रहे है। जब वे स्वय "सत्यं ज्ञानं अनन्तं" है तब फिर हम उनकी इस क्रीडा को असत्य, अज्ञानजन्य और अनित्य क्यों कहें? यह भी सत्य है। जिस समय उसे जैसा खेल खेलना होता है, वैसा ही पात्र वह उस समय इस नाट्यशाला में भेज देता है। उसके द्वारा वह क्या खेल करावेगा, उस खेल से सर्वसाधारण को क्या लाभ होगा, इसे वही जाने। भगवान् की इस नाट्यशाला में अनेक प्रकार के विचित्र विचित्र पात्र आते है। कोई तो ख़ाली अपना गाना सुनाकर ही चला जाता है, कोई आकर अपनी छाप भी छोड़ जाता है।

किसी के द्वारा असंख्यो जीवों का कल्याण होता है और कोई कोई कुछ थोड़े से ही आदमियो को सुख और शान्ति का मार्ग बताते है। यह बात अधिकारी की योग्यता के ऊपर निर्भर है कि वह उसके बताये हुए उपायों का कहाँ तक सदुपयोग करता है, यदि वह उन उपायों का दुरुपयोग करे, तो इसमें उस विचारे बतानेवाले का क्या दोष? पन्थाई सन्त उसे ही कहते हैं, जो कुछ थोड़े से लोगो को अपने उपदेशो से शान्ति प्रदान कर सके। हमारे देश मे ऐसे बहुत से पन्थाई संत हो चुके है। श्री राधास्वामीजी महाराज भी उन्ही सन्तो मे से एक प्रसिद्ध संत हो चुके है।

जन्म और बाल्यकाल

श्रीराधास्वामीजी का जन्म आगरे के एक खत्री परिवार मे भादो बदी ८ संवत् १८७५ वि० (१८१८ ई०) मे हुआ था। इनके माता पिता बड़े ही सात्त्विक, धर्मभीरु, साधु-सेवी, सत्सगी और सद्गृहस्थ थे। इनके पिता खत्री जाति मे बहुत ही प्रसिद्ध तथा प्रतिष्ठित पुरुष समझे जाते थे। उनके एक एक करके तीन पुत्र उत्पन्न हुए। सबसे बड़े राधास्वामो, उनसे छोटे वृन्दावनदासजी और सबसे छोटे प्रतापसिहजो थे। राधा-स्वामी अपने सभी भाइयों से बड़े थे।

जब ये छोटे ही थे और कुछ थोड़ा बहुत हो बोल सकते थे, तभी से ऊँची ऊँची बातें कहने लगे थे। इनकी इन अद्भुत

बातों को सुनकर सभी लोग भौचक्के से हो जाते थे, वे इन बातों का कुछ भी मतलब नहीं समझते थे। उन दिनो हाथरस मे तुलसीसाहिब नाम के एक प्रसिद्ध सन्त विराजमान थे। ये जाति के दक्षिणी ब्राह्मण थे। कहते है कि ये पूना के राजा के सबसे बडे पुत्र थे। राज-गद्दी पर बैठाये जाने के भय से ये अपना देश छोड़कर चले आये और देशाटन करते हुए हाथरस में आ निकले। वही हाथरस के पास जोगिया गाँव नामक स्थान में रहने लगे और परमार्थी जीवों को सदुपदेश देने लगे। ये महात्मा कभी कभी आगरे जाया करते थे और राधास्वामीजी के घर पर ही ठहरा करते थे। राधास्वामीजी के पिता साधु-महात्माओं की बहुत अधिक सेवा किया करते थे, इसीलिए तुलसी साहब उन्हें बहुत अधिक चाहते थे। तुलसी साहबजी ने जब बालक राधास्वामी को देखा, तब वे समझ गये कि यह कोई महापुरुष हैं और कालान्तर मे ये अवश्य ही पहुँचे हुए सन्त होंगे। इस बात को वे बहुधा राधास्वामीजी के माता पिता से भी कहा करते थे।

धीरे धीरे राधास्वामी ६-७ वर्ष के हुए। इनके पिता ने इन्हें मक़तब में फ़ारसी पढ़ाने बैठाया। फ़ारसी में योग्यता प्राप्त करने पर इन्हें हिन्दी पढ़ाई गई। किन्तु इनका पढ़ने लिखने में विशेष चित्त नही लगता था, इसलिए इनका पढ़ना लिखना बहुत ही शीघ्र छूट गया।

बाल्यकाल से ही ये संसार के सभी भोगो को अनित्य और मिथ्या समझते थे। इनकी वृत्ति बहुधा अन्तर्मुख ही रहती थी। इनके घर के भीतर एक तहख़ाना था, ये उसी तहख़ाने मे बैठ कर सुरति शब्द-योग का अभ्यास करने लगे। ये दिन का अधिकांश भाग उस तहख़ाने में ही बैठकर बिताते थे। कभी कभी तो दो दो तीन तीन दिन तक उसी में बैठे रहते। इस बीच में न तो कुछ खाने ही को खाते और न शौचादि के लिए ही उठते। बस निरन्तर उसी स्थान में एकासन से बैठे हुए ध्यान में मग्न रहते। ये बाहर बहुत कम निकलते, कभी भी किसी से व्यर्थ की बातें न करते। मानों संसार मे रहते हुए भी वे उससे बिलकुल ही पृथक् थे। इस प्रकार १५ वर्ष तक निरन्तर अभ्यास करते रहे। १५ वर्ष के अनन्तर इन्हें सिद्धि प्राप्त हुई और इन्हें सत्य पदार्थ का यथार्थ बोध हुआ। इन्होंने अपने माता पिता को भी सुरति शब्द-योग की शिक्षा दी और अपने छोटे भाई वृन्दावनदासजी से ५ ही वर्ष की अवस्था में साधन कराया।

वैराग्य और तप

इनके पिता धनवान् थे। राजा और प्रजा दोनों ही की दृष्टि में वे आदरणीय समझे जाते थे। इनके छोटे भाई वृन्दावनदासजी को सरकार की ओर से रायसाहब की उपाधि भी प्राप्त थी। इनके पास निर्वाह के निमित्त

पारिवारिक जीवन और वृत्ति

पैतृक सम्पत्ति यथेष्ठ थी, इसीलिए इन्हे निर्बाह के निमित्त किसी विशेष वृत्ति का अवलम्बन नही करना पड़ा। इन्होंने विवाह नही किया था। अन्त समय तक ये अविवाहित ही रहे और अपने पैतृक स्थान में ही रह कर परमार्थी जीवो को सदुपदेश करते रहे।

सत्सङ्ग और अनुयायी गण

सिद्धि प्राप्त कर लेने के अनन्तर ये अपने घर पर ही रह कर परमार्थी जीवों को सुरति शब्द-योग की शिक्षा देते रहे। उस समय बहुत से लोग सुरति शब्द योग की शिक्षा प्राप्त करने के निमित्त इनके पास आने लगे। उन्ही बहुत से आदमियों में राय सालिगरामजी भी इनके पास आये। ये एक प्रतिभाशाली प्रत्युत्पन्नमति के पुरुष थे। ये उन दिनों पोस्टमास्टर जनरल थे। इतने बड़े उच्च पद पर बिराजमान होते हुए भी ये साधु-भक्त, धार्मिक और निरभिमान सज्जन पुरुष थे। इनके आने से राधा स्वामीजी का महत्त्व लोगों की दृष्टि में बहुत अधिक बढ़ गया। अब लोग समझने लगे कि हाँ ये भी कोई असाधारण पुरुष हैं। राय सालिगरामजी ने इनसे प्रार्थना की कि महाराज, ससारी जीवों के कल्याण के निमित्त सत्सङ्ग खड़ा करना चाहिए। स्वामीजी महाराज ने रायसाहब की प्रार्थना स्वीकार की और सं० १९१८ वि० में वसंत पञ्चमी के दिन आगरे से तीन मील की दूरी पर "राधा-स्वामी बाग़" में सत्सङ्ग स्थापित किया गया। उस समय बहुत

से लोग इनके पास आ आकर सत्सङ्ग से लाभ उठाने लगे और ये भी उन लोगों से सुरति-शब्दयोग का अभ्यास कराने लगे।

राधास्वामीजी ने सामाजिक आचार-विचारो के सम्बन्ध मे कोई विशेष उपदेश नही दिया। उनके

व्यावहारिक विचार

सत्सङ्ग में प्रत्येक पुरुष सम्मिलित हो सकता है। वह अपने समाज में सामाजिक व्यवहारो को पहली भाँति करता हुआ भी सत्सङ्गी हो सकता है। उनका असली अभिप्राय तो परमार्थ की खोज करना था। प्रत्येक जाति के स्त्री पुरुष इनके सत्सङ्ग से लाभ उठा सकते हैं। सत्सङ्ग मे जाति-पाँति का भेदभाव नही रक्खा जाता। वहाँ सभी एक श्रेणी मे बैठ कर भजन, ध्यान तथा उपासना कर सकते है। अपने घर पर आकर लौकिक व्यवहार वर्त सकते है। हिन्दू-मुसलमान, ईसाई तथा जैनी सभी अपनी अपनी समाज मे रहते हुए सुरति-शब्द-योग का अभ्यास कर सकते है। संक्षेप में उनका उपदेश पारमार्थिक था। सामाजिक रीति-रिवाज़ तथा आचार विचारो से वे तटस्थ ही रहे।

राधास्वामी सम्प्रदाय एक प्रकार से सब सन्तो के मत का परिवर्द्धित और परिवर्तित रूप है। राधा-

पारमार्थिक विचार और उपदेश

स्वामी सम्प्रदाय वाले कबीर, नानक, पल्टू, जगजीवन, ग़रीबदास, रामदास आदि सन्त महात्माओ को मानते है। राधास्वामी

सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार ब्रह्म का अवतार होता है। उनका मत है कि जब लोगों में आत्मिक शक्ति का ह्रास हो जाता है तब लोगों को आत्मशक्ति प्रदान करने, उन्हें चौरासी चक्र से बचाकर मोक्ष का मार्ग सुझाने और मुमुक्षुओं की कठिनाइयों को दूर करने के लिए ब्रह्म का अवतार होता है। अवतार के पूर्व कुछ संत-महात्मा उत्पन्न होकर अवतार के लिए भूमि तैयार करते हैं। भूमि तैयार होने पर ब्रह्म अवतार धारण करता है। ब्रह्म और राधास्वामी मे कोई अन्तर नही। राधास्वामी ब्रह्म ही का नाम है। जैसाकि कबीर साहब ने कहा है—

कबीर धारा अगम की, सतगुरु दई लखाय।
उलट ताहि सुमिरन करो, स्वामी सङ्ग मिलाय॥

इसका मतलब वे यह करते है कि धारा को उलटने से 'राधा' होता है उसमें स्वामी और मिलाने से 'राधास्वामी' बन जाता है। अतः प्रत्येक अणु-परमाणु में यह शब्द होता रहता है। जिनके ज्ञान-कर्ण खुल गये है, वे ही इस शब्द को सुन सकते है, दूसरे नही। सृष्टि के यावत् पदार्थ तोन भागों में विभक्त हैं। उन्हें दयालु देश, ब्रह्माण्ड और पिंड कहते हैं। दयालु देश में ६ लोक है। उनके नाम राधास्वामी धाम, अगम लोक, अलखलोक, अनामिलोक, सत्यलोक और भ्रमरगुफा है। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड में भी ६ लोक है। इनके नाम मेरु, सुमेरु, कैलास, विष्णुलोक, ब्रह्मलोक, और शिवलोक हैं। मनुष्य का मस्तिष्क दो भागों में विभक्त है। अर्ध भाग में ६ छिद्र से हैं

जिनका सम्बन्ध दयालु देश के ६ लोकों से है। शेष अर्ध भाग मे जो ६ छिद्र हैं, उनका सम्बन्ध ब्रह्माण्ड के ६ लोकों से है। इसी प्रकार पिंड मे भी ६ लोक हैं, उनका भी सम्बन्ध मनुष्य के ६ चक्रों से है। यथा चन्द्रलोक का भ्रमरचक्र अथवा आज्ञा चक्र से, सूर्य्य-लोक का कण्ठ-चक्र अथवा विशुद्ध चक्र से, पृथ्वीलोक का हृदय चक्र, अथवा अनहदचक्र से, वृहस्पतिलोक का नाभिचक्र, अथवा मणिपूरक चक्र से, शनिलोक का लिङ्ग चक्र, अथवा स्वाधिष्ठान चक्र से, वरुण लोक का गुदा चक्र अथवा आधार चक्र से।

इस प्रकार जो सम्पूर्ण सृष्टि में लोक हैं, उन सभी का सम्बन्ध मनुष्य के शरीर से है। मनुष्य के शरीर को सृष्टि का छोटा सा नक्शा समझिये। इस शरीर का सूक्ष्म ज्ञान होने पर सम्पूर्ण सृष्टि का ज्ञान हो सकता है।

पिंड के लोकों को अर्थात् छओं चक्रो को जो पार कर गया है वह साधारण योगी है। उसे संसार के भौतिक पदार्थों का सूक्ष्म ज्ञान ही हो सकता है। उसने अभी मृत्यु को नही जीता। जो ब्रह्माण्ड के पिछले तीन खंडों को पार कर गया है, वह पूर्ण योगी है। मृत्यु उसका कुछ भी नही कर सकती। और जो ब्रह्माण्ड के पहले तीन भागो तक भी पहुँच जाते है वे साधु या महात्मा कहलाते हैं। जो दयालु देश के अनामि लोक तक पहुँच गया है वह सन्त है और जिसकी पहुँच अलख लोक तक है, वह परम संत है।

राधास्वामी धाम सब से ऊपर है। पिंड के लोको को पार करना तो सहज है, किन्तु ब्रह्माण्ड और दयालु देश के लोकों तक पहुँचना बहुत ही कठिन है। बिना सत्गुरु की कृपा के कोई वहाँ तक पहुँच ही नहीं सकता।

राधास्वामी सम्प्रदाय का मूल मन्त्र, सतनाम, सत्गुरु और सत्संग है। इन तीनों के द्वारा अन्तिम लोकों को प्राप्त करना ही इनका उद्देश है। अलख लोक से ऊपर तक पहुँचने के तीन ही साधन है।

(१) राधास्वामी नाम का भजन (२) राधास्वामी के रूप का ध्यान और (३) आत्मधारा शब्द का सुनना। इनके ही द्वारा मनुष्य अगम लोक के ऊपर तक पहुँच सकता है।

राधास्वामी सम्प्रदाय में गुरु की बडी महिमा है। इनका सत्संग एकान्त में बन्द कमरे मे होता है। वहाँ गुरु उच्च सिंहासन पर विराजमान होता है। साधको को उनके मुँह की ओर देखते रहना चाहिए। ऐसा करने से चित्त एकाग्र होता है। गुरु के शुद्ध भाव अपने में आते हैं। जिन वस्तुओं से गुरु का सम्पर्क हो, वे अत्यत पवित्र समझी जाती हैं। जैसे गुरु का उच्छिष्ट भोजन, उच्छिष्ट जल, उनके पैरों का धोवन, उनके पहने हुए वस्त्र। जो वस्तु गुरु के समीप रहती है वह भी अत्यत पवित्र होजाती है। सारांश यह है कि गुरु को ही इस सम्प्रदाय वाले ईश्वर तुल्य पूजते है।

संक्षेप में राधास्वामी सम्प्रदाय वाले योग और भक्ति को मिश्रित रूप से परमात्म-प्राप्ति का साधन मानते हैं। इनके यहाँ भजन, कीर्तन भी होता है, किन्तु वह एकान्त ही में। सर्व-साधारण में व्याख्यान देना, अपने मत का प्रचार करना ये अच्छा नही समझते। इनके सत्संग मे हर कोई नही जासकता। यदि कोई मुमुक्षु सत्संग में जाना चाहे, तो उसे पहले आज्ञा लेनी होगी। इनके यहाँ स्त्री पुरुषों में किसी प्रकार का भेद-भाव नही। सत्सग मे स्त्री पुरुष सभी सम्मिलित हो सकते हैं।

उपसंहार

"राधास्वामी बाग" मे श्रीराधास्वामीजी १७ वर्ष तक निरन्तर सत्संग कराते रहे। इनके सत्सग में बहुत से आदमी आने लगे। इनमे हिन्दुओं ही की संख्या अधिक थी। कुछ ईसाई, मुसलमान तथा अन्य धर्मावलम्बी लोग भी इनके सत्संग मे सम्मिलित होते थे। बहुत से साधु लोग भी आकर इनके पास अभ्यास करने लगे। साधुओं के भोजन-वस्त्रों का प्रबन्ध सत्संग की ओर से किया गया। इस प्रकार थोड़े ही दिन में सत्संगियों की संख्या कई हज़ार होगई। सम्वत् १९३५ वि० (सन् १८७८ ई०) में श्री राधास्वामीजी ६० वर्ष की अवस्था में इस संसार से चल बसे। इनके पश्चात् रायसालिग-रामजी आचार्य्य के पद पर आरूढ़ हुए। इनके ज़माने में राधा-स्वामी सम्प्रदाय की बहुत अधिक उन्नति हुई। इनका जन्म

सम्वत् १८८५ वि० मे आगरे में हुआ। ये जाति के कायस्थ थे। कार्य्य करने की शक्ति इनमे यथेष्ठ थी । राधास्वामीजी के समय में सत्संग का प्रचार आगरे ही में हुआ था। इनके समय में देश के प्रत्येक प्रान्त में राधास्वामी सम्प्रदाय का नाम पहुँच गया और स्थान स्थान पर सत्संग-भवन भी स्थापित हुए। |राधास्वामीजी को राधास्वामी सम्प्रदाय के सत्संगी "स्वामी जी महाराज" कहते थे और राय साहब को "हुजूर महाराज" कहने लगे। २० वर्ष तक ये सत्संग करते रहे। इनका देहान्त सम्वत् १९५५ में हुआ। इसके अनन्तर पं० ब्रह्मशंकर मिश्र एम० ए० सत्संग के आचार्य्य हुए। इनका जन्म सम्वत् १९१८ में काशी जी में हुआ। ये सरकार की ओर से प्रधान न्यायाधीश थे। चिरकाल तक प्रयाग में ये सबजज रहे। इनका नाम हुआ "महाराज साहिब।" ये ६ वर्ष तक सत्संग कराते रहे । सम्वत् १९६४ मे काशीजी में इनका देहान्त हुआ। इनकी मृत्यु के पश्चात् फिर कोई सर्वसम्मत आचार्य्य नहीं हुआ। आजकल ३-४ मनुष्य अपने को उस पद का अधिकारी बताते हैं। और उनके अनुयायी भी पृथक् पृथक् हो गये है।

"स्वामीजी महाराज" की समाधि "स्वामी बाग़" आगरे में बनी हुई है। "हुजूर महाराज" की समाधि आगरे के पीपल मंडी मुहल्ले में है और "महाराज साहब" की कबीरचौरा काशी में है। राधास्वामीजी ने अपने हाथ से कोई ग्रन्थ नहीं बनाया।

वे जो उपदेश करते थे, उन्हें उनके शिष्य लिखते जाते थे और कभी कभी कोई पद कहते थे तो उसेभी लिख लेते थे। इस प्रकार उपदेशों का संग्रह तो "राधास्वामी सारवचन-गद्य" के नाम से प्रसिद्ध है और पदों का संग्रह "राधास्वामी सार-वचन-पद्य" के नाम से। ये दोनों पुस्तकें हिन्दी भाषा में हैं। इसके अनन्तर रायसालिगरामजी, ब्रह्मशंकरजी आदि ने इस मत की बहुत सी पुस्तकें हिन्दी और अँगरेजी मे लिखी है।



ब्रह्मानन्द केशवचन्द्रसेन

लीलामय की इस लीला-स्थली में भाँति भाँति की नित्य नूतन लीलायें होती रहती है। इस जगत् रूपी रंगभूमि को उसीने निर्माण किया है और वही अनन्त वेश धारण करके इसमे आ-आकर विचित्र प्रकार के अद्भुत अद्भुत खेल खेलता रहता है। कभी वह दयामय बनकर दया का खेल खेलने लगता है, कभी प्रेम बन कर प्रेम-पीयूष को वर्षा करने लगता है, कभी सुधारक बन कर सुधारक का स्वाँग रचने लगता है, कभी राजनैतिक बन कर स्वराज्य और स्वतन्त्रता के गीत गाने लगता है, कभी धार्मिक बन कर जगत् मे धर्म्म की दुंदुभी बजाता फिरता है, कभी भक्त बन कर कीर्तन और भजन की धूम मचा डालता है, कहाँ तक गिनावें, उस बहुरूपिये के रूपो की गणना करना असम्भव है। वह सदा गिरगिट की भाँति रूप बदलता रहता है। अभी एक काम को धर्म्म बतावेगा, दूसरे रूप मे उसे ही अधर्म्म कह कर उसका खंडन करने लगेगा। ऐसे छलिया का भला कोई भेद जान सकता है? उन भेद और प्रकारो की कोई गणना कर सकता है? हम पामर जीवों की बात तो अलग रही, वह स्वयं ही अपनी सम्पूर्ण विभूतियों की गणना करने मे असमर्थ है।

युद्ध-क्षेत्र मे अर्जुन को अपनी दस बीस विभूतियाँ गिनाईं, अन्त में आपने फिर वही गोल-माल बात कह दी—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेववा।
तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोंऽश सम्भवम्॥

इतनी बात बताकर आप फिर और भी अधिक संक्षेप में इस नाटक और नाट्यशाला का यथार्थ रूप बताते है—

अथवा बहुनैतेन कि ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

सब बखेड़ा ही दूर हुआ। सभी जगत् उसके एक ही अश से उत्पन्न हुआ है। तीन अंश तो कोरे बचे हुए हैं। उसकी मौज होती है तो उन तीनों को भी लेकर वह कभी इस अवनि पर आता है और मन मानी बशी बजाकर प्रेम का जाल फैलाता है। जब मौज में आती है तब उसे समेट लेता है, कोई हटका-बरजा तो है ही नही। 'परम स्वतन्त्र न सिर पर कोई, भावे मनहिँ करहु तुम सोई'। कभी कभी वह किसी को अपनी विशेष विभूति देकर इस धरा-धाम पर भेजता है। उस विभूतिवान् पुरुष के अनन्य भक्त उसे ईश्वर ही कहते और सर्व-साधारण लोग उसे महापुरुष के नाम से पुकारते है।

महापुरुष इस जगत् को सुखमय बनाने अथवा बताने के हेतु आते है। महापुरुष सर्वदा समाज मे क्रान्ति उत्पन्न करते है। वे समाज को अपने अनुरूप बना लेते है। जिनमें इतनी अधिक सामर्थ्य नही होती वे अपना एक अलग ही समाज

संगठित कर लेते हैं। उनको भी हम महापुरुष ही कहेंगे, किन्तु उनका दर्जा दूसरा है। ब्रह्मानन्द केशवचन्द्रसेन इन्हीं महापुरुषों में से एक महापुरुष हो चुके है।

वंश-परिचय और जन्म

इनका जन्म भारतवर्ष की विशाल नगरी कलकत्ते के कोलू-टोला नामक मुहल्ले में हुआ था। इनके पितामह दीवान रामकमलसेन एक विद्वान्, सुधारक और समाज-प्रतिष्ठित पुरुष थे। बंगाल में जब पहले ही पहल पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार हुआ तब उसके फल स्वरूप कुछ विद्या-प्रेमी महापुरुषो का प्रादुर्भाव हुआ। उनमे राजा राममोहनराय, राजा राधाकान्तदेव और रामकमलसेन के नाम विशेष-रूपेण उललेखनीय हैं। इन विद्या-प्रेमी महापुरुषों के द्वारा बंगाल मे शिक्षा का बहुत अधिक प्रचार हुआ।

केशवचन्द्रसेन का जन्म कलकत्ते के प्रसिद्ध वैद्य-वंश में हुआ। इनका वंश बगाल में बहुत प्रतिष्ठित समझा जाता है। इनका जन्म सन् १८३७ के लगभग हुआ। इनके पिता का नाम प्यारीमोहनसेन था और पितामह का नाम गोकुलचन्द्र सेन और माता का नाम शारदासुन्दरी देवी था। ये परम वैष्णव थे। केशवचन्द्र तीन भाई थे। ये मध्यम थे। इनके बड़े भाई का नाम नवीनचन्द्र और छोटे का नाम कृष्ण-विहारा था।

केशवचन्द्रसेन प्रतिष्ठित वंश में पैदा हुए थे, इनके पिता अमीर आदमी थे। पाश्चात्य शिक्षा का इनके परिवार में पहले से ही प्रवेश होचुका था, अतः यह आवश्यक ही था कि इन्हें अँगरेज़ी की शिक्षा दिलाई जाय।

बाल्यकाल

इन्होंने अपनी प्रखर प्रतिभा और होनहारपने का परिचय पाठशाला में प्रवेश करते ही दिया। पढ़ने लिखने में ये बड़े तेज़ थे। भाषण करने की शक्ति इनमें पहले ही से अद्भुत थी। ये अपने साथियों पर सदा प्यार करते थे। इनमें बाल्यकाल से ही यह एक बड़ा भारी गुण था कि जिससे इनका एक बार भी परिचय हो जाता वह फिर सदा के लिए इनका क्रीत दास बन जाता था। दूसरों को अपनी ओर आकर्षित करने की इनमें विचित्र शक्ति थी। ये अपने साथियों से सदा आत्मीयता का बर्ताव करते और वे भी सदा इनके ऊपर प्राण तक निछावर करने को तैयार रहते थे।

जिन दिनो केशवचन्द्रजी का जन्म हुआ, उन दिनो बंगाल में ब्रह्म-समाज का अच्छा प्रचार था। पाश्चात्य शिक्षा के विषैले प्रभाव से उस समय के युवकों मे ईसाइयत का भूत बुरी तरह से सवार था। जो भी अँगरेज़ी पढ़ लेता वह झट से ईसाई हो जाता था। इस अनाचार को कम करने की ही नियत से राजा राममोहनरायजी

धर्म्म-प्रेम और धर्म्म-प्रचारार्थ भ्रमण

ने 'ब्रह्म-समाज' की स्थापना की। ब्रह्मसमाज की स्थापना होने के कारण अब अँगरेज़ी पढे-लिखे युवक बहुत कम ईसाई होने लगे। कारण कि ईसाई होकर वे जो स्वतन्त्रता चाहते थे, करीव क़रीब वे ही सब बातें 'ब्रह्म-समाज' में भी मिलने लगी तब फिर वे ईसाई क्यों हो? परन्तु उस समय का 'ब्रह्म-समाज' पूर्णरीत्या पश्चिमी प्रभाव में नही बह गया था। राजा राममोहन-रायजी के पश्चात् महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर 'ब्रह्म-समाज' के आचार्य और प्रधान नेता हुए। वे बड़े विचारशील, अनुभवी विद्वान् और तपोनिष्ठ पुरुष थे। वे भारतवर्ष मे फिर से ऋषियो के समय को लाना चाहते थे। उस समय 'ब्रह्म-समाज' का प्रचार कलकत्ते से बाहर बहुत ही थोडा हुआ था। उस समय तक 'ब्रह्म-समाज' पूर्णरीत्या सुधारक हिन्दू-समाज बना हुआ था। आचार्य की वेदी पर ब्राह्मण ही बैठ सकता था। उपनिषद् और गीता को भी वे सब मानते थे। सभी यज्ञोपवीत धारण करते थे, और घर मे श्राद्धादि सभी हिन्दू पद्धतियों का प्रचार था।

केशवचन्द्रसेनजी की रुचि पहले से ही 'ब्रह्म-समाज' की ओर थी। विद्यार्थी दशा में वे बहुधा 'ब्रह्म समाज'-मन्दिर में जाया करते थे और वहाँ के उपदेशो को बड़े चाव से सुना करते थे। इन्होंने केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी से बी-ए०, बी० टी० की उपाधि प्राप्त की। अध्ययन समाप्त करते ही ये पूर्णरीत्या ब्रह्म-समाज में प्रविष्ट होगये। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर इनकी अलौ-

किक प्रतिभा से पहले से ही परिचित थे, उन्हें यह जानने मे देर नहीं लगी कि इनके द्वारा 'ब्रह्मसमाज' का बहुत बड़ा उपकार होगा। इसीलिए उन्होंने इन्हें "ब्रह्मसमाज" का उपाचार्य बना दिया।

हम यह पहले ही बता चुके हैं कि पहले 'ब्रह्मसमाज' हिन्दू-समाज का एक रूपान्तर मात्र था। केशवचन्द्रजी ने उसमे प्रवेश करते ही उसकी कायापलट कर दी। उन्होने ब्रह्मसमाजियो से यज्ञोपवीत उतरवा कर फिकवा दिये, असवर्ण विवाह और विधवा-विवाह जारी करा दिया। महर्षि देवेन्द्रनाथजी यद्यपि इन बातो से सहमत नहीं थे, तथापि उन्होंने इसमें कुछ आपत्ति न की। इसी बीच में केशवचन्द्रसेन ने बंबई, मद्रास, पूना तथा बगाल के सभी बड़े बड़े शहरों में घूम घूम कर ब्रह्मसमाज का प्रचार किया।

महर्षि देवेन्द्रनाथजी और केशवचन्द्रसेनजी के विचारो मे बहुत अधिक भिन्नता थी, अतः बहुत सी बातों में इन दोनो मे मतभेद बना रहता था। यह मतभेद अन्त मे यहाँ तक बढ़ा कि केशवचन्द्रसेनजी ने अपनी एक "भारतवर्षीय ब्रह्मसमाज" के नाम से अलग ही समाज बनाली। ये प्रतिभाशाली स्वतन्त्र प्रकृति के धैर्य्यवान्, दृढ़ निष्ठ, स्वावलम्बी और आत्मविश्वासी पुरुष थे। अलग समाज बनाते ही इन्हे बहुत से योग्य कार्य्यकर्ता मिल गये। जिनमे विजयकृष्ण गोस्वामी, प्रतापचन्द्र मजूमदार, अघोरनाथ गुप्त, अमृतलाल वसु, उमानाथ गुप्त,

और गोविन्दराय और त्रैलोक्यनाथ सान्याल का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इधर महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी समाज का नाम 'आदि ब्रह्मसमाज' रख लिया। इस प्रकार ये दो बिलकुल अलग अलग समाजे बन गईं। केशवचन्द्रजी के अनुयायियों ने उनसे 'भारतवर्षीय ब्रह्म समाज' का प्रधान बनने के लिए कहा, किन्तु उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि इस समाज के प्रधान तो परमपिता परमात्मा हैं, इसका प्रधान कोई भी मनुष्य नही बन सकता, यह कह कर वे उसके मन्त्री बन गये।

केशवचन्द्रजी और उनके साथियों ने जिस लगन, तत्परता और दृढ़ता से भारतवर्ष मे घूम घूम कर ब्रह्मसमाज का प्रचार किया उसका वर्णन न तो इस छोटे से निबन्ध मे हो ही सकता है, और न उसका वर्णन करना हमारा अभीष्ट ही है, किन्तु हाँ, इतना अवश्य कहेंगे कि उन्होंने जैसी सच्ची लगन, और निस्वार्थभाव से काम किया वह आदर्श और अनुकरणीय है।

सन् १८६६ में केशवचन्द्रजी ने ईसामसीह के ऊपर एक बहुत ही सुन्दर वक्तृता दी। उससे चारो ओर इनका बड़ा नाम हुआ। ईसाई लोग समझने लगे कि केशवचन्द्रसेन शीघ्र ही ईसाई बन जायँगे। पुराने विचार के हिन्दू कहने लगे, ये तो बिलकुल ईसाई होगये। आदि ब्रह्मसमाजियो ने कहा—"अच्छा हुआ, ये छोकड़े हमसे अलग हो गये, नही तो हमें भी बदनाम करते।" इस वक्तृता के ऊपर बड़ी बड़ी टीका-टिप्पणियाँ

हुईं। वायसराय ने इसी वक्तृता को पढ़कर केशवचन्द्रसेनजी को लिखा कि हम तुमसे मिलना चाहते हैं। ये शिमले जाकर उनसे मिले और वाइसराय ने इनका राजा-महाराजाओं से भी बढ़ कर सम्मान किया।

अब तो इनके समाज की ख़ूब उन्नति हुई। सैकड़ों ग्रेजुएट आ आ कर 'ब्रह्मसमाज' में भर्ती होने लगे। वे भूखे रह रह कर समाज की सेवा करते थे। कोई उपदेशक का काम करता, कोई अख़बार निकालता, कोई घूम-घूम कर अख़बार बेचता था। सारांश कि सभी नवीन जोश और स्फूर्त्ति के साथ बिना किसी स्वार्थ के काम करते। केशवचन्द्रसेन जहाँ भी जाते, वहीं इनका धूम-धाम से स्वागत होता और लोग इनके व्याख्यानों को बड़े चाव से सुनते। ये विलायत भी गये। इङ्गलैंड और स्काट्-लैंड के मुख्य मुख्य नगरों मे इनका अपूर्व स्वागत हुआ। वहाँ की जनता पर इनके व्याख्यानो का बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा। ८,९ महीने प्रचार करके ये लौट कर फिर भारतवर्ष आ गये और अन्त तक यहाँ लोकोपकार सम्बन्धी कार्य्य करते रहे।

पारिवारिक जीवन

केशवचन्द्रसेन एक धनिक वंश मे उत्पन्न हुए थे, अतः इनका ठाठ-बाट सब रईसी ही था। किन्तु ये बहुत ही सादी पोशाक से रहते थे। इनकी स्त्री इन्हीं की भाँति धार्मिक थीं। ये उनसे भी साथ ही साथ उपासना कराते थे। इनके घर में स्त्रियो

की एक सभा होतीथी। उसमें इनकी पत्नी सभानेत्री का आसन सुशोभित करती थी। इनके १० सन्ताने थी, ५ पुत्र और ५ पुत्री। सबसे बड़ी लड़की का विवाह कूँचविहार के महाराजकुमार के साथ हुआ। यह विवाह केशवचन्द्रसेनजी के सिद्धान्तो के प्रतिकूल था, किन्तु वे अपनी कमज़ोरी के कारण इस लोभ को संवरण न कर सके। इसके कारण इनकी प्रतिष्ठा बहुत कुछ घट गई। इनके बहुत से साथी इनसे अलग होगये। अन्त में इन्हें भी इस विवाह के कारण बहुत सा आन्तरिक कष्ट उठाना पड़ा और इसी कारण अन्त तक सदा अस्वस्थ बने रहे। इनसे मिलने के लिए सदा बड़े बडे रईस, राजे महाराजे, गवर्नर तथा वाइसराय तक आते थे, इसीलिए इन्होने अपना पैतृक मकान छोड़ कर सरक्यूलर-रोड पर एक बहुत बडी कोठी ख़रीदली थी। उसका नाम इन्होंने 'कमल कुटी' रक्खा था। उसीमे ये अपने परिवार के साथ रहते थे। उसके आस-पास और भी बहुत से ब्राह्म-परिवारो को इन्होने बसा लिया था। ये सब मिलकर एक साथ ही उपासना, प्रार्थना और सत्संग करते थे।

केशवचन्द्रजी अन्त तक गृहस्थ मे ही रहे। इतने बड़े परिवार मे रह कर भी वे एक आदर्श त्याग-वैराग्य और तप त्यागी कहे जा सकते है। वे अपने परिवार को भी आदर्श ही बनाना चाहते थे। इसीलिए विशेष रीति से उसकी देख-भाल करते थे। इतना सब

वैभव होते हुए भी वे बहुत से निजी काम अपने हाथों से ही करते थे। छोटे से लेकर बड़े तक से ये बड़े ही प्रेम और स्नेह के साथ मिलते थे। ये कीर्त्तन मे सदा नंगे पाँवों जाते थे। दो साल तक इन्होंने घर में रह कर भी अपना भोजन अपने ही हाथो बनाया। घर मे स्त्री, बच्चों को बीमार छोड कर भी वे प्रचार के लिए चल देते थे। जो रुपया, पैसा आता उसे तनिक देर मे ख़र्च कर देते थे। इन्होंने कभी पैसे से मोह नही किया। त्याग की यही एक जबरदस्त पहचान है। जिसे आगे की चिन्ता है, जो पैसे का मोह करता है, वह यदि अपने को त्यागी बतावे तो वह ढोंग करता है। केशवचन्द्र जी ने कभी भी आगे की चिन्ता नही की। कभी कभी उन्हें स्वय आर्थिक कष्ट उठाना पड़ा था, किन्तु ये कभी विचलित नही हुए।

इनके वैराग्य का तो कहना ही क्या है। घर मे रहते हुए भी इन्होंने साधु-जीवन ही व्यतीत नही किया, किन्तु साधुओं का सा वेश भी धारण किया। एक बार इन्होंने साधुओं को भाँति मूँड़ मुड़ा लिया। गेरुए वस्त्र धारण किये और साधुओं के जैसा दंड भी धारण किया। ऐसी दशा मे ये बहुत दिन तक रहे। उन दिनो ये अपने साथियो के यहाँ से भिक्षा माँग कर ही भोजन करते थे।

समाज की निःस्वार्थ भाव से सदा सेवा मे ही लगे रहने को ये तपस्या कहते थे, और इसे ये आजन्म करते रहे।

इन्होंने अपने विपक्षियों की कभी परवाह नहीं की। ये अपनी धुन के ऐसे पक्के थे कि जिस काम को ये सत्य समझते थे उसे करके ही छोड़ते थे।

अलौकिकता

ब्रह्मसमाज यद्यपि अवतारवाद, मूर्तिपूजा तथा गुरुआई को नहीं मानता, तो भी जो प्रभावशाली व्यक्ति है, उनका उन के समाज में ईश्वर के ही तुल्य आदर होता है। केशवचन्द्रसेन को भी उनके भक्त ईश्वर के ही तुल्य मानते थे। उन्हें गुरु के ही तुल्य साष्टाङ्ग प्रणाम करते थे, सदा उनकी बात को वेद-वाक्य समझते थे। कोई कोई तो उन्हें ईश्वर का छोटा पुत्र ही कहने लगे थे। किन्तु केशवचन्द्रसेन सदा इसका विरोध ही करते रहे।

लौकिक विचार

केशवचन्द्रसेन समाज मे प्रेम और भ्रातृ-भाव फैलाने के पक्षपाती थे, वे सम्पूर्ण विश्व को परिवार मानकर उसमें बर्ताव करना चाहते थे। उन्होंने इसी उद्देश्य से "भारत-आश्रम" नाम की एक संस्था की स्थापना की थी। उसमें उन्होंने कहा था—सभी ब्राह्म भक्त आकर सपरिवार इसमें निवास करें और आपस में पारिवारिक बर्ताव करें। २७ परिवार उसमें आकर रहे भी। वे साथ ही साथ रहते और सब मिलकर ही प्रार्थना और उपासना करते थे। इससे लोगों को बहुत लाभ हुआ, किन्तु

वह रुचि-वैचित्र्य के कारण चल नहीं सका। अन्त में केशवचन्द्रजी ने उसे तोड़ दिया।

वे जाति-भेद नहीं मानते थे। सभी मनुष्यों को वे प्रभु-पुत्र समझते थे। इसीलिए विवाह-शादी, खान-पान में जाति बिरादरी के बन्धनों को वे स्वीकार नहीं करते थे। उन्होंने असवर्ण विवाह समाज मे प्रचलित कराये, इसके लिए सरकार से उन्होंने "ब्राह्म विवाह-क़ानून" पास कराया। इस क़ानून के अनुसार किसी जाति का मनुष्य किसी भी जाति की कन्या के साथ विवाह कर सकता है। वह विवाह अवैध न समझा जायगा, किन्तु उन्हें रजिष्ट्रार के यहाँ जाकर विवाह की रजिष्ट्री करानी होगी और कहना होगा कि हम हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैन कोई भी नहीं है। लड़की की अवस्था १४वर्ष से कम न हो।

वे विधवा-विवाह के पक्षपाती थे। बच्चों की शिक्षा-दीक्षा के लिए उन्होंने बड़ा भारी उद्योग किया। वे शिल्पकला को भी आवश्यक समझते थे, इसीलिए उन्होंने एक शिल्प-विद्यालय की स्थापना की। संक्षेप में वे समाज को हिन्दू ईसाई बनाना चाहते थे।

केशवचन्द्रसेन के पारमार्थिक विचार और उपदेश

किसी पुस्तक विशेष को ईश्वर-कृत नहीं मानते थे। वे परमात्मा के अनन्य भक्त थे। भक्ति ही उनके जीवन का सौन्दर्य्य था। वे किसी एक महापुरुष को अपना आदर्श भी नहीं बनाना चाहते थे। वे कहते थे—"मैं

किसी एक पुस्तक को क्यों अभ्रान्त मानूँगा ? क्यो एक मनुष्य का अवलम्बन करूँगा ? महामान्य ईशा बड़े हो, श्रीगौराङ्ग मे भी यथेष्ठ भक्ति रखता हूँ, किन्तु उन्हें जीवन का आदर्श नहीं बनाता।... मै बाइबिल ,कुरान को प्यार करके ईश्वर का अपमान नहीं करूँगा। ईश्वर के पास ही मै रहूँगा।"

केशव बाबू एकेश्वरवादी थे। वे सर्वशक्तिमान् प्रभु को छोड़कर और किसी देवी देवता के पूजक नही थे। वे मूर्ति-पूजा के विरोधी थे। वे परमात्मा को प्राप्त करने का, भक्ति-पूर्वक निष्पाप और निस्पृह होकर जीवन बिताना और पर-मात्मा के प्रेम मे सदा उन्मत्त रहना, यही उपाय बताते थे। प्राचोन ऋषियो में बुद्ध, शंकर, ईशा, मूसा, गौराङ्ग आदि महा-पुरुषो को वे ईश्वर का अंश अवश्य मानते थे। संक्षेप में उनका सिद्धान्त एकेश्वरवाद और प्रभु-प्राप्ति का साधन अनन्य भाव से भगवान् की भक्ति करना ही था।

उपसंहार

केशवचन्द्रसेन कोरे समाज-सुधारक ही होते तो हमे इस स्थान में उन्हें स्मरण करने की आवश्यकता न पड़ती, किन्तु योग्य सुधारक होने के साथ ही वे भगवान् के परम भक्त भी थे। इसीलिए हमें उन्हें यहाँ स्मरण करना पड़ा। यह ठीक है कि उन्होंने अपना कार्य्य समाज-सुधार से ही आरम्भ किया। पहले उनकी भक्ति अव्यक्त रूप से थो। प्रभु के पुत्रों की 'सेवा

करने से, स्थान स्थान में घूमने और अनेक प्रकार के कष्ट सहने के कारण धीरे धीरे इनकी भक्ति अव्यक्त रूप से व्यक्त होने लगी। इन्होने स्वयं लिखा है – "इस जीवन मे पहले भक्ति नहीं थी, प्रेम के भाव भी अधिक नहीं थे, और अनुराग भी थोड़ा था। लेकिन विश्वास था, विवेक था और वैराग्य था। इन तीनों शब्दों का पहला अक्षर "व" है, इसलिए इनका स्मरण रखना सरल है। इन तीनो को ही लेकर मैंने कर्म-क्षेत्र में विचरण करना प्रारम्भ किया। ये तीनो गुण अत्यंत लाभदायक और अत्युत्तम हैं। लेकिन ये तीनो शुष्क वस्तु हैं। तो फिर इस प्रकार का "शुष्क जीवन" भक्ति के जल से किस प्रकार प्लावित हुआ? · · ईश्वर की कृपा से अत में मेरे हृदय में भक्ति क सचार हुआ। क्रम से बढते बढते इस भक्ति ने प्रमत्तता का रूप धारण कर लिया।" इससे प्रतीत होता है कि समाज-सेवा करने से ज्यों ज्यों इनकी आत्मशुद्धि होने लगी, त्यों त्यों भक्ति भी धीरे धीरे व्यक्त होने लगी। पहले ये कीर्त्तन के पक्षपाती न थे, किन्तु जैसे जैसे ये गौराङ्ग महाप्रभु के चरित्रों का अध्ययन करने लगे तैसे तैसे इनका रुख भक्ति मार्ग की ओर होने लगा। पहले पहल इन्होंने वैष्णवों के से भजन अपने समाज मे प्रचलित किये। फिर धीरे धीरे ये भी उनके साथ में गाने लगे। पहले ये ज़ोर ज़ोर से गाने में लजाते थे, परन्तु ज्यों-ज्यों हृदय मे भक्ति का उद्रेक बढ़ता गया, त्यो त्यों इनकी लज्जा भी छूटती गई। फिर तो ये खुल्लमखुल्ला कीर्त्तन करने

लगे। ये अपने हाथ से कीर्त्तन का ढोल बजाते, खूब ज़ोर जोर से जयध्वनि करते, नाचते, गाते और सड़कों पर घूम घूम कर शहर भर मे बड़ी धूम धाम के साथ कीर्त्तन करते थे।

कूचविहारवाले विवाह के कारण इन्हे "भारतवर्षीय ब्रह्म-समाज" से अलग होना पड़ा। अतः इन्होंने अपना एक और भी नया समाज बनाया। उसका इन्होंने नाम रक्खा "नव विधान"। उसमें भी ये उसी प्रकार भक्ति-भाव के साथ उपदेश करते थे। अंत में इनके भाषण में बड़ी करुणा और भक्ति आगई थी। दैवयोग से इनका साक्षात् परमहंस रामकृष्णदेवजी से होगया। धीरे धीरे दोनों ही महापुरुषों मे आपस मे खूब प्रेम होगया। पहले ही पहल केशव बाबू ने ही परमहंसदेव की भक्ति करनी आरम्भ की। इन्होंने ही समाचारपत्रों मे उनके सम्बन्ध मे कुछ लेख भी लिखे। तभी से 'नरेन्द्र' (स्वामी विवेकानंद), राखाल, लाटू, एम० आदि भक्त आने जाने लगे। जो अपने गुरुदेव के ब्राह्मी भाव प्राप्त होने के अनन्तर सब के सब संन्यासी होगये। इस प्रकार प्रकट रूप में परमहंस देवजी की प्रसिद्धि के सबसे प्रथम कारण केशव बाबू ही हुए।

इधर केशव बाबू पर भी परमहंस देवजी की संगति का बहुत प्रभाव पड़ा। इनके पहले विचारों मे बहुत अधिक परिवर्त्तन होगया। ये भगवान् को "माता" के नाम से सम्बोधित करने लगे। एक दिन इन्होंने गंगाजी के गुणानुवाद गाते हुए

उनकी प्रार्थना की—"गंगा माता ! हम लोग तुझे नहीं भूल सकते। हम सब तेरे ऋणी हैं। गंगामाता ! तू बोलती नहीं है, लेकिन तू उन लोगो से, जो तेरे भक्त हैं, बोलती है।" जो पहले मूर्ति-पूजा का विरोधी था, उसीके ये शब्द हैं।

कूचविहार के मामले से इन्हें हार्दिक दुःख हुआ और उसी-के कारण ये बीमार हो गये। फिर बहुत प्रयत्न करने पर भी इनका स्वास्थ्य पूर्णरीत्या नही सुधरा। अस्वस्थता की दशा मे भी ये बराबर अपने समाज का काम करते रहे। बीमारी की दशा में ही इन्होने "नवविधान सहिता" और "योग" नामक पुस्तकें लिखी। अन्त मे बीमारी ने विकट रूप धारण कर लिया। बीमारी की दशा मे परमहसदेव इनसे मिलने आते थे। ये बड़े प्रेम से उनके चरण स्पर्श करते थे। उस समय इनकी दशा एक परम उच्च भक्त की सी हो गई थी। सदा 'माता" "जननी" "जय सच्चिदानन्द" यही धुन लगाये रहते थे। एक दिन महर्षि देवेन्द्रनाथजी इनसे बीमारी की दशा में मिलने आये थे, तब इन्होने उनसे कहा था—"रोग के कष्ट के समय परम-जननी जितनी निकट दीख पडती है, उतनी निकट वह स्वस्थता के समय नही दीख पड़ती"। इससे इनकी दशा का अनुमान लगाया जा सकता है। ये अपने आप ही माता से बहुत देर तक बातें करते रहते थे। अन्त मे इनकी बीमारी बहुत बढ़ गई। कष्ट बहुत अधिक होने लगा। परन्तु ये सदा प्रसन्न बदन ही दीख पड़ते थे। एक दिन इन्होने अपनी माता की गोदी मे सिर

रखकर कहा—"अरे मा ! क्या मेरी पीड़ा किसी तरह दूर नहीं हो सकती ?" इनकी माता ने आँखों में आँसू भरकर बडी करुणा के साथ कहा—"बेटा ! यह पीड़ा मेरे पापों का परिणाम है। मुझ अभागिन के अधर्म से मेरा परम धार्मिक पुत्र कष्ट पाता है।" इसपर केशव बाबू ने बडी करुणा के साथ कष्ट से कहा—"अरे मा ! ऐसा मत कह। प्यारी मा ! ऐसा मत कह। क्या तरे समान योग्य कोई दूसरी मा भी हो सकती है ? मुझमे जो थोड़ी बहुत धार्मिकता है, सो क्या तेरे ही कारण नही है ? अरी मा ! तू समझ ले कि जगज्जननी मेरी भलाई के लिए ही ये कष्ट मुझे दे रही है।" इस प्रकार अन्त में अपनी माता को आश्वासन देकर ८ जनवरी सन् १८८४ ई० को वे महापुरुष अपनी वृद्ध माता को बिलखती छोड़कर, अपनी प्राणप्यारी भार्या को विधवा बना कर, अपने प्रिय पुत्रों और पुत्रियो को रोते छोड कर सदा के लिए इस धराधाम से, जहाँ से आये थे, वही चले गये।

केशव बाबू ने पचासों सस्थाये खोली। बहुत से अखबार निकलवाये, सैकड़ों व्याख्यान दिये। इन बातो से हमें यहाँ विशेष मतलब नहीं। हम यद्यपि उनके बहुत से कार्यों को अच्छा नही समझते, किन्तु उनके हृदय में जो अस्वाभाविक भक्ति थी, हम उसीके क़ायल है। अहा ! इतना बडा अमीर, जिसकी राजे-महाराजे, गवर्नर और वाइसराय तक इज़्ज़त करें, वह नंगे पैरों गले में ढोल लटकाये गली गली कीर्त्तन करता फिरे ! धन्य है

उनकी भक्ति को और धन्य है उनके ऐसे प्रभु-प्रेम को ! हम पामर प्राणी तनिक सी प्रतिष्ठा पाकर प्रभु की पूजा करना भूल जाते हैं और उस प्रतिष्ठा को क़ायम रखने के लिए नाना प्रकार के आडम्बर रचते हैं, किन्तु बाहरे केशव बाबू, तेरी इतनी ज़बरदस्त निष्ठा ! तभी तो तेरे भक्तों पर अंध भक्त होने का लाञ्छन लगाया जाता था। ऐसे व्यक्ति के भी यदि अन्ध भक्त न बनें तो फिर किसके भक्त बन सकते हैं।

केशवबाबू की लिखी हुई बहुत सी पुस्तकें हैं। उन सब में "जीवन-वेद" ही बहुत अधिक मार्मिक है। ब्रह्म-समाज मे इस पुस्तक की प्रतिष्ठा भी बहुत अधिक है। इस पुस्तक को केशवबाबू ने अपनी मृत्यु के दो वर्ष पूर्व ही लिखा था। इसमें उन्होने अपने जीवन का सच्चा ख़ाका खींच दिया है। हृदय के अन्तस्थल के निकले हुए शब्द हैं। एक एक वाक्य प्रेम और करुणा से भरा हुआ है। गद्य में पद्य का सा मजा आता है। इन पंक्तियों के लेखक को इसके पाठ से बहुत अधिक शान्ति हुई। हम जीवन-वेद में से कही कही से कुछ उपदेश नमूने के तौर पर यहाँ उद्धृत करते है।

(१)

जीवन-वेद

हे प्राणेश्वर ! हे दयामय ! शास्त्रों को चारो तरफ खोजता फिरता हूँ, किन्तु शास्त्र आप ही हैं। अनेक वेदों को लिखा है

तुमने, किन्तु जीवन-वेद को जैसा तुमने लिखा ऐसा शास्त्र और कहाँ है ? जितना पढ़ता हूँ, उतना ज्ञानी होता हूँ। हे गुरु! जीवन-पुस्तक मे जिन समुदाय तत्त्वो को पढ़ाया, समझाया, वे सब अति आश्चर्य्यजनक तत्त्व है।

(२)

जीवनग्रन्थ

पृथ्वी मे ग्रन्थो की पूजा अत्यंत प्रबल है। ग्रन्थो का पराक्रम और महिमा वर्णन करने से समाप्त नहीं होतो, किन्तु जीवन रहते हुए ग्रन्था का गौरव नही होता। जोवन शेष होनेपर ग्रन्थ का आदर होता है। जितने दिन परमात्मा भक्त के जीवन मे जीवन-धर्म्म दिखावें वह उतने ही दिन ईश्वर रचित बाइबिल व क़ुरान मानकर आदर पावेगा। समझ देखो, पुराणादि शास्त्रो मे लोगों की श्रद्धा क्यो है ? इनमे भक्तो का जीवन लिखा हुआ है इसलिए।"

(३)

पाप-बोध

"मैं जो कुछ हूँ उसकी अपेक्षा यदि अपने को बडा मान लूँ, तब ही अहङ्कार का पाप हो गया। तुम लिखना पढ़ना कम जानते हो, मैं तुमसे ज़्यादा जानता हूँ, ऐसा मन मे होने से ही पाप है। मन के भीतर अपने को यदि अधिक प्यार करता हूँ,

दूसरे को कम, आत्मा के सुख की तरफ अधिक दृष्टि जाती है, तब ही स्वार्थ-परता के पाप से पापी हो गया।"

(४)

अग्नि-मन्त्र में दीक्षा

"माता ! जितनी देर तक आत्मा मे उत्ताप रहे उतनी देर तक हम तुम्हारे है। संसार यदि कुए के जल मे फैंक दे तो फिर उत्ताप नही रहता। धर्म-साधन नही कर सकता। शैत्य आकर नष्ट कर देता है। हे प्रेममय ! वाक्य मे, कार्य मे, चिन्ता में और भी तेज दीजिए; ताकि विना काल के ही शीतलता रूप मृत्यु के ग्रास मे न पड़ूँ।"

(५)

स्वाधीनता

"अधीनता की ज़ंजीर मे शरीर, मन को बद्ध होने देना नही पड़ेगा, दासत्व स्वीकार करना न पड़ेगा, किसी के भी पदतल में पड़ना नही पड़ेगा। गुरुजन के सामने आत्मविक्रय करना न पड़ेगा। पुस्तक विशेष के ग़ुलाम बन के वन्दना करनी न पड़ेगी। किसी सम्प्रदाय में पड कर दिवा-रात्रि उसही की यशोघोषणा नहीं करनी पड़ेगी। इस तरफ़ जैसी ये सब प्रतिज्ञा है, दूसरी तरफ़ की प्रतिज्ञाएँ भी वैसी ही हैं। अहङ्कार के अधीन न होना पड़ेगा। स्वेच्छाचार के अधीन नहीं होना

पड़ेगा। ईश्वर के निकट जो व्रत लेना चाहिए उसका भी परित्याग न करना पड़ेगा।"

(६)

त्रिविध भाव

पृथिवी का ज्ञानी होना नही चाहता। बालक बना कर रक्खो, वृद्ध कभी न होऊँ। माथे के बाल यदि पक जायँ तो हानि नही, आत्मा का वार्द्धक्य जिससे न होवे, दुहाई ठाकुर! बालक रहना पड़े सुखकर है। प्राणो के भीतर गोलमाल नहीं। शिशु की तरह उपासना के समय आसान बात कहूँगा। आँका बाँका नही चाहिए, कुटिल होने से सुख नहीं होगा। वृद्धों के विष को बालको में प्रवेश मत कर देना। तुम मा! हमें हाथ मे लेकर झुलाओगी, मुख चुम्बन करोगी, यही चाहता हूँ। ब्रह्म-मदिर की प्रार्थना सुनो, हमारे पास लाकर आदर करो। कृपामय! कृपा करके आशीर्वाद दो, चिरकाल बालक रहूँगा। पागल, मातात की प्रकृति लेकर वास करूँगा, जो कुछ वार्द्धक्य का सचय किया है, परित्याग करके, जिससे कि बालक बनूँ। दयामय! तुम्हारा धर्मरस पान करके ख़ूब उन्मत्त अवस्था का लाभ करूँगा। बालक की तरह, पागल की तरह नाचूँगा। नाचते नाचते स्वर्ग में प्रवेश करूँगा, यही आशा करके भक्ति के सहित तुम्हारे पादपद्मों मे बार बार नमस्कार करता हूँ।